तुलनात्मक दर्शन

प्रो० ए. के. राय
को
सादर सप्रेम
भेंट
19.02.05

सम्पादक

काली चरण पाण्डेय

अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग

शासकीय महाविद्यालय, धर्मशाला, हि.प्र.

विश्वविद्यालय प्रकाशन

सागर (म.प्र.)

तुलनात्मक दर्शन

अखिल भारतीय दर्शन परिषद
हेतु प्रकाशन

प्रथम संस्करण–2005

ISBN 81-88289-06-X

मूल्य–350/-

प्रकाशक :
विश्वविद्यालय प्रकाशन
गौर कॉम्प्लेक्स, परकोटा रोड, सागर-470 002 (म.प्र.)
फोन : 07582-243598

मुद्रक :
बुकमैन प्रिन्टर्स
दिल्ली-110092. फोन : 011-30945590, 9810367902

मेरे दार्शनिक जीवन

को

विशिष्ट दिशा प्रदान करने वाले

प्रो. दयाकृष्ण जी को

सादर समर्पित



तुलनात्मक दर्शन व्याख्यान माला के
पार्श्वपुरुष स्वमहिम्न प्रणवानन्द सरस्वती
जी को ग्रन्थ–पुष्पाञ्जलि

प्ररोचना

तुलनात्मक दर्शन अभी भी अपने स्वरूप-निर्धारण के संक्रमण की दशा से गुजर रहा है। इसकी विषय-वस्तु तकनीकि, पद्धति और उद्देश्य के बारे में विश्व भर के दार्शनिकों में विचार-विमर्श हो रहा है। दर्शन की इस विधा के बारे में विभिन्न शोधों के फलस्वरूप जो आधारभूत तथ्य उभरकर सामने आया है वह यह कि यह एक समन्वयात्मक दार्शनिक विमर्श है।

प्राच्य और पाश्चात्य दार्शनिक परम्पराओं के सिद्धान्तों, संप्रत्ययों और प्रणालियों की परस्पर समझदारी की आवश्यकता को, अब जबकि जीवन के विभिन्न स्तरों - आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक - की भिन्नताओं के बावजूद विश्व के विभिन्न देश और संस्कृतियाँ एक दूसरे वे ौर अधिक नजदीक आ रहे हैं, और अधिक शिद्दत के साथ अनुभव किया जाने लगा है। यही कारण है कि गत शताब्दी की शुरूआत से ही तुलनात्मक धर्म और तुलनात्मक दर्शन के क्षेत्र में अध्ययन को बल मिला। यद्यपि भारत में तुलनात्मक दर्शन के क्षेत्र में अग्रणी शोध करने वाले दार्शनिकों भूतपूर्व राष्ट्रपति सर्वपल्ली राधाकृष्णन् और प्रो. पी. टी. राजू के बाद यदा-कदा ही प्रयास हुए हैं।

प्राचीन भारतीय दार्शनिक परम्पराओं, विशेषकर बौद्ध दर्शन की विभिन्न परम्पराओं, की यह मान्यता रही है कि प्रत्येक दर्शन और धर्म अतुलनीय हैं। प्रत्येक प्रस्थान अपने में पूर्ण एवं विशिष्ट हैं। यदपि इनमें समता और भिन्नता के बिन्दुओं को खोजा जा सकता है परन्तु वे इस आधार पर तुलनात्मक विश्लेषण करके निष्कर्ष निकालने को तथ्यपरक नहीं मानते। इसलिए यह कहा जा सकता है कि तुलनात्मक दर्शन के अध्ययन एवं शोध पद्धति के विकास में पाश्चात्य दर्शन का ही विशेष योगदान है। फिर भी, यह पद्धति प्राचीन भारतीय धर्मनिष्ठ दर्शनों में कितनी लागू की जा सकती है, यह अभी भी शोध का विषय है।

आत्मवादी एवं अनात्मवादी दर्शनों की तुलना शब्द एवं शब्दार्थ के आधार पर भले ही सम्भव हो, परन्तु साक्षात् अनुभूति के आधार पर तुलना पण्डित और साधक दोनों के लिए सम्भव प्रतीत नहीं होती। इसी प्रकार, मोक्ष उन्मुख एवं भव उन्मुख दर्शनों में परस्पर तुलना करने का सामान्य आधार खोजना सरल नहीं है। फिर भी, विभिन्न दर्शनों की ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि तथा शास्त्रों के विकासक्रम

आदि का तुलनात्मक अध्ययन सर्व-धर्म-दर्शन की सम्भावित उत्पत्ति हेतु अत्यन्त उपयोगी प्रतीत होता है।

हिन्दी भाषा में तुलनात्मक दर्शन की संभवतः यह प्रथम पुस्तक है। इसमें तुलनात्मक दर्शन के विभिन्न आयामों पर भारतवर्ष के विभिन्न विद्वानों के आलेखों का संग्रह होने के साथ-साथ श्री काली चरण पाण्डेय ने प्रस्तावना में इन आलेखों का समीक्षात्मक विश्लेषण किया है जिससे इसकी प्रासंगिकता और अधिक बढ़ गयी है।

मैं आशा करता हूँ कि श्री काली चरण पाण्डेय द्वारा संकलित और संपादित यह पुस्तक तुलनात्मक दर्शन के अध्ययन और शोध के क्षेत्र में मील का पत्थर साबित होगी।

स. Rinpoche

प्रो. समदोंग रिनपोछे
प्रधानमंत्री (कलेन ट्रीपा) केन्द्रीय तिब्बत सरकार
धर्मशाला हिमाचल प्रदेश एवं
पूर्व निदेशक
केन्द्रीय तिब्बती उच्च शिक्षा संस्थान
(मान्य विश्वविद्यालय)
सारनाथ - वाराणसी

पुरोवाक्

तुलनात्मक दर्शन अथवा तुलनात्मक दृष्टि भारत की मौलिक एवं विशिष्ट विधा है। उपनिषदों के युग से आज तक यह निरन्तर विकसित होती जा रही है, अपने नये आयामों के साथ। स्वामी प्रणवानन्द तुलनात्मक-दर्शन व्याख्यानमाला, जो अहमदाबाद में फरवरी, १९८० में प्रारम्भ हुई थी, और संयोग से उसकी अगली कड़ी नवम्बर, २००४ में अहमदाबाद में ही सम्पन्न होने वाली है, इसके अधुनातन नैरन्तर्य का परिचायक है। इस व्याख्यानमाला के अन्तर्गत दिये गये सभी उपलब्ध व्याख्यान अखिल भारतीय दर्शन-परिषद् के स्वर्ण-जयंती समारोह के अवसर पर इस संकलन में प्रकाशित हो रहे हैं, यह संतोष ही नहीं, प्रसन्नता का विषय है।

प्रत्येक दार्शनिक परम्परा मानव-जीवन को महत्वपूर्ण मानती है।सभी दार्शनिक सम्प्रदाय एक पूर्ण दर्शन भी प्रस्तुत करना चाहते हैं, और ऐसा दावा करते हैं। परन्तु जब हम विभिन्न संस्कृतियों के सम्पर्क में आते हैं तब हमारे जीवन में कुछ परिवर्तन भी होने लगता है। हम एक-दूसरे की समस्या से अवगत ही नहीं होते, उन्हें अपनी समस्या मानकर उनका समाधान भी ढूढ़ते है। यहीं पर तुलनात्मक दर्शन का आविर्भाव होता है। यह प्रकिया भारत में काफी पुरानी है। इसके बीज उपनिषदों में भी पाये जाते हैं।

उपनिषदों में तुलनात्मक दृष्टि का सबसे प्रसिद्ध मंत्र है 'द्वा सुपर्णा...' जो मुण्डक (३,१,१) तथा श्वेताश्वतर (४,६) दो उपनिषदों में बिना पाठ भेद के उपलब्ध होता है। मुण्डक अथर्ववेद के मंत्र भाग का अंश है तथा श्वेताश्वतर कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का। साथ-साथ रहने वाले तथा समान आख्यान वाले दो पक्षी एक ही वृक्ष का आश्रय करके रहते है; उनमें से एक (जीव) मधुर (कर्म) फल खाता है और दूसरा (ईश्वर) राजा की तरह केवल देखता रहता है। तुलनात्मक दर्शन में यही साक्षी-भाव महत्वपूर्ण है।

उपनिषद् का ही एक अन्य रोचक तथा स्पष्ट तुलनात्मक प्रसंग हमें छान्दोग्य (चतुर्थ अध्याय) के जानश्रुति-रैक्व आख्यान में मिलता है। दो हंस (प्रच्छन्न ऋषि या देवता) रात का राजा जानश्रुति के प्रासाद के उपर से उड़ते हुए जो बात कहते हैं उससे राजा विचलित से हो जाते हैं। आगे उड़ने वाले हंस से पीछे वाले हंस ने कहा: हे भल्लाक्ष' ! देख, जानश्रुति का तेज द्युलोक के समान फैला हुआ है; तूँ उसे स्पर्श न कर, वरना वह तुझे भस्म कर डालेगा'। इस पर अग्रगामी हंस बोला : 'अरे। तू इसे गाड़ीवान रैक्व के समान बतलाता है?' वह गाड़ीवान कैसा है, इस प्रश्न के उत्तर

में भल्लाक्ष बोला : जिस प्रकार द्यूत-क्रीड़ा में कृत नामक पासे से जीतने वाले के अधीन शेष सभी पासे हो जाते हैं उसी प्रकार प्रजा जो कुछ सत्कर्म करती है वह सब रैक्व का हो जाता है। कारण, वह (संवर्ग विद्या का) वेत्ता है, उसे जो कोई भी जानता है वह भी वैसा ही होता है'। और जानश्रुति अनेक यत्न करके रैक्व से संवर्ग-विद्या प्राप्त करते हैं।

तुलनात्मक दृष्टि बौद्ध-काल में भी रही। धर्माशोक ने सभी धर्मों तथा विचारों को समान आदर दिया। परन्तु यह भाव सर्व-धर्म-सम्भाव को विकसित करने में प्रमुख रहा। इसे एक अर्थ में तुलनात्मक-धर्म का प्रारम्भ कह सकते हैं। परन्तु ध्यान देने की बात है कि तुलनात्मक-धर्म कोई नया धर्म नहीं बन जाता है, वस्तुत: 'तुलनात्मक-धर्म' अभिव्यक्ति सार्थक है ही नहीं; ज्यादा अच्छी अभिव्यक्ति है 'धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन। अकबर ने 'दीने-इलाही' को तुलनात्मक-धर्म के रूप में विकसित करना चाहा, शाहज़ादा दारा शिकोह ने इसके लिए एक धर्म-ग्रन्थ (समुद्र-संगम या बज्मे बहरीन) भी तैयार किया, परन्तु उसका हस्र क्या हुआ, यह सभी जानते हैं तुलनात्मक दर्शन, इसके विपरीत, अपने आप में एक दार्शनकि विधा है, दर्शन है।

तुलनात्मक दर्शन के प्रसंग में जैन परम्परा के अवदान का उल्लेख अत्यंत आवश्यक है। अनेकान्त-दृष्टि को स्थिर करने के लिए जैन विचारकों ने भारतीय दर्शन के विभिन्न प्रस्थानों की जो समग्र विवेचना की है वह सराहनीय है। वाचस्पति हों या कुमारिल, अपने मतों की स्थापना करते समय अन्य दर्शनों को पूर्व-पक्ष के रूप में अवश्य रखते हैं, किन्तु वे उनकी किसी खास मान्यता को ही लेकर उनका खण्डन करते हैं। जैन दर्शन अनेकान्त के संदर्भ में न्याय आदि सभी दर्शनों को समग्रता से उपस्थित करता है एवं उनमें विद्यमान त्रुटियों को दिखाता है। उसकी दृष्टि समीक्षात्मक होते हुए भी समन्वयात्मक कही जा सकती है। हरिभद्र सूरि (आठवीं शताब्दी) का शास्त्र-वार्ता-समुच्चय (भावनगर, १९०७) इसका उदाहरण है। इन्ही का षड्-दर्शन-समुच्चय (अहमदाबाद, १९१८) भी इसी कड़ी में आता है। इसका कारण यह है कि जैन-दर्शन का जो नयवाद है उसका आधार अन्य भारतीय दर्शन ही हैं। आचार्य जिनभद्र (छठीं शताब्दी) ने तो बृहद्संग्रहणी में यहाँ तक कह दिया है कि अन्य दर्शनों का समूह ही जैन दर्शन है। सिद्धसेन दिवाकर (सातवीं शताब्दी) का सन्मति-तर्क (भावनगर, १९०८) में भी अन्य दर्शनों के तुलनात्मक विवरण दिये गये हैं।

भारतीय दर्शनों की संख्या का परिचय सर्वप्रथम हमें महाभारत के नारायणीय (शांतिपर्व) में मिलता है, जहाँ सांख्य, योग, पाञ्चरात्र, पाशुपत और वेदमत, ये पाँच दर्शन गिनाये गये हैं :

'सांख्य योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा,

ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नाना मतानि वै।। शांति, ३९८/६४ ।।

आचार्य शंकर के नाम से उपलब्ध ग्रन्थ सर्व-सिद्धान्त-संग्रह में ११ पक्षों का उल्लेख है: लोकायत, आर्हत, बौद्ध, वैशेषिक, न्याय, भट्ट, प्रभाकर, सांख्य, पतंजलि, व्यास और वेदान्त पक्ष। इस पर शेषगोविन्द की टीका सर्व-सिद्धान्त-रहस्य भी मिलती है।

परन्तु विभिन्न दर्शनों का सबसे पहला और प्रामाणिक संग्रह हरिभद्र सूरिकृत षड्-दर्शन समुच्चय (अहमदाबाद, १९१८) है जिसमें कुल ८७ श्लोकों में बौद्ध, न्याय, सांख्य, जैन, वैशेषिक, जैमिनीय तथा चार्वाक दर्शनों के सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। वस्तुतः इसमें सात दर्शनों का उल्लेख है, परन्तु न्याय-वैशेषिक को युगल-दर्शन मानकर 'षड्दर्शन' अभिव्यक्ति को सार्थक कहा जाता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि इसमें वेदान्त समाहित नहीं है। संभवतः दार्शनिक प्रस्थान के रूप में वेदान्त उस समय तक विद्वानों के समक्ष नहीं है। एक और बिन्दु यहाँ द्रष्टव्य है। वह यह कि, हरिभद्र चार्वाक को नास्तिक एवं अन्य सभी दर्शनों को आस्तिक मानते हैं। पुनः, इसमें किसी सम्प्रदाय की आलोचना नहीं हुई है।

कृष्णमिश्र (१०९० ई.) कृत प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक में यह बताया गया है कि सभी वैदिक षड्दर्शन एक ही ईश्वर की विभूतियों की व्याख्या करते है।

माधवाचार्य (१३८० ई.) ने सर्वदर्शन-संग्रह में १५ मतों का विवरण दिया है, यथ चार्वाक, बौद्ध, आर्हत, रामानुज, पूर्णप्रज्ञ, नकुलीश-पाशुपत, शैव, प्रत्यभिज्ञा, रसेश्वर, औलूक्य, अक्षपाद, जैमिनीय, पाणिनी, सांख्य तथा पतंजलि। ये स्वयं वेदान्ती रहे हैं।

मधुसूदन सरस्वती (१६वीं शताब्दी) ने अपने प्रस्थान-भेद में षड्दर्शनों की दो जोड़ी बनाई है- आस्तिक और नास्तिक। आस्तिक दर्शनों में समन्वय कर ये वेदान्त को श्रेष्ठ मानते हैं।

आधुनिक युग में तुलनात्मक दर्शन को भारत में और विश्व में महत्वपूर्ण स्थान दिलाने का प्रमुख श्रेय डॉ. सर्वेपल्ली राधाकृष्णन् को जाता है। उन्होंने अपने निर्देशन में बहुत से ऐसे शोध-कार्य कराये जो तुलनात्मक-दर्शन की विधा को सम्पुष्ट करते है। चार्ल्स ए. मूर को प्रेरित कर उन्होंने हवाई (सं राज्य अमेरिका) में 'दर्शन-पूर्व एवं पश्चिम' संस्थान प्रारम्भ कराया जहाँ से निकलने वाली पत्रिका तथा प्रकाशित पुस्तकें तुलनात्मक दर्शन के विकास में सहयोग की हैं, और करती जा रही हैं। परन्तु स्वयं राधाकृष्णन् के प्रेरणा-स्रोत गुरुदेव रामचन्द्र दत्तात्रय रानाडे थे, जिनके दो व्याख्यान, जिन्हें राष्ट्रपति-भवन में आयोजित किया गया था, इस संकलन

में सम्मिलित किये गये हैं। उल्लेखनीय है कि बेलगाँव (कर्नाटक) के गुरुदेव-मंदिर स्थित गुरुदेव रानाडे तुलनात्मक-दर्शन संस्थान का उद्घाटन राधाकृष्णन् द्वारा सम्पन्न हुआ था। राधाकृष्णन् से प्रेरित होकर डॉ. पी.टी. राजू ने तुलनात्मक दर्शन को विकास के मार्ग में आगे बढ़ाया। पूर्व और पश्चिम के दर्शनों में सेतु-बंधन का कार्य इन्होंने किया। आज आवश्यकता है पश्चिम के ग्रहणीय विचारों को आत्मसात् कर विश्व के दर्शन-शास्त्र में योगदान की। इस दृष्टि से प्रो. निनियन स्मार्ट की पुस्तक World Philosophies (London/New York, 1999,pp.454) द्रष्टव्य है। हमें अपनी परम्परा को सामने रखते हुए पश्चिम से विषय-वस्तु ग्रहण कर इसे आगे बढ़ाना है।

ऐसे ही उद्देश्यों को लेकर अ.भा. दर्शन-परिषद् ने ऋषिकेश-अधिवेशन (फरवरी, १९७९) के समय स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती से एक व्याख्यान-माला प्रारम्भ करने का अनुरोध किया था। मुझे यह बताते हुए अत्यंत प्रसन्नता हो रही है कि स्वामी जी ने इसे तत्काल स्वीकृति प्रदान कर दी और इस हेतु अपेक्षित राशि उपलब्ध करायी। और परिषद् के अगले अधिवेशन (फरवरी, १९८०) में इस व्याख्यान-माला का पहला व्याख्यान संपन्न हुआ। इस व्याख्यान-माला को प्रारम्भ हुए पच्चीस वर्ष हो रहे हैं। अर्थात् परिषद् की स्वर्ण-जयंती के साथ इसकी रजत-जयंती ! कितना सुखद संयोग है !

सभी उपलब्ध व्याख्यानों को प्रकाशित करने की चर्चा जब मैंने स्वामी जी से पत्र के माध्यम से कुछ माह पूर्व की तो वे इसके लिए भी आर्थिक सहयोग प्रदान करने के लिए प्रकृत्या सहमत हो गये। मैंने व्याख्यानों के संकलन का दायित्व प्रिय कालीचरण को दिया तो वे द्विगुणित उत्साह से इस कार्य में लग गये। कुछ अन्य सामग्री भी उन्हें हाथ लगी जिसे इस संग्रह में सम्मिलित करना श्रेयस्कर प्रतीत हुआ। परिणामस्वरूप इस संकलन का कलेवर समृद्ध हो गया है और ग्रन्थ की उपादेयता बढ़ गयी है।

यह कहने में हमें संकोच नहीं है कि तुलनात्मक-दर्शन पर प्रामाणिक संकलन के रूप में यह प्रकाशन अपना स्थान बनायेगा। इसके सम्पादक प्रो. के.सी. पाण्डेय को इस कार्य को पूरा करने के लिए साधुवाद। बोधिसत्व-स्वरूप डॉ. एस. रिन्पोचे ने इस संकलन की प्ररोचना लिखकर हमारा मान बढ़ाया है; हम उनके हृदय से आभारी हैं।

श्रीप्रकाश दुबे
अध्यक्ष
अखिल भारतीय दर्शन परिषद्

जबलपुर
१४ अक्टूबर २००४

आभार

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के स्वर्ण-जयन्ती तथा प्रणवानन्द तुलनात्मक व्याख्यान-माला के रजत-जयन्ती वर्ष में इस व्याख्यान-माला में प्रस्तुत आलेखों के संकलन और सम्पादन के कार्यभार को स्वीकार करते हुए यद्यपि इसका भान मुझे कत्तई नहीं था कि एक-एक करके पच्चीस आलेखों को इकट्ठा करने की जो मशक्त करनी पड़ेगी उसमें पूरा साल लग जाएगा, फिर भी आज इस दायित्व को पूरा कर लेने की खुशी में सबसे पहले मैं इस दायित्व को मुझे सौंपने के लिए परिषद् के अध्यक्ष प्रो. श्री प्रकाश दुबे का आभारी हूँ क्योंकि उन्हीं के द्वारा औपचारिक रूप से इस पुस्तक के विचार का बीजारोपण हुआ था जिसने मुझे अपने देश के मूर्धन्य विद्वानों की तुलनात्मक दर्शन की विभिन्न दृष्टियों का मनन् करने का सुअवसर दिया। इसके अतिरिक्त, अपने अकादमिक जीवन में समय-समय पर उनके मार्गदर्शन, सहयोग और मित्रवत् व्यवहार के लिए भी मैं सदैव उनका बौद्धिक ऋणी रहूँगा।

परिषद् की कार्यकारिणी के समस्त पदाधिकारियों डॉ. एस.एस. रामाराव पप्पू, डॉ. सजीवन प्रसाद, डॉ. महेश सिंह, डॉ. जटाशंकर, डॉ.(श्रीमती) विभा मुकेश, डॉ. डी. आर. भण्डारी, डॉ. अम्बिका दत्त शर्मा, डॉ. दीनानाथ शुक्ल, डॉ.अविनाश कुमार श्रीवास्तव, डॉ.नीतीश दुबे, डॉ.(कु.) गायत्री शर्मा, डॉ.आर. के. सिंह, श्री ज्योतिस्वरूप दुबे, डॉ. अम्बिका दत्त शर्मा, एवं डॉ.रजनीश कुमार शुक्ल का मैं आभारी हूँ, जिन्होंने मुझमें विश्वास व्यक्त किया तथा मुझे इस पुस्तक के सम्पादन का अवसर दिया।

केन्द्रीय तिब्बत प्रशासन, धर्मशाला के कलेन ट्रीपा प्रो. समदोंग रिनपोछे ने सदैव सहृदयता के साथ बौद्धिक क्रिया-कलापों में मेरी मदद की हैं। अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के ४७वें वार्षिक अधिवेशन तथा 'इकोलॉजी एण्ड बुद्धिज्म' के राष्ट्रीय सेमिनार, वर्ष २००२, के धर्मशाला में आयोजन में उन्होंने आर्थिक एवं बौद्धिक योगदान दिया। आपने तत्परता के साथ इस पुस्तक के प्राक्कथन को लिखने का दायित्व, अपने अत्यन्त व्यस्त कार्यक्रमों के होते हुए भी, स्वीकार किया। इन सबके लिए मैं आपका हृदय से आभारी हूँ और परिषद् की तरफ से आपको साधुवाद देता हूँ ।

डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा ने यदि इस पुस्तक की योजना का सांगोपांग सुझाव मुझे न दिया होता तो यह पुस्तक इस कलेवर में न आ पाती। कई बार तो देर रात्रि में

भी उनसे मैं बेझिझक इस पुस्तक से जुड़ी वाक्य-विन्यास जैसी तमाम समस्याओं के बारे में विचार-विमर्श किया करता था। ऐसे सहृदयतापूर्ण सहयोग की अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए उनके प्रति 'धन्यवाद' शब्द का प्रयोग अपर्याप्त प्रतीत होता है।

इस पुस्तक के सम्पादन कार्य के बीच, मई २००४ में, अपनी एसोसिएटशिप के तीसरे सत्र को पूरा करने के लिए मुझे भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला जाने का अवसर मिला। वहाँ तुलनात्मक दर्शन की पुस्तकों के अध्ययन, अध्ययन सामग्री के संग्रह और कई दार्शनिकों से वार्तालाप का अवसर मिला। इसके लिए संस्थान की डायरेक्टर प्रो. भुवन चन्देल का मैं आभारी हूँ - विशेष रूप से संस्थान के सेमिनारों में उनके द्वारा प्राप्त प्रोत्साहनों ने मुझे संबल प्रदान किया।

इस पुस्तक में संकलित आलेखों में से चार ऐसे हैं जो मूलतः आंग्ल भाषा में लिखे गये थे और जिनका प्रस्तुतीकरण उपर्युक्त व्याख्यान-माला में नहीं हुआ है। इनमें से प्रो. रामदत्त दत्तात्रेय के दो आलेखों का अनुवाद डॉ. हरिमाधव शरण और डॉ. वृजवल्लभ सिंह ने जबकि प्रो. दयाकृष्ण और प्रो. अरविन्द कुमार राय के आलेखों का हिन्दी रूपान्तरण क्रमशः श्री यशदेव शल्य और मैंने किया है। तुलनात्मक दर्शन के क्षेत्र में अद्वितीय इन आलेखों को इस पुस्तक में शामिल करने के लिए परिषद् के अध्यक्ष की अनुमति और इनके लेखकों द्वारा अविलम्ब अनुमति दिए जाने के कारण मैं इन सबका धन्यवाद-ज्ञापन करता हूँ।

कई लेखकों ने अपने आलेख उपलब्ध कराने में तनिक भी देर नहीं की तो कुछेक से एक-दो बार सम्पर्क के बाद आलेख प्राप्त हो गये। मैं इन सभी लेखक विद्वानों का आभार व्यक्त करता हूँ। इनके सहयोग के बिना शायद यह पुस्तक अस्तित्व में न आ पाती क्योंकि अधिकतर आलेख अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं थे। इस कथन की गम्भीरता इस तथ्य से स्पष्ट है कि तमाम कोशिशों के बावजूद मैं इस व्याख्यान-माला के दिवंगत हुए व्याख्याताओं प्रो. राम चन्द्र पाण्डेय, प्रो. बसन्त कुमार लाल, प्रो. जगदीश सहाय श्रीवास्तव और प्रो. अजित शुकदेव शर्मा के आलेखों को प्राप्त न कर सका। इन आलेखों के अतिरिक्त प्रो. इन्द्रदेव नारायण सिन्हा और प्रो.रघुवंश झा के आलेखों के भी उपलब्ध न होने के कारण ही इन्हें इस पुस्तक में शामिल नहीं किया जा सका। यदि यह पुस्तक कोई दार्शनिक सार्थकता रखती है और इसका दूसरा संस्करण निकलता है, और यदि तब तक कुछ अन्य अनुपलब्ध आलेख कहीं से प्राप्त हो जाते हैं तो उन्हें

इस पुस्तक में शामिल कर लेने से इसका परिमार्जन किया जा सकेगा।

राजकीय महाविद्यालय धर्मशाला के हिन्दी विभाग के प्राध्यापकों डॉ. प्रत्यूष गुलेरी, डॉ. आर. आर. भाटिया, श्री मानक सूर्यवंशी, सुश्री मीरा वालिया और श्रीमती रेखा डढवाल से हिन्दी भाषा के व्याकरण सम्बन्धी विचार-विमर्श से मुझे काफी सहयोग मिला। इन सबको मैं मित्रवत् धन्यवाद देता हूँ।

जहाँ तक मेरी जानकारी है, संभवत: हिन्दी भाषा में तुलनात्मक दर्शन की यह प्रथम पुस्तक है। इसी के साथ-साथ, हिन्दी भाषा में संभवत: प्रथम, एक अन्य पुस्तक *विट्गेन्स्टाइन के दर्शन की रूपरेखा* पर भी काम करने के कारण और महाविद्यालय की शैक्षणिक जिम्मेदारियों के चलते कुछ ही वर्षों से साथ रह रहीं मेरी पत्नी डॉ. सुधा किरन ने अपने अध्ययन को अनदेखा करते हुए न केवल हमारी बिटिया रिमझिम का खयाल रखा बल्कि मेरे अध्ययन के सभी प्रकार के व्यवधानों को दूर रखा। अपनी इन अनुभूतियों के आभार को सटीक शब्द न दे पाने का कारण है मेरी वह आत्म-विभोरता की स्थिति जिसके बारे में विट्गेन्स्टाइन मौन रहने का विधान करते हैं।

– काली चरण पाण्डेय

हिन्दी दिवस 14 सितम्बर
धर्मशाला

अनुक्रम

खण्ड : दो

भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शनों की तुलना १५१/२०७

खण्ड : तीन

भारतीय दार्शनिक प्रणालियों का तुलनात्मक अध्ययन २०९/२७७

लेखकों का परिचय

प्रस्तावना

तुलनात्मक दर्शन : एक समन्वयात्मक दृष्टि

तुलनात्मक दर्शन के सम्बन्ध में क्या, क्यों और कैसे ऐसे प्रश्न हैं जो यद्यपि इसकी अवधारणा से जुड़े हैं फिर भी इनके उत्तर का स्वरूप न केवल अनिश्चित अपितु विवादास्पद भी रहा है। इसका एक अनिवार्य कारण (यद्यपि पर्याप्त कारण नहीं) इस दार्शनिक प्रणाली की नवीनता भी है। तुलना की विधियों की अनेकता भी तुलनात्मक दर्शन के अवधारणात्मक अनिश्चय की स्थिति का कारण है। सामान्य रूप से स्वीकृत तुलनात्मक दार्शनिक प्रणाली की तीन विधियाँ इस प्रकार हैं : (१) असमान परम्परा की पृष्ठिभूमि के दर्शनों की परस्पर तुलना (२) समान परम्परा की पृष्ठिभूमि के दर्शनों के विभिन्न सम्प्रत्ययों की तुलना करना, और (३) तुलनात्मक दार्शनिक पद्धति की अवधारणा, तुलना की विधि, सीमाएँ इत्यादि का विश्लेषण जिसमें तुलनात्मक दर्शन की आरम्भिक अवस्था में यदा-कदा कतिपय पाश्चात्य दार्शनिकों ने तुलना के द्वारा अपनी दार्शनिक परम्परा को श्रेयष्कर सिद्ध करने के लिए दूसरी दार्शनिक परम्पराओं को अपेक्षाकृत अपरिष्कृत और आध्यात्मिक माना।

तुलनात्मक दर्शन की विधियों के उपर्युक्त तीन भागों में विभाजन को पी. टी. राजू और यशदेव शल्य जैसे कई दार्शनिकों ने स्वीकार किया है। फिर भी, यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि इस दार्शनिक प्रणाली की विधियों का एक अन्य आधारभूत विभाजन इसके प्रतिपाद्य विषय को लेकर किया जा सकता है क्योंकि तुलना ज्ञानमीमांसीय, तत्त्वमीमांसीय, धार्मिक, नीतिशास्त्रीय इत्यादि पारम्परिक दार्शनिक अध्ययन के साथ-साथ मन दर्शन, विज्ञान दर्शन, विश्लेषणात्मक दर्शन जैसे समकालीन, आधुनिक और उत्तर आधुनिक दार्शनिक सम्प्रत्ययों के बारे में भी हो सकती है। प्रतिपाद्य विषय के आधार पर तुलनात्मक दर्शन की विधियों का विभाजन इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि दार्शनिक अवधारणाओं की संरचनात्मक भिन्नता ही औचित्य के आधार पर इसकी उपयुक्त विधि का निर्धारण करती है, उदाहरण के लिए, नीतिशास्त्रीय तुलनात्मक विधि ज्ञानमीमांसीय या मन दर्शन की बिधि से भिन्न होगी क्योंकि इनकी संरचनागत भिन्नता के कारण ही नीतिशास्त्रीय तुलना में सापेक्षता के तत्त्व को जिस हद तक स्वीकार किया जाता है उसकी धर्म दर्शन के अतिरिक्त दर्शन की अन्य किसी भी प्रणाली में आवश्यकता नहीं पड़ती है।

इस पुस्तक में संकलित आलेख तुलनात्मक दर्शन के विभिन्न आयामों से

सम्बन्धित हैं। इसको तीन भागों में विभाजित करने का निहितार्थ वे तीन दार्शनिक विधियाँ हैं जो तुलनात्मक दार्शनिक प्रणाली की संरचना करती हैं। तुलनात्मक दर्शन की उपर्युक्त प्रथम एवं द्वितीय विधियों के आधार पर इस पुस्तक के क्रमश: दूसरे और तीसरे भागों के आलेखों का संकलन किया गया है। इसके दूसरे भाग में संकलित आलेख भारतीय और पाश्चात्य दार्शनिक विचारधाराओं की तुलना से सम्बन्धित हैं। और, इसके अन्तिम भाग के आलेख विभिन्न भारतीय दार्शनिक परम्पराओं या दार्शनिकों का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं। जिन आलेखों को इसके प्रथम भाग में संकलित किया गया है वे मूलत: तुलनात्मक दार्शनिक पद्धति के वैशिष्ट्य का विश्लेषण करते हैं। इनमें से कुछ इस प्रश्न को भी उठाते हैं कि कतिपय पाश्चात्य दार्शनिकों ने अपनी दार्शनिक परम्परा को अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत, तार्किक और मूल्यवान दार्शनिक पद्धति साबित करने के उद्देश्य से किस प्रकार भारतीय दर्शन के प्रति कटु कटाक्ष किये हैं। तुलनात्मक दर्शन के अन्य आयामों पर भी इस भाग के आलेख प्रकाश डालते हैं। इस प्रकार, तुलनात्मक पद्धति की उपर्युक्त तृतीय विधि के उद्देश्य (अर्थात् अपनी दार्शनिक पद्धति को श्रेयष्कर साबित करने) की समीक्षा की परिधि में ही सीमित न रहते हुए इस पुस्तक के प्रथम भाग के आलेख इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किए गये प्रयासों की निरर्थकता को व्याख्यायित करते हैं जिसके कारण ही इन्हें एक ही भाग में संकलित किया गया है।

इस प्रकार, यद्यपि इस पुस्तक का विभाजन तुलनात्मक दर्शन की उपर्युक्त वह प्रणाली है जिसमें इसकी विधियों को तीन भागों में बाँटा गया है, फिर भी इसमें संकलित आलेखों की समीक्षात्मक व्याख्या के लिए इसकी उपर्युक्त प्रणाली जिसमें इसकी विधियों को उनके प्रतिपाद्य विषय के आधार पर विभाजित किया जाता है, को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। इसका कारण यह है कि तुलना की विधि का प्रयोग इसके प्रतिपाद्य विषय से निरपेक्ष हो ही नहीं सकता है। क्योंकि एक तरफ तुलना की विधियाँ तुलना को प्रभावित करती हैं तो दूसरी तरफ इन विधियों की प्रासंगिकता का निर्धारण भी इनके प्रतिपाद्य विषय के वैशिष्ट्य के द्वारा होता है, उदाहरण के लिए, तार्किक और धार्मिक सम्प्रत्ययों की तुलनात्मक विधियों में भिन्नता का होना स्वाभाविक ही है। यहाँ तार्किक वस्तुनिष्ठता के अभाव में तुलना के एकांगी होने का कारण दार्शनिक के पूर्वाग्रह और पूर्वमान्यताएँ होती हैं।

तुलनात्मक दर्शन में तुलना की विधियों में अन्तर के अलावा दार्शनिक पूर्वाग्रह और पूर्वमान्यताएँ भी महत्वपूर्ण होती हैं जिससे यद्यपि बचे रहने के लिए सदैव सचेत रहने की आवश्यकता है परन्तु दार्शनिक के किसी न किसी 'जीवन के आकार' में

होने के कारण इनका पूरी तरह से निराकरण संभव नहीं है। प्रत्येक दार्शनिक के तुलनात्मक विश्लेषण में उसके अपने जीवन के आकार या संस्कृति के मानदण्डों एवं संस्कारों की प्रतिछाया स्पष्टत: दृष्टिगत होती है। परन्तु इनकी स्वाभाविक प्रतिछाया तुलना को एकांगी नहीं बनाती। एकांगिकता की समस्या तब उत्पन्न होती है जब तुलना का प्रयोग किसी विशिष्ट दार्शनिक प्रणाली के सम्प्रययों की संरचनागत श्रेष्ठता को स्थापित करने के लिए किसी अन्य दार्शनिक प्रणाली को अपेक्षाकृत अतार्किक मानलिया जाता है। तुलनात्मक दर्शन में इस तरह के आधारहीन पूर्वाग्रहों की न तो कोई आवश्यकता पड़ती है और न ही इनसे किसी प्रकार के बौद्धिक निष्कर्ष को प्राप्त किया जा सकता है। इसके बावजूद कतिपय पाश्चात्य दार्शनिकों ने भारतीय दर्शन को अतार्किक, आध्यात्मिक और धर्ममीमांसा कहकर उसे दर्शन मानना ही अस्वीकार कर दिया। यद्यपि आजकल काफी हद तक इस तरह का मन्तव्य पाश्चात्य दार्शनिक भी नहीं रखते, परन्तु यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि केवल पाश्चात्य दार्शनिकों ने ही भारतीय दर्शन को अध्यात्म और धर्ममीमांसा कहकर उसका निराकरण करने का प्रयास नहीं किया बल्कि कतिपय भारतीय दार्शनिक भी ऐसी मानसिकता में पीछे नहीं हैं। कुछ साल पहले मुझे जबलपुर में एक अन्तर्राष्ट्रीय सेमिनार में इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिला। इस सेमिनार के मूलभूत अभिभाषण (*की नोट एड्रेस*) में ऐसी ही मानसिकता के एक भारतीय दार्शनिक ने चोम्स्की को उद्धृत करते हुए कहा कि वे यह मानते हैं कि अधिकांश भारतीय दार्शनिक अपने शोधपत्रों के वाचन में संस्कृत के श्लोकों का इस प्रकार प्रयोग करते हैं कि उनका मन्तव्य ही समझ में नहीं आता। उपर्युक्त तथाकथित भारतीय दार्शनिक के द्वारा चोम्स्की के उद्धरण का प्रयोग भारतीय दार्शनिक पद्धति का मखौल उड़ाने के लिए ही किया गया जिसका प्रत्युत्तर देते हुए उसी सेमिनार में मुजफ्फरपुर के प्रो. आर. पी. श्रीवास्तव ने कहा कि चोम्स्की की अमेरिकन अंग्रेजी का उच्चारण भारतीय दार्शनिकों के लिए समस्या ही है। कितना सटीक प्रत्युत्तर था यह ! भारतीय दर्शन का निराकरण करने वाले दार्शनिको को शायद इसी तरह का प्रत्युत्तर ही मौन, और पाश्चात्येतर दार्शनिक प्रणाली को समझने के लिए प्रेरित, कर सकता है। ध्यातव्य है कि संस्कृत के श्लोक का, अर्थात् किसी भी सांस्कृतिक वैशिष्ट्य का, उपहास क्यूँ ? पाश्चात्य मानसिकता ही कतिपय भारतीय दार्शनिकों को जो कुछ भी प्राच्य है उसके प्रति आलोचक और जो कुछ भी पाश्चात्य है उसके प्रति प्रशंसक बना देती है। आवश्यकता इस मानसिकता से निकलने की है। अब युरोपीय और अमेरिकन दार्शनिक भी भारतीय दर्शन के महत्व को समझने लगे हैं। उनको अपनी भूल का और भारतीय दर्शन में तर्क के स्थान का ज्ञान होने लगा है। ऐसी स्थिति में

आवश्यकता है ऐसे तटस्थ तुलनात्मक अध्ययन की जिससे विभिन्न दर्शनों के बीच समन्वय की स्थापना की जा सके, न कि उनके बीच अन्तर की खाईं को और अधिक बढ़ाया जाए। तुलनात्मक दर्शन की इसी दृष्टि से इस पुस्तक के आलेखों का संकलन किया गया है। इन सबमें किसी न किसी रूप में विभिन्न दार्शनिक प्रणालियों के तुलनात्मक समन्वय की व्याख्या की गई है।

(१) प्रो.दयाकृष्ण का आलेख 'तुलनात्मक दर्शन : यह क्या है और इसे क्या होना चाहिए' तुलनात्मक दर्शन के क्षेत्र में भारतीय दर्शनिकों की उस प्रवृत्ति पर प्रश्नचिह्न लगाता है जिसमें पाश्चात्य दार्शनिकों के द्वारा निर्धारित तुलना के मानदण्डों को अविश्लेषित रूप से स्वीकार करके अपनी दार्शनिक परम्परा की उपलब्धियों और कमियों के विवेचन को ही तुलनात्मक पद्धति मान लिया जाता है। विश्लेणात्मक और पुर्नसंरचनात्मक पद्धतियों में लिखा गया और श्री यशदेव शल्य द्वारा किया गया अंग्रेजी से अत्यन्त स्पष्ट और स्वाभाविक अनुवाद - जिसकी स्वाभाविकता और सहजता में इसके अनुवाद होने का भान ही नही रह जाता - एक ओर, प्रचलित तुलनात्मक दर्शन की सममिति पर प्रश्नचिह्न इसलिए लगाता है क्योंकि इसमें विभिन्न संस्कृतियों की विशिष्टताओं को पाश्चात्य सांस्कृतिक मान्यताओं द्वारा अनदेखा कर दिया जाता है, तो दूसरी ओर, तुलनात्मक दर्शन की वैकल्पिक पद्धतियों के लिए आधार प्रदान करता है। यह भारतीय दार्शनिकों को, जो तुलनात्मक दर्शन में रुचि रखते हैं, एक विशिष्ट दृष्टि से सोचने और अभिव्यक्त करने की विधि प्रस्तुत करता है। तुलनात्मक दार्शनिक पद्धति की विभिन्न सांस्कृतिक विशिष्टताओं की अक्षुण्णता की यह दृष्टि, संस्कृतियों की विशिष्टता को उनके विभाजन की अनिवार्यता की व्याख्या नहीं, बल्कि ऐसी समन्वयात्मक व्याख्या मानती है जो, दया जी के शब्दों में, "किसी परिचित समस्या के समाधानों के वैशिष्ट्य की खोज न केवल एक विदेशी परम्परा को एक नये रूप में देखना ही है बल्कि यह किसी विचार का एक दूसरा आयाम प्रकट कर हमारी दृष्टि को समृद्धतर भी करता है"। यहाँ प्रो.दया की दृष्टि उन दोनों प्रकार के दार्शनिकों के विचारों से भिन्न है जो प्रथम, प्राच्य की पाश्चात्य व्याख्या करते हैं और इस प्रकार प्राच्य के सांस्कृतिक वैशिष्ट्य को मूल्यहीन पाते हैं, तथा द्वितीय, जो प्राच्य और पाश्चात्य सांस्कृतिक परम्पराओं के बीच अनिवार्य खाई मानते हैं। वस्तु-स्थिति इन दोनों प्रकार के विचारों से भिन्न होती है क्योंकि किसी भी सभ्यता में ऐसे आयाम हो सकते हैं जिसके बारे में उस सभ्यता के विचारकों ने ध्यान ही नहीं दिया। इस प्रकार वास्तविक वस्तु-स्थिति सांस्कृतिक सार्वभौमिकता और सांस्कृतिक सापेक्षता के सैद्धान्तिक द्वन्द्व से परे तुलनात्मक दर्शन को दार्शनिक समस्याओं के विभिन्न आयामों पर चिन्तन

के विकल्प की खोज की अनिवार्यता के रूप में देखती है। इस आलेख में दार्शनिक समस्याओं के वैकल्पिक आयामों पर चिन्तन को ही तुलनात्मक दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय बनाया गया है।

यह बात किसी से छिपी नहीं है कि कतिपय पाश्चात्य दार्शनिकों ने भारतीय दर्शन को इस आधार पर दर्शन मानने से अस्वीकार कर दिया कि यह आध्यात्मिक है तथा इसका मुख्य उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति होने के कारण यह धर्म-मीमांसा ही है। इन दार्शनिकों के द्वारा भारतीय दर्शन में युक्ति की संभावना को ही एक सिरे से खारिज कर दिया जाना, अन्य किसी संस्कृति के वैशिष्ट्य को अनदेखा कर दिया जाना, वास्तव में, पाश्चात्य सांस्कृतिक मूल्यों की सार्वभौमिक प्रायिकता की ऐसी पूर्वमान्यताओं पर आधारित था जिसकी अतार्किकता स्पष्टत: द्रष्टव्य थी। इस अतार्किकता को समझते हुए भी इसका प्रयोग किया जाना, यह सिद्ध करता है कि ऐसा सांस्कृतिक उपनिवेशवादी प्रवृत्ति के अन्तर्गत ही किया गया। वस्तुत: भारतीय दार्शनिक परम्परा खण्डन-मण्डन की पद्धति पर ही आधारित है। पूर्वपक्ष-खण्डन-उत्तरपक्ष की तार्किक पद्धति का प्रयोग सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों ने पद्धति के अनिवार्य अंग के रूप में किया। इस तर्क-विधान का अभाव जिस भी दार्शनिक कृति में पाया गया, न तो उस दार्शनिक कृति को और न ही उसके दार्शनिक को चिन्तन परम्परा में कोई स्थान मिल पाया। भारतीय दर्शन की युक्ति-युक्तता की इस विशिष्टता को इस आलेख में समीचीन स्थान दिया गया है।

आलेख के आरम्भ में तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा को परिभाषित करने की दार्शनिक समस्याओं को उद्घाटित करते हुए यह स्वीकार किया गया है कि यह केवल तुलना नहीं बल्कि ऐसी तुलना है जो समाजों, संस्कृतियों और सभ्यताओं के बीच की जाती है। इस पद्धति से भली-भाँति परिचित पाश्चात्य ने अपनी विचारधारा को इस प्रकार स्थापित करना शुरू किया जिससे "इस धारणा को बहुत बल मिला कि जो भी उचित रूप से ज्ञान कहा जाने योग्य है उन सबकी सार्वभौमिक सत्यता का अन्वेषण पश्चिम में ही हो रहा है। इस प्रकार इसे ऐसी सार्वभौमिक रूप से स्वीकार्य कसौटी के रूप में देखा गया जिससे किसी भी संस्कृति और समाज को न केवल ज्ञान के इन नवोपलब्ध क्षेत्रों में परखा जा सकता है बल्कि किसी भी क्षेत्र में परखा जा सकता है, चाहे उनका इन क्षेत्रों से कोई सम्बन्ध हो और चाहे नहीं हो"। ध्यातव्य है कि ऐसी धारणा की स्थापना में न केवल पाश्चात्य अपितु कतिपय भारतीय दार्शनिकों ने भी योगदान दिया क्योंकि इन्होंने "पाश्चात्य समाजों को अपने दृष्टिकोण से देखने के बजाय पाश्चात्य विद्वानों द्वारा देखे गये मानदण्डों को ही स्वीकार कर लिया और वे

यह सिद्ध करने के प्रयत्न में जुट गए कि उनकी अपनी संस्कृति ने विभिन्न क्षेत्रों में पाश्चात्य संस्कृतियों की उपलब्धियों से तुलनीय उपलब्धियाँ की हैं और वे किसी भी प्रकार से उनसे कम नहीं हैं"। प्रो.दया के अनुसार, "इस परिस्थिति ने ऐसे अध्ययनों के उद्‌भव को अवरूद्ध कर दिया जिन्हें तुल्य तुलनात्मक अध्ययन कहा जा सकता है और जो इन क्षेत्रों में अधिक संतुलित अध्ययनों के आधार बन सकते हैं"।

दो बातें जो विशेष रूप से इस आलेख से निगमित होती प्रतीत होती हैं, वे यह कि (१) भारतीय दार्शनिकों के लिए तुलनात्मक दर्शन के क्षेत्र में जो प्रमुख समस्या रही है, वह है भाषायी बाध्यता। संस्कृत को अंग्रेजी में अनुवाद करके किए जाने वाले तुलनात्मक अध्ययनों में उन तत्त्वों में मेल बैठाना मुश्किल होता है जो भाषायी जीवन के अभिन्न अंग होते हैं क्योंकि प्रत्येक भाषा स्वयं एक विशिष्ट जीवन-आकार होती है। और, (२) युरोप की आर्थिक, वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिकी तथा अन्य क्षेत्रों में उन्नत स्थिति ही तुलनात्मक दर्शन के क्षेत्र में पाश्चात्य के प्रतिमानों के छाये रहने का आधार बनी।

दया जी यह स्वीकार करते हैं कि पाश्चात्य प्रतिमानों के सांस्कृतिक अतिक्रमण की स्थिति इतनी भयावह है कि "इससे बचने का कोई रास्ता दिखाई नहीं देता, सिवाय इसके कि विभिन्न संस्कृतियों से सम्बन्धित एक विषय के विद्वान संस्कृति-केन्द्रकता के दुष्चक्र के अतिक्रमण के लिए संयुक्त प्रयत्न करें।"

सांस्कृतिक विघटन की भयावह स्थिति से बचने का यही एक रास्ता होने का कारण यह है कि तुलनात्मक अध्ययन की युक्ति-युक्त और सर्वांगीण स्थिति वही होगी जिसमें "किसी भी वस्तु-स्थिति को दोनों दिशाओं से देखा जाए, अर्थात् यह देखा जाए कि प्रत्येक अन्य के दृष्टिकोण से कैसा दिखाई देता है। दूसरे को देखने, अथवा दूसरे को अपनी पदावली में समझने, जाँचने और मूल्याँकन करने के इस खेल में किसी संस्कृति अथवा परंपरा को वरीयता नहीं मिलनी चाहिए।"

इस प्रकार प्रो.दया जी ने तुलनात्मक दर्शन में ऐसी सार्वभौमिकता पर बल दिया है जिसमें सांस्कृतिक वैशिष्ट्य के लिए पर्याप्त स्थान हो और जिसमें किसी भी संस्कृति के अदृष्ट आयाम को व्याख्यायित करने का प्रयास एक नये सिरे से किया जाए।

(२) तुलनात्मक दार्शनिक पद्धति की तार्किक स्थापना को दो या अधिक दार्शनिक प्रणालियों के बीच तुलना की प्रासंगिकता और सार्थकता की व्याख्या के बिना वास्तविक आधार नहीं प्रदान किया जा सकता है। ऐसी व्याख्या दो प्रकार की हो सकती है : (क) प्रथम, तुलनात्मक और अ-तुलनात्मक पद्धतियों की विशिष्टताओं के विवेचन

के द्वारा यह स्पष्ट करना कि इन दोनों पद्धतियों के अन्तर्निहित उद्देश्यों और प्राप्य निष्कर्षों में अन्तर होता है। उद्देश्यों और निष्कर्षों की इन विभिन्नताओं के कारण ही किसी पद्धति का प्रतिस्थापन किसी दूसरी पद्धति के द्वारा नहीं किया जा सकता। इस प्रकार, तुलनात्मक पद्धति के उद्देश्यों और निष्कर्षों की विशिष्टता ही इस प्रकार के अध्ययन का समर्थन करती है। यह विशिष्टता तुलना और अ-तुलना के बीच तुलना के द्वारा स्थापित की जा सकती है। (ख) द्वितीय, तुलनात्मक दार्शनिक पद्धति को केवल भिन्न-भिन्न दार्शनिक प्रणालियों के बीच की समानताओं और असमानताओं की विवेचना के रूप में न लेते हुए इसे दार्शनिक प्रणाली ही माना जाए। प्रो. अरविन्द कुमार राय ने अपने आलेख 'दर्शनशास्त्र में तुलना बनाम अ-तुलना : तुलनात्मक दर्शन के लिए पहल' में तुलनात्मक दर्शन की स्थापना के लिए प्रथम व्याख्या को स्वीकार किया है। इस आलेख में वह दूसरी व्याख्या को भी स्थान प्रदान करते हैं, जैसा कि वह मानते हैं कि, "तुलनात्मक दर्शन और दर्शन के बीच का सम्बन्ध तुलनात्मक धर्म और धर्म के बीच के सम्बन्ध की तरह नहीं है। तुलनात्मक दर्शन, एक प्रकार का दर्शन है परन्तु तुलनात्मक धर्म, धर्म का प्रकार नहीं है। तुलनात्मक धर्म और धर्म के बीच का सम्बन्ध वाह्य होता है जबकि तुलनात्मक दर्शन और दर्शन की स्थिति में सम्बन्ध अन्तः होता हैं। सम्बन्ध की आभ्यन्तरता के कारण तुलनात्मक दर्शन, दर्शन से वास्तविक ढंग से सम्बद्ध होता है जबकि तुलनात्मक धर्म, धर्म से सम्भाव्य ढंग से सम्बद्ध होता है।"

उन्होंने तुलनात्मक दर्शन की निरर्थकता को स्थापित करने में प्रयुक्त जिन तीन आधारवाक्यों के विरूद्ध तर्क प्रस्तुत किया है, वे हैं : (१) अन्तः और वाह्य संरचनागत विशिष्टता के कारण किसी दार्शनिक प्रणाली या कृति को इसकी किसी अन्य प्रणाली से तुलना के द्वारा नहीं बल्कि इसकी विशिष्टता के अध्ययन के द्वारा ही इसे समझा जा सकता है। (२) तुलना को सादृश्यता के अर्थ में लेने पर किसी एक ही दार्शनिक परम्परा से सम्बद्ध दो दार्शनिक प्रणालियों की तुलना तो की जा सकती है लेकिन दो भिन्न दार्शनिक परम्पराओं से सम्बद्ध दार्शनिक प्रणालियों की तुलना नहीं की जा सकती। (३) मूल्याँकन के अर्थ में भी तुलनात्मक अध्ययन संगत नहीं क्योंकि मूल्याँकन का उद्देश्य किसी प्रणाली की संगतता की जाँच करना होता है जो किसी भी प्रणाली की विशिष्ट सीमाओं के अन्दर ही हो सकता है। तुलनात्मक दर्शन के विरूद्ध प्रायः प्रयुक्त इन आधारवाक्यों के विरूद्ध राय ने जिस तर्क को प्रस्तुत किया है, उसके आधार इस प्रकार हैं : (अ) तुलना की सापेक्षिक पद्धति ऐसे प्रश्नों को उठाती है जिनसे प्रणाली विशेष के अन्दर निरपेक्ष अध्ययन सम्बद्ध नहीं होता है। (ब) दो

भिन्न परम्पराओं के दर्शनों के बीच की तुलना, समान पृष्ठभूमि वाले दर्शनों के बीच की तुलना की अपेक्षा अधिक सार्थक होती है। (स) तुलना की क्रिया मानवीय सम्प्रत्ययात्मक चेतना में ही अनुस्यूत होती है। इसलिए विकल्प तुलना करने और न करने के बीच न होकर, विभिन्न विशषताओं वाली तुलनाओं के बीच में ही होता है।

प्रो.राय ने इन तीनों आधारवाक्यों के द्वारा न केवल तुलनात्मक दर्शन के विरूद्ध दिए गये उपर्युक्त तीनों आधारवाक्यों का खण्डन किया है बल्कि उन्होंने इन्हीं के द्वारा तुलनात्मक पद्धति की सार्थकता और संभावना को भी स्पष्ट किया है।

प्रो. राय के प्रथम आधारवाक्य, यह कि तुलनात्मक पद्धति ऐसे विशिष्ट प्रश्नों पर प्रकाश डालती है जो कि विशिष्ट प्रणाली के अपने ही सन्दर्भों की सीमा में किए गये अध्ययन में छिपे रहते हैं, से किसी को कोई आपत्ति शायद न हो। तथापि, ध्यातव्य है कि तुलनात्मक दर्शन, दर्शन की विशिष्ट प्रणाली के जिन आयामों को उजागर करता है वे उस प्रणाली का अनिवार्य अंग नहीं होते हैं क्योंकि उस प्रणाली की ग्राह्यता के लिए इन्हें जानना आवश्यक नहीं होता है। ये आयाम किसी भी सत्ता की अधिसंरचना की तरह होते हैं। किसी भी सत्ता की अधिसंरचना उसकी विशिष्टता को स्पष्ट नहीं करती है। तुलना जिन प्रश्नों से रूबरू. होती है वे उस सत्ता के अतिक्रामी होते हैं और इसलिए उस सत्ता की विशिष्टता में इनकी प्रासंगिकता पर प्रश्नचिन्ह तुलना और अ-तुलना के बीच विवाद का आधार होता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि, जैसा कि विट्गेन्स्टाइन स्पष्ट करते हैं, किसी भी भाषायी अभिव्यक्ति को उसके सन्दर्भों की विशिष्टता में ही समझा जा सकता है। विशिष्ट परिवेश के बाहर किसी भी विशिष्ट भाषायी अभिव्यक्ति या कृति की अर्थवत्ता की स्थापना, जिससे तुलनात्मक पद्धति अनिवार्यत: जुड़ी होती है, का प्रयास सार्थक नहीं हो सकता। तो क्या ऐसी स्थिति में तुलनात्मक पद्धति की कोई सार्थकता ही नहीं ? ऐसा भी नहीं है। यहाँ मेरा तात्पर्य प्रो. राय के उन आधारवाक्यों पर टिप्पणी करना ही है जो उनके अनुसार तुलनात्मक दर्शन की स्थापना का मार्ग प्रशस्त करते हैं। वस्तुत: विभिन्न प्रकार की भाषायी अभिव्यक्तियाँ, परोक्ष या अपरोक्ष रूप से, एक दूसरे से जुड़ी होती हैं। इस प्रकार, विशिष्ट दार्शनिक प्रणाली की अ-तुलनात्मक पद्धति और विशिष्ट दार्शनिक प्रणालियों से अतिक्रामी तुलनात्मक दर्शन की पद्धति के बीच सादृश्यता के अन्वेषण से तुलनात्मक दर्शन की प्रासंगिकता को स्पष्ट किया जा सकता है।

'सादृश्यता' के सम्प्रत्यय का प्रयोग प्रो. राय ने पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष के दूसरे आधारवाक्यों में क्रमश: तुलनात्मक पद्धति की अप्रासंगिकता और प्रासंगिकता को स्थापित करने के लिए किया है। जहाँ पूर्वपक्ष का आधारवाक्य यह स्थापित करता है

कि तुलना केवल समान परम्परा की दार्शनिक पद्धतियों में तर्कसंगत होती है, उत्तरपक्ष ऐसी तुलना को सतही मानकर भिन्न परम्परा की पद्धतियों के बीच तुलना को मूल्यवान इस आधार पर मानता है कि ऐसी तुलना मनुष्य की सामूहिक जड़ता या पराचैतन्यता में मूलित होती है। प्रो. राय के पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष के इन आधारवाक्यों की सादृश्यता के समान और असमान परम्पराओं के बीच तुलना के सतहीपन और गम्भीरता के विचार के प्रसंग में उल्लेखनीय है कि भाषायी अभिव्यक्तियों या दार्शनिक प्रणालियों, जो परस्पर तुलना के विषय हैं, के बारे में यह स्थापित करना कि वे समान परम्परा या असमान परम्पराओं से सम्बद्ध हैं, एक समस्या-ग्रस्त विचार है। दार्शनिक प्रणालियाँ जिन सम्प्रत्ययों में परिवेष्ठित होती हैं, उनकी देशज्-कालज् उत्पत्ति के आधार पर, एक दूसरे से समानता या भिन्नता को दर्शाना पूर्वाग्रहपूर्ण हो सकता है। और, ऐसा भी हो सकता है कि विभिन्न देश-काल की पृष्ठभूमि की दार्शनिक प्रणालियों के सम्प्रत्ययों में ऐसी समानताएँ हों जिन पर विचार ही नहीं किया गया है (जैसा कि दयाकृष्ण ने अपने आलेख में इसे स्पष्ट किया है)। पुनश्च, यहाँ पर यह भी विचारणीय है कि पूर्णत: भिन्न दार्शनिक प्रणालियों के बीच तुलना स्थापित ही नहीं की जा सकती। इसे विट्गेन्स्टाइन का 'पारिवारिक सादृश्यता' का विचार स्पष्ट करता है जिसके अनुसार अभिव्यक्ति के विभिन्न अर्थों की पृष्ठभूमि में पारिवारिक सादृश्यता (*फेमिली रिजम्ब्लेन्स*) होती है - दो अभिव्यक्तियाँ एक दूसरे से इसी सादृश्यता के कारण ही जुड़ी होती हैं। यह विचार दो प्रणालियों की तुलना पर भी आरोपित करते हुए यह कहा जा सकता है कि जिन दो प्रणालियों के बीच सादृश्यता स्थापित की जा रही है उनमें ऐसी सादृश्यता की स्थापना का कोई न कोई आधार अवश्य होता है, जैसा कि यशदेव शल्य ने अपने आलेख 'तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा' में स्पष्ट किया है कि "किसी गाय और मेज के रंग में समानता होने पर भी कोई गाय और मेज में तुलना के लिए प्रेरित नहीं होगा, किन्तु गाय और चींटी में कोई प्रकट समानता नहीं होने पर भी व्यक्ति इनमें तुलना के लिए प्रेरित हो सकता है। यहाँ की प्रेरणा किसी ऐसे मूल लक्षण या आधार की कल्पना से होगी जो इन दोनों के बीच प्रकट भेदों के मूल में रहकर इनका धारण करता है।"

पूर्वपक्ष के तीसरे आधारवाक्य, जिसमें तुलना को मूल्याँकन के अर्थ में लेते हुए प्रणालीगत अन्त:संगतता के आधार पर तुलना को अस्वीकार किया जाता है, के खण्डन के लिए उत्तरपक्ष के तीसरे आधारवाक्य में प्रो. राय ने यह स्थापित किया है कि मूल्याँकन के इस अर्थ में तुलना आवृत्त (*क्लोज्ड*) होती है और इस प्रकार हमारे सामने विकल्प आवृत्त और अनावृत्त (*ओपेन*) तुलनाओं के बीच होता है न कि तुलना और

अतुलना के बीच का। इस आलेख में मूलतः जिन दो अर्थों में तुलना को प्रतिपादित किया गया है – सादृश्यता और मूल्यॉकन – उसमें से 'मूल्यॉकन' के अर्थ के द्वारा प्रमुखतः तुलनात्मक पद्धति की सार्थकता को स्थापित करने का प्रयास किया गया है। तुलना को अनिवार्यतः सभी दार्शनिक प्रणालियों का मूल इस आधार पर माना गया है कि "तुलना चेतना में अवस्थित होती है। चेतना चयनात्मक होती है। चुनाव इच्छा को आवेष्ठित किए होता है और इच्छा तुलना के द्वारा संचालित होती है। जहाँ पर इच्छा की गुंजाइश होती है वहाँ पर तुलना की भी गुंजाइश होती है। तुलना हमारी स्वतन्त्रता की प्रतीक होती है। हम इच्छा का त्याग किए बिना तुलना का त्याग नहीं कर सकते।" इस प्रकार तुलना एक तरह से मूल्यॉकन ही है – यह एक ऐसी चेतना है जो प्रत्येक दार्शनिक प्रणाली का अनिवार्य अंग होती है, जिससे किसी भी तरह से बचा नहीं जा सकता है।

परन्तु इस तर्क में प्रो.राय चक्रक एवं संहति के दोषों से बच नहीं पाते हैं। प्रथमतः वह पूर्वपक्ष में यह मान लेते हैं कि तुलना को मूल्यॉकन के अर्थ में भी लिया जा सकता है, फिर इस प्रतिज्ञप्ति के द्वारा वे यह स्थापित करते हैं कि किसी भी दार्शनिक कृति में तुलना से बचा नहीं जा सकता है क्योंकि चयन या मूल्यॉकन अनिवार्यतः चेतना का ही भाग होता है। यहाँ पर प्रो. राय के विचार को स्वीकार करने में दो समस्याएँ द्रष्टव्य हैं : (क) क्या तुलना को मूल्यॉकन के अर्थ में ही लिया जा सकता है? (ख) क्या किसी दार्शनिक प्रणाली विशेष के अ-तुलनात्मक अध्ययन में मूल्यॉकन की भूमिका अनिवार्य नहीं होती है ?

इन प्रश्नों को निरर्थक नहीं माना जा सकता क्योंकि जैसा कि प्रो. राय स्वयं अपने आलेख के निष्कर्ष में यह स्वीकार करते हैं कि तुलनात्मक दर्शन, दर्शन के सामान्य आयामों की तथा अ-तुलनात्मक दर्शन, दर्शन के विशिष्ट आयामों की सशक्त पद्धति है। परन्तु प्रो.राय की इस स्वीकारोक्ति से परे जाकर, ये प्रश्न, प्रो. राय के तुलनात्मक पद्धति के पक्ष में प्रस्तुत प्रमुख आधार, अर्थात् 'मूल्यॉकन' की सार्थकता के पुनर्विमर्श पर बल देते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि 'तुलना बनाम अ-तुलना' के केस में प्रो.राय के द्वारा तुलना के पक्ष में प्रस्तुत पहल, प्रतिवाद या पुनर्विमर्श के परे नहीं है। फिर भी, इस आलेख का अनुवाद करते समय मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि इसमें प्रयुक्त विभिन्न सम्प्रयय बार-बार इस प्रकार उपस्थित होते हैं जैसे कि वे इस प्रकार एक ऐसे अंगिरूप साकल्य (*ऑरगेनिक होल*) की रचना कर रहे हों जिसका कि प्रत्येक भाग निश्चित तर्क को प्रस्तुत करते हुए अन्य तर्कों से पूरी तरह सम्बद्ध हो।

(३) वास्तव में, तुलनात्मक दर्शन के सम्प्रत्यय तथा पद्धति के स्वरूप की

अनिश्चितता ही इस प्रकार के अध्ययन की मूल समस्या रही है। इसलिए अनेक विचारक 'तुलनात्मक दर्शन' की स्पष्ट व्याख्या की असफलता को ही इस दार्शनिक पद्धति के संवर्द्धन के मार्ग में आने वाली प्रमुख रूकावट मानते हैं। इसी कारण लगभग सभी तुलनात्मक दार्शनिकों ने तुलनात्मक दर्शन की विषय-वस्तु और इसकी पद्धति को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। अपने इस प्रयास में प्रो.अरविन्द कुमार राय जैसे दार्शनिक तुलनात्मक दर्शन की संभावना को स्वीकार करते है, जबकि प्रो.मोरेश्वर प्रसाद मराठे के अनुसार इसके स्वरूप, विषय-वस्तु एवं उद्देश्य की अस्पष्टता के कारण यह एक तरह के अर्थहीन प्रयास के अतिरिक्त और कुछ नहीं। प्रो.मराठे के आलेख 'तुलनात्मक दर्शन : संकल्पना, उद्दिश्ट, समस्याएँ और संभावना' को तुलनात्मक दर्शन के विविध आयामों पर पद्धति-विषयक उन तमाम पूर्व मान्यताओं पर प्रश्न के रूप में लिया जा सकता है जिन पर प्रायः हम प्रश्न उठाने की आवश्यकता ही महसूस नहीं करते। इसके प्रथम भाग 'उद्दिश्ट', जो कि इस आलेख की भूमिका है, को यदि छोड़ दिया जाए तो इसके पाँच भाग तुलनात्मक दर्शन के विविध आयामों से जुड़े हैं : (१) तुलनात्मक अध्ययन की पृष्ठभूमि (२) ऐतिहासिक पृष्ठभूमि (३) तुलनात्मक दर्शन का ढाँचा (४) तुलनात्मक दर्शन की संकल्पना और उसके नियामक, और (५) तुलनात्मक दर्शन का उद्दिश्ट।

आलेख का प्रथम भाग तुलनात्मक अध्ययन की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि तथा द्वितीय भाग तुलनात्मक दर्शन के आर्विभाव की ऐतिहासिकता पर प्रकाश डालता है। मराठे जी के अनुसार यद्यपि तुलनात्मक अध्ययन का प्रारम्भ युरोप का विश्व के अन्य देशों के साथ सम्पर्क होने के साथ ही हो गया था किन्तु युरोपीय दार्शनिकों के इस पूर्वाग्रह के कारण कि उनकी संस्कृति ही श्रेष्ठ है, इस दार्शनिक पद्धति का विकास नहीं हो सका। पुनश्च, उनके अनुसार दो संस्कृतियों के समीपतर होने से उपजे तुलनात्मक प्रश्नों के अविश्लेषित रह जाने का कारण भारतीय और अफ्रीकी दर्शनों में धर्म के तत्त्व का समावेश होना भी रहा है। मराठे जी के इस विचार से शायद किसी को कोई असहमति न हो। फिर भी, यह प्रश्न यहाँ अनुत्तरित रह जाता है कि जिस काल के भारतीय और अफ्रीकी दर्शनों के बारे में ऐसा कहा जा रहा है, उस काल के पाश्चात्य दर्शन में क्या हो रहा था? क्या उस काल में पाश्चात्य दर्शन धर्म से पूर्णतः विलग था? और, क्या भारतीय दर्शन में धार्मिक तत्त्वों के बावजूद युक्ति-युक्तता नहीं है? इन प्रश्नों के परिप्रेक्ष्य में भारतीय और अफ्रीकी दर्शन की उपर्युक्त प्रकृति के तुलनात्मक अध्ययन के विकास में बाधक बनने के मराठे जी के विचार से सहमत होना शायद आसान नहीं होगा।

आलेख के दूसरे भाग में तुलनात्मक दर्शन के विभिन्न भारतीय और पाश्चात्य दार्शनिकों तथा संस्थानों का उल्लेख है। किन्तु इस आलेख का निषेधात्मक निष्कर्ष ऐसे अध्ययनों की महत्ता पर ही प्रश्न-चिन्ह लगाता है।

अगला भाग 'तुलनात्मक दर्शन का ढाँचा' मुख्यतः तुलनात्मक दर्शन की पद्धति पर विभिन्न प्रकार के प्रश्नों का संकलन है। इसमें तुलनात्मक दर्शन के ढाँचे, तुलना की कसौटी, दृष्टिकोण इत्यादि पर ऐसे द्वन्द्वात्मक प्रश्न किए गये हैं जो हेतुहेतुमदीय तथा उभयतोपाश प्रवृत्ति के हैं और जिनका उद्देश्य अन्ततः तुलनात्मक दर्शन की सीमाओं का उद्घाटन ही है। यह इससे सिद्ध होता है कि इस भाग के अन्त में वह इस पद्धति की नवीनता को इसके अविकसित होने का कारण मानने से अस्वीकार करते हैं। प्रो.मराठे के शब्दों में, "अगर यह पूछा जाए कि तुलनात्मक दर्शन का ढाँचा स्पष्ट तथा निःशंक रूप से अभी तक क्यों नहीं हो पाया? तो कहा जाता है कि उक्त-शिक्षा अभी युवा है इसलिए। लेकिन कई शिक्षाएँ इसी शताब्दी में ही नहीं बल्कि इसी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उद्भूत हो जाने के बावजूद विकसित हुईं तथा उनके अध्ययन का ढाँचा भी काफी स्पष्ट हो चुका है। ऐसी स्थिति में तुलनात्मक दर्शन को ही अपवाद-स्वरूप क्यों स्वीकार करें ?

आलेख अपने तीसरे भाग 'तुलनात्मक दर्शन की संकल्पना और उसके नियामक' में संकल्पनात्मक नियामकता के विभिन्न विकल्पों पर प्रश्न-चिन्ह लगाते हुए उन सबको खारिज़ कर देता है। इसी प्रकार, इसके 'तुलनात्मक दर्शन का उद्दिष्ट' भाग में परस्पर विरोधी स्थितियों, विकल्पों और विचारों को तर्कतः स्थापित करने की कोशिश की गई है। इन सभी निषेधात्मक स्थापनाओं का निष्कर्ष आलेख के अन्तिम भाग 'दार्शनिक सिद्धान्त के बारे में ध्यातव्य बिन्दु' में निगमित होता प्रतीत होता है, जिसके अनुसार, "आजकल अपने देश में तुलनात्मक दर्शन के नाम पर आम तौर पर जो कुछ हो रहा है वह दुर्भाग्यवशात् न सार्थकतया दर्शन का यथेष्ट अध्ययन है और न ही तुलनात्मक दर्शन का।.........तो ऐसी स्थिति में आज अपने देश में तुलनात्मक दर्शन के नाम पर जो कुछ अध्ययन या अनुसंधान किया जा रहा है, वह क्या है? एक बड़ा भूल-भुलैया, जिसमें हम स्वयं फँसे हैं, और दुर्भाग्यवशात् यह जानने के कारण दूसरों को उल्लू बनाने में ही बहुशः अपनी दार्शनिक इतिकर्त्तव्यता मानते हैं।"

अतः प्रो.मराठे का सुझाव यह है कि "तुलनात्मक दर्शन के भूल-भुलैये के चक्कर में आने के बजाय किसी एक प्रधान दार्शनिक या दार्शनिक परम्परा का ईमानदारी से, परिश्रमपूर्वक प्रामाणिक अध्ययन आरम्भ करें।" प्रो.मराठे के अनुसार, यदि हमें किसी एक दार्शनिक परम्परा का शुद्धरूप से ज्ञान नहीं है तो तुलनात्मक

दर्शन का आधार ही क्या है? विशेष रूप से तब जबकि इस दर्शन का स्वरूप ही अनिश्चित हो। परन्तु प्रो.मराठे इस प्रश्न से नहीं बच सकते कि क्या अध्ययन से पहले किसी विशिष्ट दार्शनिक प्रणाली के स्वरूप का निर्धारण अनिवार्य होता है ? क्या यह नहीं माना जा सकता है कि प्रकृति अनिर्धारण की स्थिति तुलनात्मक दर्शन की अपनी विशिष्टता है ?

प्रो.मराठे आलेख के प्रारम्भ में ही अपने श्रोताओं से यह स्थापित करते हैं कि हो सकता है कि हिन्दी में होने के कारण उनके वक्तव्य में प्रवाह तथा पैनेपन की कमी हो। इस आलेख की प्रूफ-रीडिंग के दौरान मुझे ऐसा महसूस हुआ कि सचमुच ही प्रतिपाद्य विषय के गाम्भीर्य की अपेक्षा इसकी भाषायी प्रवाहनीयता यत्र-तत्र जो बाधित हो रही है उसका कारण यही है कि शायद ऐसे दार्शनिक विचारों की भाषायी अभिव्यक्ति की यही नियति ही हो। एक-एक शब्द और वाक्य को जोड़ते-घटाते, आगे-पीछे करते इस नियति की असंभाव्यता के ह्रास की मेरी कोशिशों में शायद कहीं कोई कमी रह गयी हो। फिर भी, इससे इस आलेख के प्रतिपाद्य विषय के विहंगम परिदृश्य की संप्रेषणता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, ऐसी मेरी मान्यता है।

(४) तुलनात्मक दर्शन सम्भव है या नहीं, इस विषय पर दार्शनिक विमर्श भी एक विशिष्ट दृष्टिकोण से तुलनात्मक दर्शन ही होता है। इसका कारण यह है कि तुलनात्मक दर्शन भी एक प्रकार का दर्शन ही होता है। दर्शन की संभावना के अन्त या दर्शन शास्त्र के अन्त (*इन्ड ऑफ फिलॉसोफी*) के लिए दिए गये तर्कों ने पाश्चात्य दर्शन में एक नवीन दार्शनिक प्रणाली की स्थापना ही की है न कि दर्शन का सचमुच अन्त। वस्तुत: यही स्थिति तुलनात्मक दर्शन के बारे में लागू होती है - यहाँ पर भी तुलनात्मक दर्शन के अन्त के तर्क, वास्तव में, तुलना की दार्शनिक पद्धति में प्रयुक्त हो सकते हैं और इस प्रकार तुलनात्मक दर्शन के विकास में हेतु बन सकते हैं। तो क्या तुलनात्मक दर्शन के विषय-क्षेत्र के बारे में नकारात्मक प्रतिज्ञप्तियों को इसके सकारात्मक कथनों की तरह ही लिया जाए ? प्रो. अशोक कुमार वर्मा अपने आलेख 'तुलनात्मक दर्शन : उद्देश्य एवं उपलब्धियाँ' में इस विवाद में नहीं पड़ना चाहते। आलेख के प्रारम्भ में ही वे यह स्पष्ट करते हैं कि तुलनात्मक दर्शन की कोई सर्वमान्य विषय-वस्तु, पद्धति या उद्देश्य न होने के कारण अभी तक यहाँ के विद्वान इसी समस्या से जूझ रहे हैं कि तुलनात्मक दर्शन सम्भव है या नहीं। द्रष्टव्य है कि तुलनात्मक दर्शन की संभावना के बारे में यदि प्रो. अरविन्द कुमार के विचारों को पक्ष (*थेसिस*) तथा मराठे जी के विचारों को उसका प्रतिपक्ष (*एन्टी-थेसिस*) माना जाए तो प्रो. अशोक जी का विचार इन दोनों का संपक्ष (*सेन्थिसिस*) है। प्रो. राय तुलनात्मक

दर्शन की संभावना को स्वीकार करते हैं तो प्रो.मराठे इसकी संभावना एवं प्रयोजन पर ही प्रश्न-चिन्ह लगाते हैं। इन दोनों विचारों के परस्पर व्याघात को दूर करते हुए प्रो. वर्मा इस पचड़े में पड़ना ही नहीं चाहते। तुलनात्मक दर्शन की संभावना और इसकी असंभावना के तर्कों से परे यह आलेख इसकी विशिष्टताओं का अवगाहन करता है। यह अपेक्षाकृत संक्षिप्त आलेख तुलनात्मक दर्शन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, तुलना की पूर्वमान्यताएँ, तुलनात्मक दर्शन की आवश्यकता और तुलनात्मक दर्शन का उद्देश्य, इन चार भागों में विभक्त हैं।

यह आलेख तुलनात्मक दर्शन की ऐतिहासिकता को अनिश्चित मानते हुए प्राचीन काल में विभिन्न धर्मानुयायियों द्वारा दूसरे देशो में धर्म-प्रचार या अध्ययन को तुलनात्मक दर्शन की संज्ञा नहीं देता है। आलेख के अगले भाग 'तुलना की पूर्वमान्यताएँ' में किसी भी पदार्थ की आकस्मिक और वाह्य विशेषताओं को इसकी मौलिक और आन्तरिक विशेषताओं से भिन्न बताते हुए तुलनात्मक दर्शन का सम्बन्ध दूसरी प्रकार की विशेषताओं, न कि पहली प्रकार की विशेषताओं, से माना गया है। इसका आधार यह है कि मौलिक और आन्तरिक विशेषताएँ पदार्थ का सारतत्त्व होती हैं - 'ऐसा सारतत्त्व जिनके कारण वह पदार्थ अन्य पदार्थों से भिन्न है और उसका अपना स्वरूप है जिनके कारण उसका नामकरण होता है'। ये विशेषताएँ यह स्पष्ट करती हैं कि तुलनात्मक दर्शन का आधार दो या दो से अधिक वस्तुओं में समानताएँ और असमानताएँ दोनों होती हैं। इसका एक अन्य कारण यह भी है कि दो दर्शनों को न तो पूर्णतः समान और न ही पूर्णतः असमान कहा जा सकता है। दर्शनों की परस्पर समानता और असमानता के अलावा तुलना के लिए दर्शनों की पृष्ठभूमि को भी ध्यान में रखना आवश्यक होता है। तुलनात्मक दर्शन की आवश्यकता के बारे में प्रो. अशोक कुमार वर्मा का मन्तव्य है कि "जिस प्रकार मनुष्य के लिए विचार करना स्वाभाविक क्रिया है, उसी प्रकार अन्य दार्शनिक विचारों से परिचित होने पर उनका तुलनात्मक अध्ययन भी स्वाभाविक है। आवश्यकता है खुले मस्तिष्क से समानता और असमानता परखने की।" अन्त में, तुलनात्मक अध्ययन के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए इस आलेख का निष्कर्ष है कि इसका उद्देश्य होना चाहिए : 'दर्शन बिना किसी परिधि के' (*फिलॉसोफी विदाउट फ्रन्टियर्स*)। प्रो.वर्मा के अनुसार इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विभिन्न दर्शनों की परस्पर समानता और असमानता को स्पष्ट करते हुए उनमें परस्पर समन्वयात्मक दृष्टिकोण विकसित करना होगा।

विचारणीय है कि 'विश्व दर्शन' की स्थापना के लिए वर्मा जी ने जिस 'दर्शन बिना किसी परिधि के' की प्रस्तावना की है, उसका अर्थ क्या है ? परिधि का तात्पर्य

भौगोलिक सीमाओं से है अथवा पूर्वाग्रह रहित दर्शन से ? प्रत्येक दार्शनिक प्रणाली उस समाज की मान्यताओं और पूर्वाग्रहों की अतिक्रामी नहीं हो सकती जिसमें वह उत्पन्न होती है। विट्गेन्स्टाइन के 'जीवन के आकार' के इस विचार को श्री यशदेव शल्य ने अपने आलेख में स्पष्ट किया है परन्तु प्रो.वर्मा ने इन प्रश्नों को महत्वपूर्ण न मानते हुए विचारार्थ प्रस्तुत नहीं किया है।

(५) अपने आलेख 'तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा' के प्रथम भाग में श्री शल्य जी तुलनात्मक दर्शन की परिसीमा का निर्धारण करते हैं जिसके अनुसार, "तुलनात्मक दर्शन का कार्य विभिन्न दार्शनिक प्रयत्नों और स्थापनाओं में तुलना के माध्यम से उस आधार तत्त्व का संधान करना होना चाहिए जो इन प्रयत्नों की भिन्नता को धारण करता है।" इस आलेख के अनुसार, तुलना का प्रसंग वास्तव में 'प्रकट समानताओं को लक्षित नहीं कर प्रकट असमानताओं के समान आधार की, और उस आधार पर से विभिन्नताओं के आर्विभाव के नियम की खोज' करना उन 'प्रत्ययों के समान है जो कभी वास्तविक हुए बिना उस वैविध्य को धारण करते हैं।' इसके अनुसार केवल दो दर्शनों की तुलना, जैसे शंकर और हेगेल के पूर्ण के प्रत्ययों की तुलना, मूलगामी नहीं हो सकती। मूलगामी अध्ययन वही हो सकता है जो विभिन्न अभिनिवेशों के एक आधार से दूसरे को नि:सृत होते, अथवा विभिन्न प्रयत्नों को एक ही उद्देश्य की ओर उन्मुख देख सके। इसमें ऐसी मान्यता का भी खण्डन किया गया है जिसके अनुसार दो संस्कृतियों की तुलना उनकी अन्तर्निहित विशिष्टता के कारण नहीं की जा सकती है और इस प्रकार तुलनात्मक दर्शन की संभावना ही नहीं बनती। इस खंडन का आधार यह है कि यद्यपि विभिन्न संस्कृतियाँ स्वतन्त्र सामाजिक व्यक्तित्त्व होती हैं परन्तु वे ऐसे 'मूल अभेद' में आधारित होती हैं जो उनमें भिन्न-भिन्न प्रकार से विद्यमान होता है। यहाँ भारतीय और चीनी संस्कृतियों की विभिन्नताओं में एकता की खोज के सन्दर्भ में लाइब्नीज के चिद-बिन्दुओं का उल्लेख है। विचारणीय है कि शल्य जी ने इस प्रसंग में विट्गेन्स्टाइन के 'जीवन का आकार' (*फार्मस् आफ लाइफ*) के सम्प्रत्यय का विवेचन सांस्कृतिक विशिष्टता के रेखांकन के लिए पूर्वपक्ष के रूप में किया है जबकि यदि वह विट्गेन्स्टाइन के इस सम्प्रत्यय के साथ उनके पारिवारिक सादृश्यता (*फेमिली रिजम्ब्लेन्स*) के सम्प्रत्यय को जोड़कर देखते तो अपने उत्तर पक्ष के निष्कर्ष के समर्थन में युक्ति के रूप में इसका प्रयोग कर सकते थे।

इस आलेख के दूसरे भाग में विभिन्न तुलनात्मक दार्शनिक अध्ययनों के द्वारा विभिन्न दर्शनों की मूल संरचनाओं के जिन पक्षों पर विचार किया गया है उन्हें तीन भागों में रखा गया है : (१) विमर्शात्मक चेतना की विभिन्न विधाओं में तुलना के द्वारा

उनकी मूल संरचना का प्रकटीकरण, उदाहरणार्थ, मनस् के बारे में दार्शनिक और वैज्ञानिक अध्ययनों की तुलना के द्वारा आधारभूत संरचना की खोज। श्री शल्य यह मानते हैं कि इस प्रकार के अध्ययन का उद्देश्य विमर्शात्मक चेतना के विभिन्न रूपों का समन्वय होता है। (२) दो भिन्न संस्कृतियों के दर्शनों की तुलना। (३) एक ही सांस्कृतिक परम्परा के विभिन्न दार्शनिक सम्प्रत्ययों की परस्पर तुलना के द्वारा उनकी मूल संरचना को खोजना।

श्री शल्य जी ने प्रथम प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन के विवेचन को इस आलेख की परिसीमा से बाहर रखा है। वे यह स्वीकार करते हैं कि यदपि दूसरे प्रकार का तुलनात्मक अध्ययन हमारे देश में हुआ है किन्तु उसका प्रयोजन ही भ्रान्त था क्योंकि इसमें संस्कृति जैसे सजीव अवयवी को यन्त्रवत मानते हुए तुलना की गयी है, जिससे दार्शनिक प्रणाली के सांस्कृतिक वैशिष्ट्य को अनदेखा कर दिया गया। यदपि किस भारतीय दार्शनिक के बारे में उनकी यह टिप्पणी है, इसका उल्लेख उन्होंने नहीं किया है, फिर भी, बसुबन्धु और बर्कले, दिङ्नाग और कांट के दर्शनों, तथा सांख्य और डेकार्त के दर्शनों के बीच की समानताओं और असमानताओं की युक्ति-युक्त व्याख्या की है।

तीसरे प्रकार के तुलनात्मक दर्शन के अध्ययन में शून्यवाद, सांख्य और शांकर वेदान्त के दर्शनों की पारस्परिक तुलना के द्वारा इनके विचारों के मूल संरचनात्मक अन्तर को इनके कारणता के सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट करते हुए, इनकी आधारभूत संरचना की खोज के क्षितिज को अविवेचित ही छोड़ दिया गया है। यहाँ पर शल्य जी ने यह स्पष्ट किया है कि जगत् की व्याख्या में शंकर के विवर्तवाद और सांख्य के परिणामवाद से नागार्जुन का जगत् की निःस्वभावता का विचार भिन्न तो है परन्तु इनमें अन्तर केवल संरचनात्मक ही है।

इस आलेख के अन्तिम भाग में युनानी दार्शनिक सुकरात, प्लेटो और अरस्तु से लेकर आधुनिक दार्शनिक हाब्स, डेकार्त, कांट और हेगेल तथा समकालीन दार्शनिक रसल, मूर, हेयर, कार्नप न्युराथ, श्लिक, राइल और स्टीवेंसन का उल्लेख तुलनात्मक दर्शन के परिप्रेक्ष्य में हुआ है। इसके अतिरिक्त प्लेटो की *पार्मेनाइडीज़* तथा नागार्जुन की *विग्रहव्यावर्तनी* की संरचनात्मक दृष्टियों का समन्वयात्मक विवेचन भी किया गया है जो श्री शल्य जी के अनुसार तुलनात्मक दर्शन की सर्वोत्तम विधि के उदाहरण हैं। उनके अनुसार, "एक संस्कृति में निष्णात् दार्शनिक दूसरी संस्कृति के दार्शनिक के मूल अवधारण या कहें मूल प्रत्यय के अन्तर्गर्भ में अपने को प्रतिष्ठित कर उसको ग्रहण करें और उस ग्रहण के उन अन्य आयामों और अन्य संभावनाओं का अवगाहन करने का

प्रयत्न करें जिनको अध्येय दार्शनिक अपने सांस्कृतिक और व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों के कारण देख नहीं पाया। इस प्रकार का अध्ययन विभिन्न संस्कृतियों में परस्पर संवाद की संभावनाओं का पथ भी प्रशस्त करेगा।" विवेचनात्मक, विश्लेषणात्मक होने के साथ-साथ यह आलेख अत्यन्त ही समीक्षात्मक है। ऐसे तुलनात्मक दर्शन, जो कि दो दर्शनो या दार्शनिको के विचारों में सतही तौर पर विद्यमान समानता, या कहें 'कुछ अंगों की समानता' को उनके समन्वय का आधार बनाते हैं, का निराकरण करते हुए शल्य जी तुलनात्मक दर्शन की ऐसी विधि को ही उचित मानते हैं जो विभिन्नताओं में एकत्व की स्थापना करे।

यदपि यह विचारणीय है कि तुलनात्मक दर्शन की समुचित विधि कैसी होनी चाहिए, फिर भी, मेरी मान्यता यह है कि जो भी तुलना भिन्नता या समानता को दर्शाती है उसमें कहीं न कहीं समन्वयात्मक पहलू होता ही है और ऐसी स्थिति में किसी भी प्रकार की तुलना को निष्प्रयोजन और व्यर्थ नहीं माना जा सकता है। यहाँ ध्यान देने की बात यह होनी चाहिए कि किसी भी संस्कृति या दार्शनिक प्रणाली की विशेषताओं को महत्वहीन मानते हुए अनदेखा न किया जाए। इसे श्री शल्य स्वयं स्वीकार करते हैं और यही मुख्यतः अगले आलेख का प्रतिपाद्य विषय है।

(६) तुलनात्मक दार्शनिक पद्धति में किसी भी प्रकार की तुलना की अर्थवत्ता को इस पूर्वमान्यता के साथ स्वीकार कर लेने में किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि इसमें तुलनीयों के सांस्कृतिक वैशिष्ट्य की अक्षुण्णता के प्रति संवेदनशीलता को उस प्रकार कुंठित या पूर्वाग्रह-वशीभूत नहीं होने दिया जाए जिस प्रकार कतिपय पाश्चात्य दार्शनिकों ने प्राच्य की दार्शनिक प्रणाली के वैशिष्ट्य को एक सिरे से ही नकार दिया था। तुलनात्मक दर्शन में सांस्कृतिक वैशिष्ट्य के प्रति संवेदनशीलता की आवश्यकता को प्रो.रेवतीरमण पाण्डेय ने अपने आलेख 'तुलनात्मक दर्शन : एक समीक्षात्मक विश्लेषण' में स्पष्ट किया है। वे मानते हैं कि तुलनात्मक दर्शन में तुलनाएँ महज़ साहित्यिक बिम्ब-प्रतिबिम्ब की तुलनाएँ नहीं होती हैं क्योंकि इनमें सांस्कृतिक और सामाजिक विशिष्टताएँ, जिनमें समन्वयात्मक ऐक्य स्थापित करना ही तुलना का मुख्य उद्देश्य होता है, अन्तर्निहित होती हैं। तुलनात्मक दर्शन में प्राच्य और पाश्चात्य की दार्शनिक प्रणालियों एवं उनके सम्प्रत्ययों की तुलना तो की जाती है परन्तु प्राच्य और पाश्चात्य के विभाजन की कसौटी पर प्रायः विचार नहीं किया जाता। प्रो. पाण्डेय प्राच्य और पाश्चात्य के विभाजन की भौगोलिक स्थिति की कसौटी को आस्ट्रेलिया, रूस और दक्षिण अफ्रीका के सन्दर्भों में समस्या-ग्रस्त मानते हुए इस विभाजन को सापेक्षिक मानते हैं। 'प्राच्य' और 'पाश्चात्य' के बीच अन्तर उसी तरह

सापेक्षिक है जैसे आजकल 'पाश्चात्य' और 'आधुनिक' के बीच अन्तर सापेक्षिक है- जो कुछ भी पाश्चात्य है उसका अनिवार्यतः आधुनिक होना तथा जो कुछ आधुनिक है उसका अनिवार्यतः पाश्चात्य होना आवश्यक नहीं, क्योंकि आधुनिकता संस्कृति आधारित होती है न कि समाज की वाह्य संरचनागत। विडम्बना यह कि आजकल प्रत्येक सही चीज की कसौटी अमेरिका ओर युरोप की आर्थिक, वैज्ञानिक एवं तकनीकि उन्नति बन गयी है। इसके कारण ही आक्सफर्ड, केम्ब्रिज, हारवर्ड इस हद तक साधारण जनमानस में छा गये हैं कि आधुनिक भारतीय विश्वविद्यालयों ही नहीं बल्कि तक्षशिला और नालन्दा के तत्कालीन महत्व को पाश्चात्य संस्कृति के समर्थक पानी के बुलबुले से अधिक और कुछ नहीं समझते।

प्रो. रेवतीरमण पाण्डेय के अनुसार यद्यपि तुलनात्मक दर्शन को इस सदी की नवीन दार्शनिक विधा के साथ-साथ ऐसा अध्ययन माना गया जिसमें तुलना के द्वारा प्राच्य और पाश्चात्य दर्शनों के समन्वय पर बल दिया जाता है, परन्तु इस विधा के प्रारम्भिक दौर में इसमें पाश्चात्य दर्शन के मापदण्डों के आधार पर ही प्राच्य दर्शनों का तुलनात्मक मूल्याँकन किया गया जिससे भारतीय दर्शन को विश्व दर्शन में वह स्थान नहीं प्राप्त हो सका जो उसे प्राप्त होना चाहिए था तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हमारी मानसिकता पाश्चात्य बनती गयी। कतिपय पाश्चात्य दार्शनिकों के द्वारा भारतीय दर्शन की महत्ता की स्वीकृति का उल्लेख भी यहाँ किया गया है। प्रो. पाण्डेय के अनुसार, "गोथे, फिक्टे, शेलिंग, हेगेल, शॉपिनआवर, मैक्समूलर एवं डायसन ने भारतीय-विद्या की भूरि-भूरि प्रशंसा ही नहीं की, इनमें से अधिकांश ने अपने सम्पूर्ण जीवन को भारतीय-विद्या के प्रति समर्पित किया। ये सभी हमारे लिए ऋषिवत् परम पूज्य हैं। इन्होंने भारती के गौरव एवं माहात्म्य का भरपूर प्रचार और प्रसार किया।"

इस आलेख के अनुसार विभिन्न दर्शनों की विशिष्टताओं, उदाहरण के लिए, जापानी दर्शन की सौन्दर्यपरकता, पाश्चात्य दर्शन की बौद्धिकता, चीनी दर्शन की नैतिकता और भारतीय दर्शन की तात्त्विकता, के समन्वय से 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आदर्श को प्राप्त किया जा सकता है। इसी उद्देश्य के आलोक में प्रो. पाण्डेय भारतीय दर्शन पर पाश्चात्य मानसिकता द्वारा लगाये जाने वाले इस आक्षेप का, विभिन्न दृष्टांतो के द्वारा, निराकरण कर देते हैं कि 'यह वैराग्यवाद, मोक्षवाद एवं परलोकवाद का हिमायती है एवं इसका विश्वास तर्क तथा अनुभव से परे आप्तता, प्रातिभ साक्षात्कार अथवा प्रज्ञा में अधिक है'।

कई दार्शनिकों ने इस मन्तव्य का खण्डन किया है कि प्राच्य और पाश्चात्य के बीच आध्यात्मिकता और बौद्धिकता की खाई है। इस आलेख में इस खण्डन के केवल

एक पहलू की ही व्याख्या है, अर्थात् इसमें भारतीय दर्शन में तार्किक सूत्रों के दृष्टांत तो दिए गये हैं किन्तु पाश्चात्य दर्शन के आध्यात्मिक तत्त्वों का कोई उल्लेख नहीं है। पुनश्च, तुलनात्मक दर्शन के प्रारम्भिक दौर में कतिपय पाश्चात्य दार्शनिकों द्वारा भारतीय दर्शन को दर्शन न मानने को केवल इसी परिप्रेक्ष्य में नहीं देखा जाना यथार्थ होगा कि यह उनकी भूल थी बल्कि उनके तर्कों की आधारहीनता के साथ-साथ यह भी ध्यातव्य है कि समकालीन युरोपीय और विशेष रूप से अमेरिकन दार्शनिक हमारी दार्शनिक परम्परा का हमसे कहीं अधिक व्यवस्थित ढंग से अध्ययन कर रहे हैं। इसके साथ-साथ इस विषय पर भी विमर्श की आश्यकता है कि तुलनात्मक दर्शन के अध्ययन को किन नवीन आयामों या दृष्टियों से किया जा सकता है।

(७) डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा का आलेख 'तुलनात्मक दर्शन : विमर्शात्मक चेतना में पुनविमर्श' तुलनात्मक दर्शन के विविध आयामों से सम्बद्ध समय-समय पर उठाये गए विषयों पर समीक्षात्मक व्याख्या प्रस्तुत करता है। यह केवल यह विवेचित नहीं करता है कि दार्शनिक चेतना विमर्शात्मक होती है और तुलनात्मक अध्ययन में इस चेतना का ही पुनर्विमर्श होता है, बल्कि इसमें तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा का विश्लेषण, इसकी ऐतिहासिकता पर प्रश्न-चिन्ह, युरोपीय दार्शनिकों के भारतीय दर्शन के प्रति दुराग्रहपूर्ण मन्तव्य, जैसे मूल विषयों को भी प्रतिपाद्य विषय बनाया गया है। यद्यपि इस आलेख के विषय-सूत्र और निष्कर्ष के विचार दयाकृष्ण, अरविन्द कुमार राय, यशदेव शल्य, रेवतीरमण पाण्डेय से कई विषयों में मिलते-जुलते हैं, परन्तु तुलना की पुनर्विमर्शात्मक प्रकृति का इसका मन्तव्य एवं निष्कर्ष, एक नई दृष्टि की दिशा में प्रयास माना जा सकता है।

भूमिका के अतिरिक्त यह आलेख चार खण्डों में विभाजित है। प्रथम खंड में एक ओर दर्शन और तुलनात्मक दर्शन के बीच सम्बन्धों की व्याख्या के द्वारा, तो दूसरी ओर तुलनात्मक दर्शन और तुलनात्मक धर्म में अन्तर के विवेचन के द्वारा तुलनात्मक दर्शन की पद्धति को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। संक्षेप में, इनमें अन्तर यह है कि तुलनात्मक दर्शन एक प्रकार का दर्शन ही है किन्तु तुलनात्मक धर्म के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ पर डॉ. शर्मा ने अरविन्द कुमार राय के विचारों को ही आगे बढ़ाया है। डॉ. शर्मा के अनुसार विषय-मूलक वस्तुनिष्ठ चेतना की प्रकृति मानव और पाशव स्तर पर समान होती है, और जब इस चेतना का स्वचेतन विमर्श होता है तब विभिन्न प्रकार के दर्शनों की उत्पत्ति होती है। दूसरे शब्दों में, दार्शनिक चेतना ऐसी विमर्शात्मक अभिवृत्ति होती है। जो तुलनात्मक दर्शन का अतिक्रामी आदर्श है। इसी विचार का विस्तार-पूर्वक

वर्णन आलेख के खण्ड (२) और खण्ड (३) में किया गया है। खण्ड (२) और खण्ड (३) पर विचार करने से पहले, उल्लेखनीय है कि खण्ड (१) के विचार "विषयोन्मुख चेतना का स्थगन और प्रत्यड़्मुख चेतना (या चेतना की विमर्शात्मक अभिवृत्ति) में अवगमन मानव-जीवन का नव्य-परिच्छेद है" की तार्किकता को पुनर्विमर्श के परे नहीं माना जा सकता। इसका कारण यह है कि दर्शन की शुरूआत को नव्य-परिच्छेद मानने का मन्तव्य, वास्तव में, अपेक्षित पुर्नव्याख्या के ऐसे क्षितिज पर स्थित होता है जिसके बारे में वाद-विवाद, विमर्श और पुनर्विमर्श को विराम देना इसलिए संभव नहीं क्योंकि इसका अन्तिम निर्णय संभवतः नहीं प्राप्त किया जा सकता कि दर्शन की शुरूआत प्लेटो और अरस्तु से ही शुरू हुयी या फिर मानव की उत्पत्ति के साथ ही। एक और बात जो इस खण्ड में दार्शनिक परिचर्चा का विषय बन सकती है वह यह है कि इसमें एक ओर दर्शन को विषय-मूलक वस्तुनिष्ठ व्यवस्था नहीं माना गया है, क्योंकि यह चेतना मानवीय और पाशविक स्तरों पर समान रूप से पाई जाती है, तो दूसरी ओर मानवीय ज्ञान की विधाओं - विज्ञान, धर्म, कला, इतिहास इत्यादि को विषय-मूलक ही माना गया है। निश्चित रूप से दार्शनिक चेतना इन विधाओं की चेतना से भिन्न होती है लेकिन तुलनात्मक दर्शन के सम्बन्ध में इस चेतना की अन्तर्विधात्मकता सम्भवतः इसलिए स्थापित करने की आवश्यकता है क्योंकि ऐसी स्थिति में ही तुलना समन्वय को स्थापित कर सकती है। वस्तुतः इस अन्तर्विधात्मक समन्वय के प्रति प्रयास इस आलेख के सन्दर्भ में द्रष्टव्य है। इसके खण्ड (१) की पूर्वमान्यता, "दार्शनिक चेतना कोई वस्तुनिष्ठ चेतना नहीं है और इसलिए दर्शन भी कोई विषय-मूलक व्यवस्था नहीं है" के विपरीत खण्ड (२) के अनुसार "तुलनात्मक दर्शन को यदि दो दर्शनों का तुलनात्मक विमर्श माना जाता है तो हमें उन दर्शनों को वस्तुनिष्ठ चेतना के प्रकार अथवा विषय-मूलक व्यवस्था के रूप में पूर्वग्रहण करना होगा।" इस प्रकार, इस आलेख को अपाततः परस्पर विरोधी मान्यताओं का सामना करना पड़ता है - यह दूसरी बात है कि तुलनात्मक दर्शन स्वयं द्वन्द्वात्मक होता है, जैसा कि इस आलेख के खण्ड (३) में विवेचित है कि किस प्रकार दर्शन जो विमर्शात्मक चेतना है वह हमारी प्राकृतिक अभिवृत्ति, वस्तुनिष्ठता के ऐतिहासिक आग्रह, का ग्रास/विषय बनकर एक रूढ़ दृष्टि बन जाती है और इस प्रकार वैकल्पिक दृष्टियों का द्वन्द्व और उन वैकल्पिक दृष्टियों के बीच तुलना का अवसर उपस्थित होता है।

इस आलेख का प्रथम खंड दर्शनशास्त्र की विशिष्टता की विवेचना करता है तो इसका खण्ड (२) और (३) तुलनात्मक दर्शन के विभिन्न आयामों से सम्बन्धित है। खण्ड (२) में ज्ञान की विषय-मूलक विधाओं और दर्शनशास्त्र के

समानान्तर अवस्थित क्रमशः तुलनात्मक अध्ययन और तुलनात्मक दर्शन में अन्तर किया गया है। खण्ड (३) में तुलनात्मक दर्शन की द्वन्द्वात्मक प्रकृति की विवेचना है जिसके अनुसार यह 'विरूद्ध दृष्टियों का द्वन्द्ववाद' नहीं बल्कि 'वैकल्पिक दृष्टियों का द्वन्द्ववाद है' जिसमें "वैकल्पिक दृष्टियों का निषेध नहीं किया जाता, बल्कि उन्हें आधारभूत दृष्टि में प्रतिस्थापित किया जाता है।" ऐसी आशा की जा सकती है कि तुलनात्मक दर्शन में डॉ. शर्मा के इस नये दृष्टिकोण को स्वीकार करते हुए इसके मार्ग में आने वाली ज्ञानमीमांसीय और तत्त्वमीमांसीय परिसीमाओं के बारे में विमर्श करने में दार्शनिक रूचि दिखायेंगे क्योंकि ऐसे ही विश्लेषणों में तुलनात्मक दार्शनिक प्रणाली का विकास निहित है।

तुलनात्मक दर्शन विभिन्न विरोधी दृष्टियों के बीच में समन्वय उनकी अप्रकट समानताओं की व्याख्या के द्वारा करता है। तुलनात्मक दर्शन की यही समन्वयात्मक प्रकृति ही इस आलेख के खण्ड (४) का निष्कर्ष है जिसके अनुसार यह किसी भी दर्शन की तरह ही एक विशिष्ट प्रणाली न होकर सभी दार्शनिक प्रणालियों में अनुस्यूत है। परन्तु इसमें यदि तुलनात्मक दर्शन की उन सीमाओं या प्रतिबद्धताओं का भी उल्लेख होता जिससे वास्तव में प्रत्येक समन्वय की प्रक्रिया को गुजरना ही पड़ता है तो सम्भवतः इसका निष्कर्ष ऐसा नहीं होता कि तुलनात्मक दार्शनिक पद्धति विमर्शात्मक चेतना में पुनर्विमर्श मात्र है बल्कि इस पुनर्विमर्श की पद्धतिमूलकता को भी उद्‌घाटित करना संभव हो पाता। इसके अतिरिक्त तब यह भी स्पष्ट हो पाता कि विमर्शात्मक चेतना में पुनर्विमर्श की तुलनात्मक पद्धति विशिष्ट दार्शनिक प्रणालियों के बिना संभव नहीं है।

(८) वस्तुतः ऐसा पुनर्विमर्श संभव नहीं है, जैसा कि डॉ. रजनीश कुमार शुक्ल अपने आलेख 'तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा एवं पद्धति-विमर्श का ऐतिहासिक सन्दर्भ' में स्पष्ट करते हैं कि जब तक पूरब, पूरब तथा पश्चिम, पश्चिम के रूप में अलग-थलग हैं तभी तक तुलनात्मक दर्शन संभव है। जैसा कि इस आलेख के शीर्षक से ही स्पष्ट है, यह तुलनात्मक दर्शन के ऐतिहासिक सन्दर्भों का अनुशीलन करते हुए इसमें प्रयुक्त प्राच्य की सांस्कृतिक दृष्टि से की गई उपेक्षा और पाश्चात्य के सन्दर्भों में ही इसकी पद्धति एवं सम्प्रत्ययों की स्थापना पर प्रश्न-चिन्ह लगाते हुए, यह निष्कर्ष निगमित करता है कि दर्शन की एक विधि के रूप में इसकी संभावना सांस्कृतिक विविधता को अक्षुण्ण बनाये रखने में ही अन्तर्निहित है। यह अपनी इस व्याख्या में अत्यन्त स्पष्ट है कि ऐतिहासिक सन्दर्भ किसी भी प्रकार के तुलनात्मक दार्शनिक अध्ययन के मूल में निहित होता है। ऐतिहासिक सन्दर्भ का महत्व तुलनात्मक अध्ययन

की अन्य विधियों, जैसे प्राकृतिक विज्ञानों या विधायक विज्ञानों में उतना प्रासंगिक नहीं होता जितना कि दर्शन, भाषा विज्ञान और धर्म के क्षेत्रों में होता है। तुलनात्मक दर्शन, तुलनात्मक भाषा विज्ञान और तुलनात्मक धर्म का अध्ययन, इस आलेख के अनुसार, भारतीय भाषाओं, सभ्यता, धर्म और दर्शन के पश्चिमी तरीके के अध्ययन के प्रयासों का स्वाभाविक परिणाम है। इस प्रकार के अध्ययनों में निष्कर्ष की एकांतिकता भी स्वाभाविक ही है। ऐसे अध्ययनों में निष्कर्ष की सर्वांगीणता की स्थापना हेतु 'भारतीय सन्दर्भों एवं भारतीय चित्त, मानस एवं काल की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती है।' तुलनात्मक धर्म और तुलनात्मक दर्शन के बीच अन्तर, प्रो. अरविन्द कुमार राय, श्री यशदेव शल्य, प्रो.रेवतीरमण पाण्डेय और डॉ.अम्बिकादत्त शर्मा के आलेखों की तरह इस आलेख में भी मिलता है। यह, यह स्थापित करता है कि तुलनात्मक धर्म और तुलनात्मक भाषा विज्ञान से भी अधिक गम्भीर कठिनाइयों का सामना तुलनात्मक दर्शन में करना पड़ता है। इस सन्दर्भ में इसका यह विचार रोचक है कि "भाषा के क्षेत्र में वस्तुनिष्ठ मानकों की उपलब्धता के कारण इस प्रकार के निर्णय दिये जाने संभव हैं जिन्हें 'वस्तुनिष्ठ सत्य' के रूप में स्वीकृत करने में कोई विवाद नहीं रहता है।" इस विचार को वस्तुत: व्यंग्यात्मक टीका के रूप में ही लेना चाहिए क्योंकि भाषा में वस्तुनिष्ठ मानकों की उपलब्धता को अब भाषा विज्ञान तुलनात्मक अध्ययन के दृष्टिकोण से 'वस्तुनिष्ठ सत्य' या निरपेक्ष कसौटी न मानकर अभिव्यक्ति के अर्थ की सापेक्षता को स्वीकार करने लगा है। पाश्चात्य भाषा वैज्ञानिकों की 'वस्तुनिष्ठ सत्य' की पूर्वमान्यता, जिसके अनुसार संस्कृत को युरोपीय परिवार की भाषा माना गया, की आधारहीनता को दर्शाता हुआ डॉ. शुक्ल का यह विचार द्रष्टव्य है।

काण्टीय आलोचन शैली में लिखा गया यह आलेख तुलनात्मक दार्शनिक पद्धति की ऐसी पुर्नसंरचना (*डिकान्स्ट्रक्शन*) करता है जिसे आधार बनाकर संभवत: कुछ लोगों को तुलनात्मक दार्शनिक अध्ययन करना रुचिकर लग सकता है। क्योंकि तुलनात्मक दर्शन की पाश्चात्य दार्शनिक पद्धति दर्शन और प्राकृतिक विज्ञानों के तुलनात्मक अध्ययन में एक समान तुलना की विधि अपनाती है, इसीलिए इस आलेख की मान्यता यह है कि ऐसी विधि जिस तुलनात्मक दर्शन को प्रतिस्थापित करती है वह व्यर्थ है। इस प्रकार का तुलनात्मक अध्ययन, इस कारण से व्यर्थ होता है क्योंकि इसमें 'सत्य मूल्य' या सांस्कृतिक मूल्य को कोई स्थान नहीं दिया जाता है।

दार्शनिक चिन्तन और विशेष रूप से भारतीय और अफ्रीकी दर्शन को जिस प्रकार युरोपीय सम्प्रत्ययों के सन्दर्भ में व्याख्यायित करने का प्रयास युरोपीय और कतिपय भारतीय-अंग्रेज दार्शनिकों द्वारा किया गया उसका यह आलेख इस प्रतिज्ञप्ति

के द्वारा विरोध करता है कि सांस्कृतिक परिवेश की सापेक्षता की उपेक्षा से विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं में युक्ति-युक्त संवाद स्थापित नहीं हुआ है और न ही स्थापित किया जा सकता है। इसके अनुसार तुलनात्मक दर्शन का समन्वय दो दर्शनों का एकीकरण नहीं बल्कि ऐसा समन्वय है जिससे पारस्परिक समझ को बढ़ावा मिल सके और ऐसा विभिन्न प्रकार की सांस्कृतिक विशिष्टताओं को रेखांकित करके ही प्राप्त किया जा सकता है। इसी विचार से एक वैकल्पिक तुलनात्मक दर्शन, ऐसा दर्शन जो अब तक के पाश्चात्य अवधारणाओं पर आधारित तुलनात्मक दर्शन से अलग भारतीय सम्प्रत्ययों को समुचित स्थान प्रदान करे, की संभावना को स्वीकार किया जा सकता है।

(६) कतिपय पाश्चात्य दार्शनिकों द्वारा भारतीय दर्शन को दर्शन न मानने की जिस भूल का उल्लेख उपर्युक्त कई आलेखों में हुआ है, प्रो.सजीवन प्रसाद उसके बारे में विशिष्ट दृष्टिकोण रखते हैं। वे अपने आलेख 'तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा' में उन भारतीय दार्शनिकों की शंका का निराकारण करते हैं जो यह मानते हैं कि तुलनात्मक दर्शन तो मात्र पाश्चात्य दर्शन की अधीनता को स्वीकार करना ही होता है। वे कहते हैं कि "इतना ही कहकर इस शंका का समाधान पाया जा सकता है कि अगर प्राच्य और पाश्चात्य दर्शनों की तुलना करने में समन्वयात्मक विचारों को मूल आधार बनाया जाता है तो वहाँ अधीनस्थता का प्रश्न ही नहीं उठता है।" स्पष्ट है कि प्रो.सजीवन प्रसाद पाश्चात्य दार्शनिकों की आत्म-प्रशंसक दृष्टि की आलोचना से बचना चाहते हैं। अपनी आदर्शवादी मान्यताओं के कारण वे तुलनात्मक दर्शन को ऐसी दार्शनिक पद्धति मानते हैं जिसमें दो भिन्न-भिन्न दार्शनिक परम्पराओं में समन्वय का प्रयास किया जाता है।

प्राय: किसी भी दो या दो से अधिक असमान दार्शनिक परम्पराओं में समन्वय के लिए उन विचार बिन्दुओं को आधार बनाया जाता है जो उन परम्पराओं में उभयनिष्ठ प्रतीत होते हैं। उभयनिष्ठता की इस प्रतीति को और अधिक उभारने का, और अधिक समानताओं को ढूँढने का प्रयास किया जाता है क्योंकि ऐसा माना जाता है कि इसी के द्वारा दो दार्शनिक प्रणालियों के बीच तुलना में उनके बीच समन्वय स्थापित किया जा सकता है। तुलनात्मक दर्शन की इस दृष्टि से भिन्न प्रो.सजीवन प्रसाद विभिन्न दार्शनिक प्रणालियों की विशिष्टताओं को तथा उनकी पारस्परिक भिन्नताओं को जस का तस बनाए रखने को ही वास्तविक तुलनात्मक दार्शनिक पद्धति मानते हैं। इसीलिए वे तुलनात्मक दर्शन के मुख्य सूत्र 'समन्वय' की जगह 'पूरकता' का सम्प्रत्यय देते हैं। प्रो.सजीवन प्रसाद के अनुसार, "दो दर्शनों के बीच तुलनात्मक अध्ययन को और भी अधिक सबल और अनिवार्य दिखाने के लिए 'समन्वय' शब्द के

स्थान पर 'पूरक' शब्द का प्रयोग किया जा सकता है।" उनके अनुसार ऐसा प्रयोग इसलिए किया जा सकता है क्योंकि वे दार्शनिक प्रणालियाँ जिनकी परस्पर तुलना की जाती है वस्तुतः एक व्यापक संपूर्णता (*होलनेस*) का ही भाग होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ पर पूरकता को समन्वय के गहन अर्थ में प्रयोग किया गया है और दोनों में वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है। ऐसा इसलिए है क्योंकि प्रो. सजीवन प्रसाद स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि "अगर समन्वय के अर्थ को सही रूप में लिया जाता है तो इसमें जिस प्रक्रिया को अपनाया जाता है वह प्रक्रिया पूरकता की ओर ही अग्रसर होती है, और अगर दो दर्शनों के बीच एक व्यापक संपूर्णता नहीं होती तो वहाँ पर कोई भी समन्वय संभव नहीं होता है।"

तुलनात्मक दर्शन की वही पद्धति वस्तुनिष्ठ तार्किकता पर आधारित मानी जाती है जिसमें तुलनीय दार्शनिक प्रणालियों में से किसी भी प्रणाली को दूसरी प्रणाली के अधीन न माना जाए। प्रो.दया जी द्वारा स्थापित तुलनात्मक दर्शन की आदर्श पद्धति की इस विशिष्टता को प्रो.सजीवन प्रसाद तब स्वीकार करते प्रतीत होते हैं जब वे कहते हैं कि, "तुलनात्मक दार्शनिक एक सिद्धान्त को दूसरे सिद्धान्त के, एक सम्प्रत्यय को दूसरे सम्प्रत्यय के अधीनस्थ नहीं दिखाता बल्कि एक दूसरे के बीच समन्वय दिखाता है।" प्रो.प्रसाद के इस कथन को उनके पाश्चात्य दार्शनिकों की पूर्वाग्रहपूर्ण ऐकान्तिक तुलनात्मक दृष्टि की आलोचना से बचने के प्रयास की व्याघाती नहीं बल्कि इसे ऐसे मन्तव्य के रूप में व्याख्यायित करने की आवश्यकता है जो न केवल तुलनात्मक दर्शन के स्वरूप निर्धारण की अनिश्चितता का द्योतक है बल्कि जो पाश्चात्य दार्शनिकों की दुराग्रहपूर्णता की अतार्किकता को किन्हीं अनावृत्त कारणों से अपनी समालोचना का विषय नहीं बनाता।

जैसा कि प्रारम्भ में ही कहा गया है कि समन्वय की आदर्श स्थिति को तुलनात्मक दर्शन मान लेने से ही इसके स्वरूप निर्धारण की समस्या की समाप्ति नहीं हो जाती बल्कि आवश्यकता पड़ती है तुलना के उन बिन्दुओं को पहचानने की जिसके आधार पर समन्वय स्थापित किया जा सके। तुलना के सूत्रों की पहचान करने के लिए प्रायः सांस्कृतिक और मानवीय नैतिकता के विभिन्न पहलुओं का समन्वयात्मक और सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन आवश्यक हो जाता है। तुलनात्मक दर्शन के इस पक्ष को अगले आलेख में विवेचित और विश्लेषित किया गया है।

(१०) प्रो.धर्मेन्द्र गोयल का आलेख 'धार्मिक परम्पराएँ और मानववादी नैतिकता' धार्मिक मूल्यों और वर्तमान मानवीय जिजीविषा, जो कि समय के साथ-साथ मानवीय मूल्यों से विहीन होती जा रही है, के बीच द्वन्द्वों का तुलनात्मक दार्शनिक विवेचन

करता है। प्रो.धर्मेन्द्र गोयल धर्म को इसकी वाह्य संरचनाओं या कर्मकाण्डों के द्वारा परिभाषित न करके इसकी अमूर्त मानवीयता के द्वारा ही इसे निर्धारित करते हैं। इस अमूर्त मानवीयता में संतुलन तब तक बना रहता है जब तक कि धर्म विज्ञान और नैतिकता की कसौटियों का अलग-अलग नहीं बल्कि एक साथ प्रयोग होता है। परन्तु मानवीय प्रकृति ऐसी है कि मनुष्य इन तीनों को तीन भिन्न-भिन्न कसौटियों के आधार पर जीने के लिए बाध्य होता रहता है और इस प्रकार वह 'असमंजसकारी भ्रमों में फँसता है'। इसी प्रसंग में दर्शन की आवश्यकता पड़ती है। यहाँ पर प्रो.गोयल का 'दर्शन' से तात्पर्य मूलतः तुलनात्मक दर्शन ही है। दर्शन असमंजसकारी स्थिति में संस्कृति के विभिन्न पक्षों का वस्तुनिष्ठ विवेचन प्रस्तुत करता है। इस सन्दर्भ में यह आलेख न्युटन और काण्ट की वस्तुनिष्ठ, तथ्य-निरपेक्ष और आकारिक-तार्किक दृष्टिकोण का भी उल्लेख करता है।

दर्शन की प्रासंगिकता को मानव प्रतिभा, मानव-मानव का सम्बन्ध और मानव प्रकृति के सम्बन्ध की समन्वयात्मक दृष्टि के रूप में देखा जा सकता है। यह ऐसी दृष्टि है जो मानवता के मूल्यों से युक्त, सांस्कृतिक अक्षुण्णता को बनाये रखने और अपने एवं पराये के द्वन्द्व का शमन करती है। इसी सन्दर्भ में प्रो.गोयल यह प्रश्न उठाते हैं कि प्रत्येक दार्शनिक दृष्टि की सार्वभौमिकता के होते हुए मार्क्सवाद, उपयोगितावाद और अस्तित्ववाद में संवाद क्यों आवश्यक है ? क्यों न प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी मान्यताओं पर अड़ा बैठा रहे ? वस्तुतः यह प्रश्न तुलनात्मक दार्शनिक का प्रश्न है। प्रो.गोयल सापेक्ष दृष्टियों की वितण्डा से बचे रहने को मानववादी सदाशयता नहीं मानते क्योंकि वर्तमान परिस्थिति में कोई चाहकर भी ऐसा नहीं कर सकता - एक दूसरे की पूर्वमान्यताओं से प्रभावित होने की लाचारी एक वास्तविकता ही है।

गाँधी जी के 'सर्व-धर्म-समभाव' सम्प्रत्यय के बारे में प्रो.गोयल का यह विचार विवादास्पद हो सकता है कि "गाँधी जी द्वारा भारतीय साम्प्रदायिकता एवं धार्मिक विद्वेषों से विषाक्त परिवेश के लिए जिस किस्म के 'सर्द-धर्म-समभाव' की सिफारिश हुयी, वह उनकी शुद्ध मानवीय हितों एवं मूल्यों की रक्षा एवं चिन्ता के सदिच्छापूर्ण बोध की अच्छी अभिव्यक्ति होते हुए भी 'धर्म-दृष्टियों' के प्रति पूरी निष्ठा एवं उपादेयता पर प्रश्न-चिन्ह लगाये बिना भी नहीं रहती।" प्रो.गोयल को गाँधी जी का सर्व-धर्म-समभाव का विचार अव्यवहारिक और असंगत लगता है क्योंकि "गहराई से प्रसूत गम्भीर्य और अस्तित्त्व की अंदरूनी परतों तक रची बिधीं आस्थाएँ किसी अन्य आस्था को कैसे सहेंगी ? गाँधी जी इतिहास के छिपे अभिषायों का निराकरण नवीन सामाजिक वरीयताओं को संतुलित करके करना चाहते थे। उनकी धर्मों के परस्पर सद्भाव की

वकालत से भला किसे क्या आपत्ति हो सकती है। पर, उसे प्राप्त करने के लिए 'धर्म-दृष्टि' की 'मौलिक-स्वायत्तता' को नकारना न जरूरी है और न गाँधी जी ने कोई सम्भव तात्त्विक तर्क इसे सिद्ध करने के लिए दिए हैं। जो कुछ उन्होंने इस सन्दर्भ में लिखा या सिखाया था, वह ऐतिहासिक और सामाजिक तथ्यों पर अश्रित है।" कोई भी गाँधीवादी दार्शनिक सम्भवतः प्रो.गोयल के इन विचारों से असहमति व्यक्त करे क्योंकि उल्लेखनीय है कि गाँधी जी के धर्म का विचार अद्वैत वेदान्त की मानववादी मान्यताओं से आप्लावित है। सभी धार्मिक परम्पराओं को वह एक ही अन्तिम सत्ता की भिन्न-भिन्न व्याख्या मानते हैं। इतना ही नहीं गाँधी जी ऐसे धर्म को अस्वीकार करते हैं जिसमें आचारगत शुद्धता और व्यावहारिकता न हो। वस्तुतः, गाँधी जी के सर्व-धर्म-समभाव को उनकी सामाजिक वरीयताओं के संतुलन के रूप में राजनीतिक दृष्टि से ही नहीं बल्कि उनकी व्यावहारिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भी व्याख्या करने की आवश्यकता है। यह एक विरोधाभास ही है कि एक ओर गाँधी जी की आलोचना तुष्टिवादी राजनेता के रूप में की जाती है तो दूसरी ओर उनके विचारों की उपादेयता पर ही प्रश्न-चिन्ह लगाये जाते हैं।

आगे चलकर प्रो.गोयल ने विभिन्न धर्मों की परलोक सम्बन्धी एवं अन्य आध्यात्मिक मान्यताओं को जीवन की समन्वयात्मक व्याख्या के रूप में स्वीकार किया है। इसके लिए "विभिन्न परम्पराओं के अनुयायियों को परस्पर विराट समालोचना एवं संवाद की सहनशीलता का आयाम ढूँढनें की मौलिक एवं प्रासंगिक अनिवार्यता है।" प्रो.गोयल के अनुसार विभिन्न परम्पराओं के बीच ऐसे दार्शनिक संवाद के द्वारा मानव, मानव और मानव के सम्बंध और संस्कृति के मूल तत्त्वों की व्याख्या हो सकेगी।

इस प्रकार, इस खण्ड के आलेख विभिन्न प्रकार से तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा के विवेचन और विश्लेषण को अपना प्रतिपाद्य विषय बनाते हुए कतिपय पाश्चात्य दार्शनिकों की भारतीय दर्शन के प्रति अतार्किक पूर्वमान्यता, तुलना की विषय-वस्तु, संभावना, तुलनात्मक दर्शन और तुलनात्मक धर्म में अन्तर, तुलना का उद्देश्य तथा आवश्यकता एवं परिसीमा,के साथ-साथ मानवता की तुलनात्मक समन्वयात्मक दृष्टि की व्याख्या करते हैं।

(११) एवं (१२) दूसरे खण्ड के प्रथम दो आलेखों 'रहस्यानुभूतिगत उदात्त भावना (पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध)' में प्रो.रामदत्त दत्तात्रेय राणाडे ने उदात्त भावना की मुख्यतः काण्ट और *श्रीमद्भगवद्गीता* के सन्दर्भों में व्याख्या की है। अपने प्रथम आलेख में प्रो.राणाडे ने तीन विषयों का विवेचन किया है : (१) अध्यात्मशास्त्र का द्वन्द्व (२) अहैतुक आदेश, और (३) आत्मानुभूति में उदात्त भावना। काण्ट और *गीता* में

समानान्तर रूप से द्वन्द्वों का उल्लेख है। काण्ट के चार द्वन्द्व : बद्ध तथा अबद्ध का द्वन्द्व, साधारण तथा मिश्र का द्वन्द्व, स्वातन्त्र्य तथा कार्यकारणवाद का द्वन्द्व, और अनिवार्य तथा संभाव्य का द्वन्द्व, क्रमशः जगत् की समस्या, आत्मा की समस्या, स्वातन्त्र्य की समस्या और ईश्वर के अस्तित्व की समस्या से जुड़े हैं। इसी प्रकार इस आलेख में *गीता* के पाँच द्वन्द्वों पर विस्तार से विमर्श किया गया है : (१) ईश्वर सशरीर है या अशरीर (२) ईश्वर कर्ता है या द्रष्टा (३) ईश्वर सर्वातीत है या सर्वान्तर (४) जगत् सत्य है अथवा असत्य, और (५) क्रम-मुक्ति है या सद्यः मुक्ति। काण्ट और *गीता* के आध्यात्मिक द्वन्द्वों के उल्लेख का उद्देश्य इनके बीच सादृश्यता स्थापित करना है। द्वन्दों के समान ही अहैतुक आदेश के विषय में भी काण्ट और *गीता* के विचारों में समानता स्थापित की गई है। काण्ट के *क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीजन* में वर्णित अहैतुक आदेश के सूत्रों के समानान्तर *भगवद्गीता* के बौद्धिक नीतिशास्त्र की व्याख्या की गई है। काण्ट के ग्रंथ *गाउन्ड वर्क ऑफ द मेटाफिजिक्स ऑफ मॉरल्स* का उल्लेख यदपि प्रो.राणाडे ने नहीं किया है, फिर भी इसके सूत्रों की व्याख्या इसमें देखी जा सकती है।

औदात्य के विचार के सन्दर्भ में वे सौन्दर्य और औदात्य की अनुभूतियों में अन्तर करते हुए यह कहते हैं कि 'ताजमहल एक सुन्दर भवन हो सकता है, पर राष्ट्रपति भवन तक तीन मील आयत मार्ग तथा संसद के सदन उदात्त के उदाहरण हैं'। काण्ट के उदात्त का विचार रुडोल्फ ओटो के 'शुचिता के विचार' से समानता रखता है। इस विचार को ओटो '*मिस्टीरियस ट्रेमेन्डम*' कहते हैं जो कि रहस्यों तथा ईश्वर भय से भरा होता है। प्रो.राणाडे यह मानते हैं कि काण्ट की उदात्त भावना, ओटो की शुचिता भावना, तथा उनकी अपनी अपरोक्षानुभूति भावना परस्पर सदृश भावनाएँ हैं।

इस आलेख में काण्ट, *भगवद्गीता*, ओटो के अतिरिक्त हिन्दी, कन्नड़ और मराठी भाषाओं में वर्णित उदात्त की अनुभूति की चर्चा के लिए कबीर, गुलाल, तुलसीदास, भवतारक और ज्ञानेश्वर की कविताओं में प्रकृति के बिम्बों के द्वारा औदात्य के सम्प्रत्यय के वर्णनों को उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया गया है।

प्रकृति के औदात्य के उदाहरण प्रो.राणाडे के प्रथम आलेख का निष्कर्ष हैं तो ये ही उनके द्वितीय आलेख की पूर्वपीठिका हैं। वे मानते हैं कि 'प्रकृति की प्रत्येक क्रिया पर उदात्त की छाप सुस्पष्ट है'। दूसरे आलेख में उन्होंने भूतत्त्व विज्ञान, अन्तरिक्ष विज्ञान और खगोल विज्ञान से उदात्त के उदाहरण लिए हैं। भूकम्प, ज्वालामुखी और संगम क्षेत्र की चर्चा भूतत्त्व विज्ञान के अन्तर्गत, अरोरा बोरियालिस और अरोरा

आस्ट्रेल्स, एवं वैदिक देवी उषस् की चर्चा अन्तरिक्ष विज्ञान के अन्तर्गत, तथा सप्तर्षिमंडल, आकाशगंगा एवं अन्य तारों की चर्चा खगोल विज्ञान के अन्तर्गत औदात्य के उदाहरण के रूप में की गयी है। इसके अतिरिक्त तत्त्वज्ञान, धर्म-मनोविज्ञान और नीतिशास्त्रीय औदात्य का विस्तृत विवेचन इस आलेख में हुआ है। आलेख के अन्त में नीतिगत औदात्य की विस्तृत चर्चा में काण्ट के औदात्य की अवधारणा की व्याख्या के द्वारा इसकी *गीता* से सादृश्यता का निष्कर्ष स्थापित किया गया है। स्पष्ट है कि आलेख का पूर्वार्द्ध तत्वमीमांसीय है तो इसका उत्तरार्द्ध धर्ममीमांसीय एवं साहित्यिक रूप से रहस्यात्मक है। यह टिप्पणी, प्रो. राणाडे के इस विचार के सन्दर्भ में द्रष्टव्य है कि '*क्रिटीक ऑफ प्योर रीजन*' पहले उन्हें दर्शन की एक महान् कृति लगती थी, लेकिन आगे चलकर यह उन्हें साहित्य की पुस्तक लगने लगी।

(१३) उपर्युक्त आलेख में काण्ट और गीता के उदात्त की भावना के विचारों का विश्लेषण है तो प्रो.विमलेन्दु नारायण सिंह अपने आलेख 'कर्त्तव्य में बाध्यता बोध' में इन दोनों के कर्त्तव्य की भावना के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं। वे आलेख के आरम्भ में ही यह स्थापित करते हैं कि दो दर्शनों के बीच तुलना को ही तुलनात्मक दर्शन नहीं कहा जा सकता। तुलना ही तुलनात्मक दर्शन की अनिवार्य और पर्याप्त कसौटी नहीं है। तुलना के साथ-साथ तुलनात्मक दर्शन की अनिवार्य कसौटी या विशेषता है : दो दर्शनों की पारस्परिक तुलना के द्वारा 'नये अवबोध की प्राप्ति'। तुलनात्मक दर्शन की ऐसी कसौटी के बारे में इस आलेख का मन्तव्य यह है कि इसका निर्धारण दर्शनशास्त्र की प्रकृति के द्वारा ही हो जाता है। प्रो. विमलेन्दु के अनुसार दर्शनशास्त्र विज्ञान नहीं बल्कि विचारों के सम्प्रेषण के लिए प्रतिज्ञप्तियों के अर्थ निरूपण की ऐसी व्यवस्था है जिसका सम्बन्ध मानवीय 'अनुभतियों के सुविवेचित अवबोध' से होता है। तुलनात्मक दर्शन और दर्शन की इन्हीं प्रतिपत्तियों के आधार पर यह आलेख कर्त्तव्य में बाध्यता बोध की दार्शनिक समस्या पर ऐसे प्रश्नों, जैसे कर्त्तव्य बोध कैसे होता है ? कर्त्तव्य करने का प्रेरक तत्त्व कहाँ से आता है ?, कर्त्तव्य बोध और उस कर्तव्य बोध को कार्यान्वित रूप न दे पाने के बीच तार्किक असंगतता क्यों उत्पन्न होती है ? पर प्रकाश डालता है।

यह आलेख कर्त्तव्य में बाध्यता बोध की समस्या के ऐसे प्रश्नों का समाधान कान्ट और मीमांसा दर्शन के तुलनात्मक प्रसंग में प्राप्त करने का प्रयास करता है। कान्ट के द्वारा कर्त्तव्य को अभिरूचि के द्वारा निर्धारित न मानकर, शुद्ध-बुद्धि के निरपेक्ष आदेश मानने को, जिसके अनुसार नैतिक नियम के प्रति आदर भाव से सम्पन्न कार्य की अनिवार्यता ही कर्त्तव्य है, यह आलेख कर्त्तव्य बोध की समस्या के

समाधान के लिए, प्रयोग करता है। परन्तु इस सन्दर्भ में यह काण्ट के नीतिशास्त्रीय ग्रंथों *क्रिटीक आफ प्योर रीजन* या *ग्राउण्ड वर्क ऑफ मेटॉफिजिक्स ऑफ मारल्स* के सन्दर्भों का उल्लेख नहीं करता। यह नियम के प्रति आदर का सरसरी तौर पर उल्लेख तो करता है, परन्तु उन पाँच नैतिक नियमों या सिद्धान्तों की चर्चा इसमें नहीं है जो काण्टीय नीतिशास्त्र के आधार हैं। कर्त्तव्य पालन के सम्बन्ध में काण्टीय नीतिशास्त्र की व्याख्या करते हुए यह आलेख यह मानता है कि काण्ट के अनुसार कर्त्तव्य में बाध्यता की अनुभूति का कारण कर्त्तव्य की अवधारणा का बोध है जिसके निर्धारण में अभिरूचि का कोई स्थान नहीं। कर्त्तव्य बोध की इस पूर्णत: बौद्धिक काण्टीय व्याख्या के अनुसार, 'यह कहना कि अमुक कार्य मेरा कर्त्तव्य है परन्तु मैं इसे नहीं करूँगा, यह कहने के समतुल्य है कि मेरा संकल्प बुद्धि के नियन्त्रण में है परन्तु यह उसके नियन्त्रण को नहीं स्वीकारती' सामान्यत: भारतीय दर्शन और विशेष रूप से मीमांसा दर्शन का यह विचार कि कर्त्तव्य बोध और विधिवाक्यों (शास्त्र के आदेशों) के विश्लेषण एक ही होते हैं तथा कर्त्तव्य के पालन के द्वारा अनिवार्यत: अर्थ की उत्पत्ति होती है, इस आलेख के द्वितीयार्द्ध का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। यह धर्म को विधिवाक्य एवं अर्थ (इच्छित वस्तु) के सन्दर्भों में मीमांसा दर्शन की व्याख्या को स्पष्ट करते हुए जैमिनी सूत्र के 'चोदना अर्थो धर्मो लक्षण:' को कर्त्तव्य बाध्यता की अनुभूति के प्रसंगों में पुर्नव्याख्यायित करता है। इस प्रसंग में धर्म की प्रकृति के विषय में अपूर्व और विधिवाक्य की भिन्न मान्यताओं के कारण प्रभाकर भट्ट और कुमारिल भट्ट भिन्न-भिन्न मत रखते हैं। वे क्रमश: अवैयक्तिक सात्त्विक नैतिक व्यवस्था और शास्त्र प्रदिष्ट कर्म के फल को धर्म से सम्बद्ध करते हैं। व्याख्यागत अन्तर के बावजूद प्रभाकर और कुमारिल दोनों ही कर्त्तव्य का सम्बन्ध धर्म और अर्थ से बताते हैं। काण्ट और मीमांसा दर्शन की कर्त्तव्य बोध सम्बन्धी इस व्याख्या के द्वारा इस आलेख का निष्कर्ष यह है कि कर्त्तव्य का बाध्यता बोध इसकी अवधारणा या विचार में ही अनुस्यूत होता है : काण्ट में निरपेक्ष आदेश और मीमांसकों में विधिवाक्य के विवेचन में ही कर्त्तव्य में बाध्यता बोध का विवेचन होता है। द्रष्टव्य है कि यहाँ काण्टीय और मीमांसीय नैतिक दर्शन की संरचनात्मक आधारभूत मान्यताओं को कर्त्तव्य बोध की संकल्पना के सन्दर्भ में पुर्नव्याख्यायित किया गया है। दोनों में समानता यह है कि दोनों कर्त्तव्य की बाध्यता की अनुभूति को इसकी अवधारणा के बोध का ही उत्पाद मानते हैं, कोई वाह्य उत्पाद नहीं।

परन्तु यहाँ इस संकल्पना के बारे में इन दोनों दर्शनों के बीच के अन्तर को स्पष्ट नही किया गया है, उदाहरणार्थ, अभिरूचि शून्यता की जो स्थिति काण्ट में

उपलब्ध है क्या वही मीमांसा दर्शन पर भी लागू होती है ?, यदि मीमांसा दर्शन (भट्ट) कर्म के फल को धर्म और इस प्रकार कर्त्तव्य से सम्बद्ध करके अर्थक्रियावादी व्याख्या प्रस्तुत करता प्रतीत होता है तब ऐसी स्थिति में यह किस प्रकार काण्टीय नीतिशास्त्र जो कि 'कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य' की संवेदन-शून्य बुद्धि के निरपेक्ष आदेश के द्वारा व्याख्या करता है, के नजदीक माना जा सकता है ? ये ऐसे विषय हैं जो काण्ट और मीमांसा दर्शन की कर्त्तव्य की अवधारणा की तुलना में स्वतः उत्पन्न होते हैं। इनका उल्लेख इस आलेख की परिसीमा में करना, न केवल प्रासंगिक, बल्कि तुलनात्मक दृष्टि से अनिवार्य प्रतीत होता है, जो इस आलेख में उपलब्ध नहीं है।

(१४) उदात्त की भावना और कर्त्तव्य के बाध्यता बोध की चर्चा के बाद चेतना की तुलनात्मक व्याख्या की चर्चा प्रासंगिक प्रतीत होती है। प्रो.नित्यानन्द मिश्र अपने आलेख 'शंकर और हुस्सर्ल' में इन दार्शनिकों के सम्पूर्ण दार्शनिक दृष्टिकोण का नहीं बल्कि इन दोनों की चेतना की अवधारणा की तुलनात्मक समीक्षा करते हैं, और अन्ततः हुस्सर्ल की चेतना की अवधारणा को अधिक तर्कसंगत मानते हैं ; यद्यपि वे ऐसा क्यों मानते हैं इसके लिए कोई निरपेक्ष एवं वस्तुनिष्ठ तर्क नहीं देते। लेकिन प्रो. मिश्र के निष्कर्ष की चर्चा करने से पहले उनके द्वारा दिए गये उन तर्कों को देखना आवश्यक है जो इन दोनों दार्शनिकों की चेतना की अवधारणाओं में समानता या असमानता दर्शाते हैं। शंकर और हुस्सर्ल दोनों आत्मा के अस्तित्व को संदेह से परे मानते हैं। इन दोनों के अनुसार किसी भी तरह आत्मा के अस्तित्व का निराकरण नहीं किया जा सकता।दोनों ही चैतन्येतर सभी पदार्थों के निरपेक्ष अस्तित्व का खण्डन करते हैं। शंकर जगत् के अस्तित्व को पारमार्थिक दृष्टि से असत् मानते हैं, दूसरी ओर, हुस्सर्ल जगत् को संदेह से परे न होने के कारण कोष्ठीकृत करते हैं। इस प्रकार दोनों चेतना के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, जबकि वाह्य जगत् के अस्तित्व को निराकरण-योग्य मानते हैं। जगत् की तरह ही, शंकर और हुस्सर्ल दोनों के द्वारा ईश्वर को परम्-सत् न मानने - शंकर के द्वारा ब्रह्म को परम्-सत् मानने और हुस्सर्ल के द्वारा इस विचार को कोष्ठीकृत किए जाने - की साम्यता की व्याख्या तो प्रो.मिश्र करते हैं किन्तु कोष्ठीकृत की पद्धति, जिसमें जो कुछ भी शुद्ध चैतन्य से परे है, को अस्वीकार कर दिया जाता है, और शंकर के ईश्वर विचार, जो कि परम् ब्रह्म और चेतना के बीच की सत्ता है, के बीच के तत्त्वमीमांसीय अन्तर की व्याख्या नहीं की गई है। इस आलेख में वस्तुतः हुस्सर्ल की कोष्ठीकृत की पद्धति और शंकर के व्यावहारिक सत् के द्वारा जीव, जगत् और ईश्वर के बारे में विचार को इन दोनों दार्शनिकों के बीच साम्यता स्थापित करने का प्रो.मिश्र का प्रयास यादृच्छिक और सतही ही है क्योंकि

शंकर की तत्त्वमीमांसीय संरचना को हुस्सर्ल की कोष्ठीकृत पद्धति से भिन्नता को केवल चेतना की शुद्धता के परिप्रेक्ष्य में ही नहीं बल्कि इन दोनों दार्शनिकों की दार्शनिक प्रणालियों के सन्दर्भ में ही देखने से वास्तविक स्थिति उभरकर सामने आ सकती है। प्रो.मिश्र हुस्सर्ल की विषयीभूत चेतना (*इन्टेन्शनलिटी ऑफ कॉन्शसनेस*) के विचार से इतने प्रभावित हैं कि इसी के आधार पर वे शंकर की विषयहीन पारमार्थिक चेतना की अवधारणा को असंगत मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार,"शंकर जब कहते हैं कि पारमार्थिक स्तर पर चेतना विषयहीन है तो वे चैतन्य की उचित व्याख्या करने में अपने को असमर्थ कर देते हैं। अतः उनका पक्ष दार्शनिक दृष्टि से दुर्बल हो जाता है। और इस तरह दार्शनिक दृष्टि से शंकर की अपेक्षा हुस्सर्ल का ही चैतन्य सम्बन्धी विचार स्वीकार योग्य प्रतीत होता है।"

प्रो. मिश्र यह भूल जाते हैं कि वे शंकर के शुद्ध चैतन्य की अवधारणा की आलोचना हुस्सर्ल के विषयीभूत चेतना के दृष्टिकोण से कर रहे हैं। वस्तुतः विषयीभूत चेतना, जिसके अनुसार, 'प्रेम में किसी को प्रेम किया जाता है, घृणा में किसी को घृणा की जाती है और निर्णय में किसी के प्रति निर्णय दिया जाता है, अर्थात् चेतना सदैव किसी न किसी वस्तु या सत्ता से अनिवार्यतः जुड़ी होती है', के विचार की तार्किकता पर भी प्रश्न-चिन्ह लगाये गये हैं। प्रश्न उठता है कि जब कोष्ठीकृत पद्धति शुद्ध चैतन्य के अलावा अन्य सभी प्रकार की सत्ताओं का अपचयन(*रिडक्शन*) कर देती है तब चेतना के विषयीभूतपन का क्या होगा ?, अर्थात् शुद्ध चेतना को किस प्रकार विषयीभूत माना जाएगा ? वास्तव में, हुस्सर्ल के अपचयन (*रिडक्शन*) के विचार और शंकर के पारमार्थिक शुद्ध चैतन्य के विचार में सादृश्यता स्थापित की जा सकती है, लेकिन किसी भी प्रणाली को बेबाकीपन से अतार्किक कह देना तुलनात्मक प्रणाली की समन्वयात्मक पद्धति की प्रकृति के विरूद्ध ही होता है। फिर भी, इतना तो स्पष्ट है कि प्रो. मिश्र की चेतना के सम्प्रत्यय की प्राच्य और पाश्चात्य तुलना अपरोक्षतः ही सही इसके समन्वयात्मक स्वरूप की संभावना का निराकरण नहीं करती। समन्वय की यही संभावना अगले दों आलेखों में द्रष्टव्य है जो श्री अरबिन्द और पॉल तिलिच, तथा श्री अरबिन्द और हेगेल के क्रमशः तर्क-बुद्धि और परम्-तत्त्व की अवधारणाओं का तुलनात्मक विश्लेषण करते हैं।

(१५) डॉ.भगवन्त सिंह का आलेख 'तुलनात्मक दर्शन : आवश्यकता एवं उपादेयता' श्री अरबिन्द और पॉल तिलिच के तर्क-बुद्धि के सम्प्रत्ययों की परस्पर तुलना के द्वारा तुलनात्मक दर्शन की उपादेयता को स्पष्ट करता है। इस आलेख के अनुसार तुलनात्मक दर्शन की समन्वयात्मक दृष्टि ही उसकी उपादेयता है क्योंकि ऐसी

तुलना के द्वारा दो संस्कृतियों के दो भिन्न तथ्य सामने आते हैं। परन्तु यहाँ प्रश्न उठते हैं कि यदि तुलना का उद्देश्य भिन्न-भिन्न तथ्यों को प्रकट करना है तब इसमें तुलनात्मक दर्शन की उपादेयता ही क्या है ? यदि किसी अन्य दार्शनिक प्रणाली का अध्ययन करके भी उसके तथ्यों को जाना जा सकता है तो तथ्यों की जानकारी के लिए तुलना की क्या आवश्यकता ? इन प्रश्नों के उत्तर इस आलेख में अनुत्तरित ही रह जाते हैं।

पुनश्च, उपादेयता मूल्यात्मक सम्प्रत्यय है जबकि 'तथ्यों का सामने आना' तथ्यात्मक संवृत्ति है। तथ्यात्मकता से मूल्यात्मकता का निगमन नीतिशास्त्रीय है और चाहिए' की द्वन्द्वात्मक समस्या की तरह है। यदपि सर्ल जैसे विद्वानों ने इस द्वन्द्व को समाप्त करने के लिए 'चाहिए' को 'है' से निगमित करने की विधि दी है, फिर भी, इन दोनों के बीच अन्तर स्पष्ट है। इस प्रसंग में डॉ. भगवन्त जी का 'तथ्य सामने आने' से मन्तव्य शायद यह हो सकता है कि इससे दो संस्कृतियों के लोग एक दूसरे के विचारों को अच्छी तरह समझ सकेंगे। बहरहाल, जिन बिन्दुओं पर वे श्री अरबिन्द और पॉल तिलिच के बीच तुलना करते हैं वह तर्क-बुद्धि की अवधारणा से सम्बन्धित है। श्री अरबिन्द सीमित और असीमित तर्क-बुद्धि में अन्तर करते हैं तो पॉल तिलिच तकनीकि और सत्तामूलक तर्क-बुद्धि में अन्तर करते हैं। डॉ. भगवन्त सिंह एक तरफ सीमित और तकनीकि तर्क-बुद्धि, तो दूसरी तरफ असीमित और सत्तामूलक तर्क-बुद्धि में समानता स्थापित करते हैं। सीमित तर्क-बुद्धि, जो कि असम्बद्ध होती है, एक और अनेक, तथा जीव और परम-तत्त्व में अन्तर करती है। जबकि तकनीकि तर्क-बुद्धि मनुष्य को वस्तु मानकर उसका अमानवीयकरण (*डिह्यूमनाइजेशन*) करती है।

डॉ.सिंह की इस विवेचना में यह स्पष्ट नहीं हो पाता है कि इस प्रकार की विशेषताओं वाली सीमित और तकनीकि तर्क-बुद्धि में वे कैसी समानता स्थापित करना चाहते हैं ? उनकी व्याख्या में श्री अरबिन्द की सीमित और पॉल तिलिच की सत्तामूलक तर्क-बुद्धि के बीच समानता स्पष्ट नहीं है। उनके अनुसार, "श्री अरबिन्द की सीमित तर्क-बुद्धि तथा पॉल तिलिच की तकनीकि तर्क-बुद्धि में समानता है। सीमित तर्क-बुद्धि सम्भवतः असम्बद्ध (*डिस्कर्सिव*) है। वह एक एवं अनेक, जीव एवं परम-तत्त्व में भेद करती है। इसी प्रकार तकनीकि तर्क-बुद्धि भी मनुष्य को अन्य वस्तुओं की तरह एक विषय (*आब्जेक्ट*) मानकर उसका अमानवीयकरण (*डिह्युमनाइजेशन*) करती है। वास्तव में, यह सीमित एवं तकनीकि तर्क-बुद्धि का अपना स्वभाव है। जबकि दूसरी ओर, श्री अरबिन्द की असीमित तर्क-बुद्धि स्वाभाविक रूप से सर्व-समावेशी (*आल इन्क्लूसिव*), असीमित और पर्याप्त लचीली है। यह संसार में दृश्यमान भेदों को अभेद

की दृष्टि से देखती है तथा सम्पूर्ण दृश्यमान को परब्रह्म मानती है।" पॉल तिलिच की सत्तामूलक तर्क-बुद्धि के बारे में उनका विचार है कि यह "मानव जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्र को परिचालित एवं सम्पादित करते हुए श्री अरबिन्द के असीमित तर्क-बुद्धि के समान कार्य करती है। यह मानव मस्तिष्क के मात्र संज्ञानात्मक (*कॉग्निटिव*) पक्ष तक ही नहीं बल्कि मानव मनस् की सम्पूर्ण संरचना, जैसे संज्ञानात्मक, सौन्दर्यात्मक, व्यावहारिक एवं तकनीकि पक्ष से सम्बन्धित है।" यहाँ श्री अरबिन्द और पॉल तिलिच के बीच कौन सी समानता है और इनकी तुलना से किस तरह का समन्वय प्राप्त हो सकता है, यह व्याख्यायित नहीं है। आलेख के निष्कर्ष में इन दोनों के बीच अन्तर को स्वीकार करते हुए डॉ सिंह इनके बीच दार्शनिक अन्तर का कारण इनकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के वैशिष्ट्य को मानते हैं : अद्वैतवादी और ईसाईयत दृष्टिकोण के बीच का अन्तर। वास्तव में, सांस्कृतिक सापेक्षताओं के कारण ही विभिन्न दार्शनों के वैशिष्ट्य की उत्पत्ति होती है, जैसा कि प्रो.दया कृष्ण और श्री यशदेव शल्य के आलेखों में इस विषय में विस्तृत चर्चा हो चुकी है। तुलनात्मक दर्शन इन दार्शनिक वैशिष्ट्यों को पूर्वमान्यता के रूप में स्वीकार करके अपने समन्वयात्मक दृष्टिकोण से इनके बीच एकत्व का निर्धारण करता है। स्पष्ट है कि तुलनात्मक दर्शन में सांस्कृतिक वैशिष्ट्य कोई परिणाम या निष्कर्ष न होकर इस पद्धति का एक प्रारम्भिक बिन्दु ही होता है। सांस्कृतिक वैशिष्ट्य को निष्कर्ष मान लेने से सभी तरह के तुलनात्मक अध्ययनों की इतिश्री हो जाती है।

(१६) डॉ.विजयकान्त दुबे के आलेख 'बीसवीं सदी के दर्शन में तुलनात्मक दर्शन की सार्थकता' में श्री अरबिन्द और हेगेल के परम्-सत् के विचारों के बीच समानता और असमानता की व्याख्या की गई है। श्री अरबिन्द और हेगेल दोनों ऐसे निरपेक्ष परम्-सत् की सत्ता मानते हैं जो सर्वसमावेशी है। डॉ.दुबे के अनुसार परम्-सत् के विचार में "हेगेल एवं श्री अरबिन्द एक-दूसरे के काफी निकट हैं। इनमें अन्तर केवल इतना है कि हेगेल का परम्-सत् सब कुछ समाहित किए हुए भी पारमार्थिक या विश्वातीत नहीं है, जबकि श्री अरबिन्द का परम्-सत् सर्वग्राही होने के कारण विश्वव्यापी भी है, विश्वातीत भी तथा इनसे परे भी।" अध्यात्मवाद के समर्थक के रूप मे भी श्री अरबिन्द और हेगेल के विचारों में समानता है, जैसा कि "हेगेल और अरबिन्द दोनों के मतों में परम्-सत् को चैतन्य मानते हुए सम्पूर्ण सत्ताओं को उसमें समाहित माना गया है।"

इसी प्रकार हेगेल के तार्किक-सत् और श्री अरबिन्द के शुद्ध-सत् के विचारों के बीच समानता है। इन दोनों के परम्-सत् के विचारों में अन्तर यह है कि यद्यपि

"दोनों ही परम्-तत्त्व के आत्म विस्तार को सृष्टि कहते हैं, परन्तु जहाँ एक ओर श्री अरबिन्द इस विस्तार का माध्यम परम्-सत् की सर्जनात्मक शक्ति 'अतिमानव' को मानते हैं वहीं हेगेल में, दूसरी ओर, इस संचालनकारी शक्ति की कोई व्याख्या नहीं मिलती। उनके अनुसार, बुद्धि का विरोधात्मक स्वभाव विकास में गति उत्पन्न करता है। वे द्वन्द्वात्मक पद्धति में विरोध को विकास का अनिवार्य आधार मानते हैं। परन्तु विरोध इसका लक्ष्य नहीं है, अतः विरोध का विरोध होता है और पुनः परम्-सत् आत्म-चेतना प्राप्त कर लेता है। आत्म-चेतना की यह प्राप्ति ही बुद्धि की पराकाष्ठा है जो 'दर्शन' के स्तर पर प्राप्त होती है। परन्तु यह चेतना व्यक्तिगत चेतना न होकर सामान्य चेतना है।" सृष्टि के प्रयोजन को लेकर भी इन दोनों के बीच अन्तर है। अरबिन्द सृष्टि को ब्रह्म का खेल मानते हैं जिसका प्रयोजन आनन्द है तो हेगेल के दर्शन में सृष्टि के प्रयोजन का कोई संतोषप्रद उत्तर नहीं मिलता। परम्-सत्, जो पहले से ही पूर्ण था, स्वयं को और अधिक पूर्ण विश्व-चेतना में अभिव्यक्त करता है। परम्-सत् का विचार मानवीय बुद्धि के विचार से सम्बद्ध है। हेगेल के अनुसार परम्-सत् और बुद्धि में कोई अन्तर नहीं है। परम्-सत् बौद्धिक होते हुए भी, क्योंकि बौद्धिक ज्ञान चेतना की पराकाष्ठा नहीं है इसलिए, अतिबौद्धिक स्तर पर ही ज्ञेय है। इसी प्रकार अरबिन्द भी चेतना के बुद्धि-पराबुद्धि, मानसिक-अतिमानसिक स्तरों को स्वीकार करते हैं। इस सन्दर्भ में दोनों में अन्तर यह है कि "एक ओर, हेगेल अपने बौद्धिक दर्शन में 'दर्शन' को ही चेतना की पराकाष्ठा मानते हैं, क्योंकि इसमें समस्त चेतनाएँ समाविष्ट हैं, दूसरी ओर, श्री अरबिन्द चेतना के इस स्तर से सन्तुष्ट नहीं होते और अतिमानसिक स्तर को ज्ञान या चेतना की पूर्णता मानते हैं।"

(१७) डॉ गोरखनाथ मिश्र का आलेख 'भारतीय और पाश्चात्य कट्टर यथार्थवाद' इस खण्ड के अन्य आलेखों से इस अर्थ में भिन्न है कि यहाँ किसी दो दार्शनिकों या दार्शनिक सम्प्रत्ययों के बीच तुलना नहीं की गई है बल्कि कट्टर यथार्थवाद के सिद्धान्त की प्राच्य और पाश्चात्य के सन्दर्भों में इसके विभिन्न आयामों की सुसंगतता को परखने का प्रयास किया गया है। विभिन्न पक्षों में इसकी सुसंगतता की परीक्षा के बाद इसका निष्कर्ष यह है कि प्राच्य और पाश्चात्य दोनों ही परिप्रेक्ष्यों में यह सिद्धान्त तर्कतः असंगत है। इस आलेख में कट्टर यथार्थवाद के सिद्धान्त की समीक्षा, उद्भव, विसंगतियाँ और लोकायत प्रकृतिवाद के परिप्रेक्ष्य में की गई है। यहाँ कट्टर यथार्थवाद की जड़वाद और प्रकृतिवाद से साम्यता दर्शाते हुए इसके व्याघाती सिद्धान्त पूर्ण या निरपेक्ष विज्ञानवाद से इसके अन्तर को स्पष्ट करते हुए यह माना गया है कि यह ज्ञेय पदार्थ को सम्पूर्ण सत्ता मानता है और ज्ञातात्मा की स्वतन्त्र सत्ता

को अस्वीकार करता है जबकि निरपेक्ष विज्ञानवाद हर जगह ज्ञाता की सत्ता पाता है और ज्ञेय पदार्थ की सत्ता को अस्वीकार करता है।

भारतीय और पाश्चात्य कट्टर और नरम यथार्थवाद के उदाहरणों में, डॉ. मिश्र ने एक तरफ, युनानी अणुवाद, लॉक का प्रारम्भिक दर्शन, उद्दालक, वृहस्पति, चार्वाक और प्रभाकर मीमांसा को कट्टर यथार्थवाद, तथा दूसरी तरफ, नवयथार्थवाद, समीक्षात्मक यथार्थवाद, मूर, रसल, कपिल का सांख्य, न्याय वैशेषिक, जैन और कुमारिल की पूर्व मीमांसा को नरम यथार्थवाद की श्रेणी में रखा है।

इस सिद्धान्त के स्रोत के अन्वेषण में डॉ. मिश्र इस मान्यता को अस्वीकार करते हैं कि वेद और प्राचीन युनानी दर्शन जड़वादी या प्रकृतिवादी थे। उनके अनुसार, भारतीय दर्शन में जड़वाद का प्रारम्भ उद्दालक में, जो कि वेदों की सत्ताशास्त्रीय दृष्टि के विरोधी थे, तथा पाश्चात्य दर्शन में प्रकृतिवाद का प्रारम्भ युनानी परमाणुवादी ल्युसिपस, डेमोक्रिटस और ल्युक्रेटियस के दर्शनों में, जो एनेग्जीमेनीज और पार्मेनाइडीज के सत्ताशास्त्र के विरोधी थे, हुआ। प्राच्य और पाश्चात्य दोनों सन्दर्भों में प्राचीन काल से लेकर समकालीन सन्दर्भों में यथार्थवादी सिद्धान्त के सूत्रों की चर्चा इस सिद्धान्त की तार्किक संगतता के साथ-साथ करते हुए डॉ. मिश्र जी यह स्वीकार करते है कि कट्टर यथार्थवाद की विसंगतियों के कारण ही यह सिद्धान्त नरम यथार्थवाद में परिणत होता चला गया। डॉ.मिश्र के अनुसार प्राच्य और पाश्चात्य कट्टर यथार्थवाद की मुख्य रूप से विसंगति इनके द्वारा चेतन तत्त्व का पूरी तरह से निराकरण कर दिए जाने में निहित है क्योंकि केवल जड़ तत्त्व गति की व्याख्या नहीं कर सकता।

सत्ताशास्त्रीय और ज्ञानमीमांसीय दोनों ही दृष्टियों से डॉ. मिश्र कट्टर यथार्थवाद को असंगत मानते हैं। सत्तामीमांसीय दृष्टि से यह सिद्धान्त गति की तथा ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से यह ज्ञाता की व्याख्या करने में असमर्थ है। इस आलेख का निष्कर्ष यह है कि यदपि नरम यथार्थवाद कट्टर यथार्थवाद की विसंगतियों को दूर करके ज्ञाता के अस्तित्त्व को स्वीकार करता है किन्तु ज्ञेय वस्तु को सम्पूर्ण सत्ता मानने की भूल करता है। अब प्रश्न यह उठता है कि डॉ. मिश्र यह कैसे मान सकते हैं कि नरम यथार्थवाद एक तरफ ज्ञाता के अस्तित्त्व को स्वीकार करता है तो दूसरी तरफ वह ज्ञेय वस्तु को ही सम्पूर्ण सत्ता मानता है ? वास्तव में, नरम यथार्थवाद ज्ञेय वस्तु को ही सम्पूर्ण सत्ता मान लेने की कट्टर यथार्थवादी भूल नहीं करता है बल्कि ज्ञाता की सत्ता को भी उचित स्थान देता है। ऐसा नहीं है कि कोई भी दार्शनिक सिद्धान्त आलोचनाओं से परे है किन्तु कट्टर यथार्थवाद की विसंगतियों को दूर करने के कारण ही नरम यथार्थवाद को समकालीन पाश्चात्य और भारतीय दार्शनिकों ने तुलनात्मक रूप में अधिक तर्कसंगत माना है।

इस तरह यह खण्ड भारतीय और पाश्चात्य दार्शनिक सम्प्रत्ययों या सिद्धान्तों के बीच समानता और असमानता के आधार पर समन्वयात्मक तुलनात्मक व्याख्या प्रस्तुत करता है। यहाँ काण्ट, *गीता*, शंकर, हुस्सर्ल, अरबिन्द, तिलिच, हेगेल, तथा यथार्थवाद की विचारधाराओं और उदात्त की भावना, कर्त्तव्य की भावना, चेतना, तर्क-बुद्धि तथा परम्-तत्त्व के सम्प्रत्ययों का तुलनात्मक विश्लेषण किया गया है।

(१८) अगले सभी आलेख भारतीय दार्शनिक प्रणालियों की अन्तर्प्रणाली तुलना से सम्बंधित हैं। तीसरे खण्ड का प्रथम आलेख प्रो.रघुनाथ गिरि का 'उदयनाचार्य की ईश्वर सिद्धि-प्रक्रिया' है। यहाँ प्रथम दृष्ट्या प्रश्न उठता है कि इस आलेख को तुलनात्मक दर्शन की श्रेणी में कैसे रखा जाए ? वास्तव में, यही प्रश्न प्रो.धर्मेन्द्र गोयल, प्रो.सागरमल जैन और यहाँ तक कि डॉ. शोभा निगम के आलेखों के बारे में भी उठाया जा सकता है, परन्तु उल्लेखनीय है कि यह प्रश्न तुलनात्मक दर्शन की उस अवधारणा से उत्पन्न होता है जिसमें यह अविश्लेषित पूर्वमान्यता कार्य करती है कि तुलना के लिए दो भिन्न दार्शनिक परम्पराओं का होना अनिवार्य है। कहने की आवश्कता नहीं है कि तुलनात्मक दर्शन के संबन्ध में ऐसी पूर्वमान्यताएँ आधारहीन होती हैं। जहाँ तक प्रो.गिरि के आलेख का प्रश्न है इसकी भूमिका में ही कहा गया है कि इसका "उद्देश्य न तो ईश्वरवादियो के समान ईश्वर की स्थापना एवं ईश्वर साधक तर्कों का समर्थन है, न अनीश्वरवादियों के समान ईश्वर का खण्डन करना है, और न तार्किक भाववादी एवं विश्लेषणवादी दार्शनिकों के समान ईश्वर के संबंध में स्वीकारात्मक एवं निषेधात्मक वाक्यों की निरर्थकता का विश्लेषण करना है। उक्त निबंध का उद्देश्य ईश्वर सिद्धि-प्रक्रिया में निहित उन दार्शनिक समस्याओं का उद्भावन करना है जिन पर तुलनात्मक दर्शन की दृष्टि से विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। उदयनाचार्य की ईश्वर सिद्धि-प्रक्रिया में ऐसे अनेक प्रश्न हैं जिन पर तुलनात्मक दर्शन की दृष्टि से विचार करना अपेक्षित है....।" उदयनाचार्य की *न्याय कुसुमांजलि* में ईश्वर की स्थापना के विरूद्ध अनीश्वरवादियों - चार्वाक, जैन, बौद्ध, सांख्य एवं मीमांसा - द्वारा दी गई पाँच मान्यताओं का परीक्षण और खण्डन किया गया है, जो इस प्रकार हैं : (१) परलोक का कोई अलौकिक या अदृष्ट साधन नहीं है। (२) ईश्वर को माने बिना भी परलोक के साधनों का अनुष्ठान संभव है। (३) ईश्वर के अभाव को सिद्ध करने वाले प्रमाण का अस्तित्त्व है। (४) ईश्वर हो भी तो वह प्रामाणिक नहीं है। (५) ईश्वर को सिद्ध करने वाले प्रमाणों का अभाव है। इन विप्रतिपत्तियों के तर्कों का खण्डन उदयनाचार्य ने जिन तर्कों के आधार पर किया है, उन्हीं का विवेचन इस आलेख में किया गया है। भारतीय दर्शन की एक मूल अवधारणा - ईश्वर - पर

उदयनाचार्य के द्वारा अनीश्वरवादियों के तर्कों का खण्डन इस आलेख की परोक्ष तुलनात्मक विधि है। उदयनाचार्य के तर्कों के मूल्याँकन और परीक्षा को इस आलेख की परिसीमा से बाहर रखा गया है जो कि उदयनाचार्य के ईश्वरवादी विचार और अनीश्वरवादियों के तर्कों के बीच की तुलना की परिसीमा को देखते हुए तार्किक ही प्रतीत होता है।

(१९) ईश्वर की अवधारणा के बाद माया की अवधारणा का विश्लेषण प्रासंगिक प्रतीत होता है। प्रो.हृदय नारायण मिश्र का आलेख 'माया की अवधारणा : नागार्जुन और शंकर' माध्यमिक और अद्वैत वेदान्त की दार्शनिक परम्पराओं में माया की अवधारणा के परिप्रेक्ष्य में जीव, बन्धन, जगत, मोक्ष और निर्वाण का तुलनात्मक विवेचन करता है। इस आलेख के निष्कर्ष की अन्तिम प्रतिज्ञप्ति 'भले ही शंकर के ब्रह्मज्ञान से नागार्जुन की 'तथता' अधिक यथार्थ हो किन्तु इतना तो हर प्रकार से निश्चित है कि जगत् का नानात्व मायिक आभास मात्र है' को अविश्लेषित ही छोड़ दिया गया है। प्रश्न स्वाभाविक हैं कि किस प्रकार बौद्ध दर्शन की 'तथता' अद्वैत वेदान्त के 'ब्रह्मज्ञान से अधिक यथार्थ है ? माध्यमिक और अद्वैत वेदान्त की प्रत्ययवादी विचारधाराओं में 'यथार्थ' को किस अर्थ में लिया गया है ? और, यथार्थ किस प्रकार 'अधिक यथार्थ' या 'कम यथार्थ' कहा जा सकता है ? इस प्रकार के प्रश्नों को प्रो. मिश्र ने अनुत्तरित ही छोड़ दिया है। फिर भी, इन प्रश्नों में न जाकर मैं आलेख के प्रतिपाद्य विषय की चर्चा करता हूँ।

आलेख के प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट कर दिया गया है कि इसका उद्देश्य नागार्जुन और शंकर के दर्शन की परम्परागत विभिन्नताओं के बावजूद इनके बीच के साम्य की स्थापना करना है। इस आलेख के अनुसार नागार्जुन दर्शन में माया की जिस अवधारणा को प्रतिस्थापित किया गया है वह बीज रूप में अविद्या की अवधारणा के रूप में बुद्ध के वचनों में विद्यमान थी। इसी के साथ बौद्ध दर्शन के विभिन्न सूत्रों से अविद्या के दृष्टान्त दिए गये हैं। यहाँ *धम्मपद, सद्धर्मपुण्डरीक, अष्टसाहस्रिका-प्रज्ञापारमिता-सूत्र* और *शतसाहस्रिका-प्रज्ञापारमिता-सूत्र* की चर्चा है। इन दृष्टांतों के द्वारा यह स्थापित किया गया है कि बौद्ध दर्शन के अनुसार जगत् नश्वर और मिथ्या है, अर्थात् स्वभाव-शून्य है, किन्तु अविद्या के कारण ही नित्य और सत्य प्रतीत होता है। ज्ञानोदय के द्वारा ही जगत् का मिथ्या मोह नष्ट हो जाता है और जगत् से मोह नहीं रह जाता। बौद्ध दर्शन के उपर्युक्त ग्रंथों के दृष्टांतों को पृष्ठभूमि के रूप में प्रयोग करते हुए नागार्जुन के *माध्यमकशास्त्र* से माया की अवधारणा के दृष्टांत दिए गये हैं। इन दृष्टांतों से माया की जिन विशिष्टताओं को स्पष्ट किया गया है वे

इस प्रकार हैं : (१) क्लेश, शुभ, अशुभ, कर्म, शरीर, आत्मा और कर्म के फल मृगमारीचिका और स्वप्न के समान हैं। (२) जगत् के सभी धर्म स्वभाव-शून्य हैं - यह स्वभाव-शून्यता माया के कारण ही छिपी रहती है। (३) जगत् के धर्म मिथ्या होते हुए भी केवल अज्ञानी को ही सत्य प्रतीत होते हैं। ज्ञानी के लिए ये धर्म मिथ्या हैं और जगत् स्वभाव-शून्य है। (४) अविद्या का मूल कारण संस्कार हैं जो अज्ञानी में ही उत्पन्न होते हैं। अविद्या नष्ट हो जाने पर संस्कार अवरूद्ध हो जाते हैं। (५) माया के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिए नागार्जुन चतुष्कोटि न्याय की विधि का विधान करते हैं।

जिस प्रकार नार्गाजुन की माया की अवधारणा की पृष्ठभूमि के लिए प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन के विभिन्न ग्रंथों का दृष्टांत दिया गया है उसी तरह शंकराचार्य की माया की अवधारणा के लिए वेदों, उपनिषदों, भगवद्गीता और गौड़पाद का विवेचन किया गया है। इस विवेचन से माया की जो अवधारणा उभरकर सामने आती है उसकी विशेषताएँ इस प्रकार हैं : (१) माया ईश्वर की शक्ति है जिसके कारण वह नाना रूप दिखाई पड़ती है। (२) देश-काल और कार्य-कारण सभी उसी परमेश्वर द्वारा निर्मित हैं जो माया को धारण करता है, और माया के कारण ही जीव ब्रह्म से अन्यथा सा होकर मायामय जगत् में बँधा सा रहता है। (३) त्रिगुणी माया ज्ञानोदय के साथ ही नष्ट हो जाती है। (४) *प्रश्नोपनिषद* का उल्लेख करते हुए प्रो. मिश्र यह स्थापित करते हैं कि "माया का तात्पर्य अविद्या ही होना चाहिए जिससे मुक्त होने पर मनुष्य ज्ञान स्वरूप परम्-सत् को जान लेता है।" (५) माया द्वैत का आभास उत्पन्न करती है। एक ओर जगत् का विस्तार होता है तो दूसरी ओर इसी के कारण जीव जगत् को सत् समझकर परम्-सत् को भूल जाता है।

नागार्जुन और शंकर की माया (अविद्या) की अवधारणाओं की तुलनात्मक समानता को स्थापित करते हुए प्रो. मिश्र यह स्थापित करते हैं कि दानों ही अविद्या को अनादि तथा ज्ञान के द्वारा विनष्ट मानते हैं।

यह आलेख विवेचनात्मक या विवरणात्मक है। शंकर और नागार्जुन की माया की अवधारणाओं की तुलना में भी विश्लेषण के द्वारा यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि इनकी दार्शनिक संरचनाओं में माया की अवधारणा किस प्रकार कार्य करती है। यहाँ नागार्जुन और शंकर की माया (अविद्या) की अवधारणाओं में अन्तर पर्याप्त रूप से स्पष्ट नहीं किया गया है। नागार्जुन की अविद्या की अवधारणा और शंकर की माया की अवधारणा में साम्यता स्थापित करते समय उनकी विषमताओं का व्याख्यायित करना इसलिए अनिवार्य हो जाता है क्योंकि ऐसा न करने पर माया और अविधा की

अवधारणाओं में तुलना के द्वारा समानता स्थापित करने का वास्तविक धरातल तैयार नहीं होता है। ध्यातव्य है कि शंकर माया की अवधारणा का अविधा इत्यादि कई अर्थों में प्रयोग करते हैं। वे माया को ब्रह्म की शक्ति मानने के साथ-साथ अविद्या के रूप में जगत् के मिथ्यात्व पर आवरण और विक्षेप की तरह कार्य करते हुए इसे जगत् में अज्ञानियों के मोह का कारण मानते हैं। स्पष्ट है कि नागार्जुन और शंकर की माया की अवधारणाओं के स्थान पर इनकी अविद्या की अवधारणाओं में अधिक समानता दृष्टिगत होती है। ऐसा इसलिए है क्योंकि शंकर की माया की अवधारणा के कई आयामों में से एक अविधा, अर्थात् जगत् के मिथ्यात्व को ही नागार्जुन स्वभाव-शून्यता के रूप में स्थापित करते हैं। यद्यपि प्रो. मिश्र भी शंकर के माया की ईश्वर आश्रित होने की विशिष्टता तथा इससे नार्गाजुन की अविद्या की अवधारणा की भिन्नता को स्वीकार करते हैं, फिर भी, वे इस भिन्नता की संरचनात्मक गहराई को स्पष्ट नहीं करते। इसके बावजूद, प्रो. मिश्र के आलेख की यह मूल दृष्टि कि नागार्जुन और शंकर की माया (अविद्या) की अवधारणाओं में अन्तर उनकी अपने सम्प्रद्राय की परम्परागत मान्यताओं के कारण है, तथा नागार्जुन की चिन्तन पद्धति निषेधात्मक है तो शंकर की विधेयात्मक, एवं दोनों ही संसार से विरक्ति का उपदेश देते हैं, को स्वीकार किए बिना नहीं रहा जा सकता।

(२०) इस खण्ड के उपर्युक्त दोनों आलेख, जो कि क्रमशः ईश्वर और माया की अवधारणाओं से सम्बन्धित हैं, वस्तुतः सत्ता की प्रकृति के बारे में हैं। इसी कड़ी में प्रो. सागरमल जैन का आलेख 'भारतीय दार्शनिक चिन्तन में अनेकांत' जैनेतर भारतीय दर्शन की विभिन्न विचारधाराओं में अनैकांतिक दृष्टिकोण का अन्वेषण करता है जो कि मूलतः सत्ताशास्त्रीय सिद्धान्त है। इस समस्या के अन्वेषण के लिए कि जैनेतर किस सम्प्रत्यय को अनेकांतिक माना जाए, प्रो. सागरमल का मन्तव्य है कि अनैकांतिक दृष्टिकोण का विकास ऐकान्तिक कथनों के निषेध, सापेक्षिक सत्यता की स्वीकृति और परस्पर विरोधी विचारों के समन्वय के द्वारा होता है। इन्हीं आधारवाक्यों के द्वारा इस आलेख में हिन्दू, श्रमण और बौद्ध दार्शनिक परम्पराओं में अनैकांतिक दृष्टि को व्याख्यायित करने का प्रयास किया गया है। यह हिन्दू दार्शनिक परम्परा में ऋगवेद, उपनिषद्, सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, और मीमांसा तथा वेदान्त दर्शनों के अन्तर्गत अनैकांतिक विश्लेषण के सूत्रों का अन्वेषण करता है। इसी प्रकार, इसमें श्रमण परम्परा के अन्तर्गत संजय वेलट्ठीपुत्त और प्रारम्भिक बौद्ध एवं शून्यवाद की दार्शनिक परम्पराओं में अनैकांतिक दृष्टि की स्थापना के लिए इनके अनेकांतवाद के तुल्य दार्शनिक सम्प्रत्ययों का दृष्टांत दिया गया है। इस प्रकार, मूल रूप से यह आलेख

जैनेतर सभी भारतीय दार्शनिक परम्पराओं के अनैकांतिक विचारों का जैन दर्शन के अनेकांतवाद के सन्दर्भ में तुलनात्मक विश्लेषण है।

परन्तु , उल्लेखनीय है कि जैनेतर भारतीय दर्शनों में अनेकांतवाद के संप्रत्यय के अन्वेषण की सीमाएँ हैं जिनके कारण इस तरह के अन्वेषण की तार्किकता पर प्रश्नचिन्ह लगाया जा सकता है। सर्वप्रथम तो यही प्रश्न उठता है कि क्या अनेकांतवाद और अनैकांतिक दृष्टिकोण दानों एक ही हैं ? प्रो. जैन ने इन्हें एक ही माना है । वे मानते हैं कि 'अनेकांतवाद या अनैकांतिक दृष्टिकोण का विकास तीन आधारों पर होता है।' परन्तु वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनों में मूलभूत अन्तर है। कोई भी अनेकांतवादी इस सिद्धान्त के अन्तर्गत सात और केवल सात कथनों को ही स्वीकार करता है - न इससे कम और न अधिक। परन्तु अनैकांतिक दृष्टिकोण के लिए ऐसी स्वीकृति आवश्यक नहीं। अनेकांतवाद और अनैकांतिक दृष्टि में अन्तर के अतिरिक्त अनैकांतिक दृष्टि को संकुचित और विस्तृत अर्थों में प्रयोग किया जा सकता है। संकुचित और विस्तृत अर्थों का निर्धारण उस बिन्दु के द्वारा होता है जहाँ पर परस्पर विरोधी विचारों का समन्वय होता है, अर्थात् द्रष्टव्य यह है कि समन्वय किस सीमा तक दोनों विरोधी विचारों के निहितार्थ को आत्मसात करने में सफल हुआ है। किसी भी पूर्णतः संतुलित संतुलन की यथार्थ में प्राप्ति केवल कोरी कल्पना ही होती है, इसीलिए तथाकथित संतुलन की स्थिति में भी किसी विचार की अधिक और दूसरे विचार की अपेक्षाकृत कम अपेक्षाओं को दृष्टिगत किया जाना स्वाभाविक ही हो जाता है। ऐसी स्थिति में, जबकि 'अनैकांतिक दृष्टि' को परिभाषित करना एक समस्या ही हो सकती है, अनेकांतवाद के तुलनीय संप्रत्ययों का विभिन्न दार्शनिक प्रणालियों में अन्वेषण प्रायः ऐसी सर्वग्राही व्यक्तिनिष्ठता से ग्रसित होता है जो इस सिद्धान्त को सर्वव्यापक मानते हुए इसकी सीमाओं से अनभिज्ञ रहता है।

(२१) ईश्वर, माया, तथा सत्ता की प्रकृति से जुड़े प्रश्नों को सामाजिक सामंजस्यता के विभिन्न पहलुओं के सम्बन्ध में डॉ. गीता मेहता का आलेख 'विवेकानन्द और विनोबा दर्शन : एक तुलनात्मक विवेचन' समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। यह आलेख जिन खण्डों में विभाजित है वे हैं : (१) वेदान्त : भावी युग का धर्म (२) विवेकानन्द की सराहना करते हुए विनोबा जी (३) एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति (४) ब्रह्म की अवधारणा (५) सगुण ईश्वर (६) विश्व-विषयक अवधारणा (७) विश्व में छिपे शुभ अशुभ (८) मनुष्य में ईश्वर-दर्शन, और (९) मानव-जीवन का परम प्राप्तव्य। इनकी संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है :

(१) वेदान्त को ऐसे धर्म के रूप में मान्यता प्राप्त है जो विश्व धर्म है। इसका

कारण इसकी धार्मिक सहिष्णुता, जनतान्त्रिक दृष्टिकोण और इसका ऐसे सत्य में आधारित होना है जो समाधि-ध्यान से सभी धर्मों मे उत्पन्न होता है। (२) विनोबा जी ने विवेकानन्द के आर्त-सेवा और दरिद्रनारायण की सेवा के विचारों की प्रशंसा की है। मानव सेवा का विवेकानन्द का यह विचार अद्वैत वेदान्त का ही सामाजिक पक्ष है। इस सन्दर्भ में वे अद्वैत वेदान्त के चार प्रकारों को स्पष्ट करते हैं : एकाग्र अद्वैत, सामंजस्य अद्वैत, सारग्रही अद्वैत और आत्यंतिक अद्वैत। (३) विवेकानन्द द्वारा उपनिषदिक सत्य 'एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति' की पुष्टि की चर्चा करते हुए डॉ. गीता मेहता ने विनोबा के 'भी' वाद का उल्लेख किया है जिसके अनुसार 'यही सच है' के स्थान पर 'यह भी सच है' की धारणा रखनी चाहिए। (४) सत्, चित् और आनन्द ब्रह्म के अलग-अलग गुण न होकर ब्रह्म ही हैं। इस सन्दर्भ में विनोबा जी के द्वारा उल्लिखित ब्रह्म, प्रत्यक्ष जनित (संसार), अनुमित (ईश्वर) और श्रुति (वेद) का विवेचन है। (५) सगुण ईश्वर के विचार के सन्दर्भ में, जहाँ विभिन्न दूरियों से लिए गये सूर्य के चित्र का विवेकानन्द का बिम्ब ईश्वर के गुणों की असीमितता को दर्शाता है, तो स्पिनोजा के ईश्वर के विचार और विस्तार के गुणों की तरह विनोबा ईश्वर के गुणों को असीमित मानते हुए उनके सत्य, प्रेम और करूणा के गुणों को अपनाने पर बल देते हैं। इसी प्रकार विनोबा आस्तिक और नास्तिक (ईश्वर में विश्वास और अविश्वास) दोनों विचारों का समन्वय करते हैं। (६) विवेकानन्द का जगत् सम्बन्धी विचार अद्वैत वेदान्त है, जिसकी प्रतिज्ञप्ति है : ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या। विनोबा जी का स्फूर्तिवाद का विचार इससे मिलता-जुलता है। यदपि वे विवर्तवाद की जगह परिणामवाद को मानते हैं, परन्तु वे रामानुज के परिणामवाद को भी अस्वीकार करते हैं। उनके अनुसार, "जगत् न तो शंकर जैसे कहते हैं वैसे अवास्तविक है, न तो रामानुज जैसे कहते हैं वैसे वास्तविक है। अतः जगत् को वास्तविक मानकर इसमें रमण करने वाले और माया कहकर इससे भागकर सन्यास लेने वाले दोनों सत्य से दूर हैं। अन्तर केवल इतना है कि एक रज्जु-सर्प से डरकर भागता है और दूसरा उसे सत्य समझकर उसकी पिटाई करता है।" डॉ. गीता मेहता के अनुसार यहाँ विनोबा जी के विचारों पर संत ज्ञानेश्वर की छाप देखी जा सकती है।(७) विनोबा विश्व को शुभ ही मानते हैं। विश्व की दो शक्तियाँ - अहं और नाहं - सापेक्ष हैं जो शुभ-अशुभ को उत्पन्न करती हैं। परन्तु, वास्तव में विश्व शुभ है क्योंकि 'अशुभ का परिणाम शुभ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है'। अशुभ केवल मंगलविधायिनी शक्ति का दुरुपयोग ही है। वेदान्त के विचार कि आपात् प्रतीयमान अशुभ का कारण असीम का सीमाबद्ध भाव ही है, की तरह विनोबा "पूरे विश्व को मंगलमय मानते हैं। संसार

की कोई भी वस्तु अशुभ नहीं है। यदि कहीं कुछ बुरी वस्तुएँ हैं तो वे हमारी दृष्टि के कारण बुरी मालुम पड़ती हैं। सचमुच विनोबा यह मानते हैं कि संपूर्ण विश्व ही मानव की दृष्टि पर निर्भर है।" (८) विवेकानन्द और विनोबा दोनों ईश्वर का दर्शन और मानवसेवा को ईश्वर आराधना मानते हैं। यह सेवा अहंकार विहीन होनी चाहिए। इस अर्थ में विवेकानन्द और विनोबा दानों के विचारों में समानता है। (९) मानव जीवन का परम् प्राप्तव्य, विवेकानन्द के अनुसार, ऐसा आत्मसाक्षात्कार है जो मानव सेवा के द्वारा ही प्राप्त होता है। विनोबा साम्ययोग को जीवन का परम् प्राप्तव्य मानते हैं, जिसके चार तत्त्व हैं : संतुलन, स्थिरता, तादात्म्य और अभिप्रेत। साम्ययोग का आधार इन तत्त्वों के समन्वय का तत्त्वज्ञान है।

इस प्रकार विवेकानन्द और विनोबा के सामाजिक, धार्मिक और आध्यात्मिक विचारों में साम्यता, जिसका मूल आधार मानवसेवा और सामाजिक उत्थान का प्रयास है, ही इस आलेख का प्रतिपाद्य विषय है। इसमें विवेकानन्द और विनोबा के विचारों का समन्वयात्मक विवेचन तो किया गया है किन्तु इनके विचारों की भिन्नता को दर्शाया नहीं गया है। यदपि मानवसेवा के उद्देश्य की प्राप्ति में इन महान् चिन्तकों के द्वारा किए गये प्रयासों की चर्चा और इनके दार्शनिक विचारों के उल्लेख में परोक्ष रूप में इनके विचारों की परस्पर भिन्नता की झलक मिल ही जाती है।

(२२) इस खण्ड में अब तक के विमर्श का स्वरूप मुख्यत: आध्यात्मिक ही रहा है। इनसे भिन्न डॉ.शोभा निगम ने अपने आलेख 'मानवेन्द्रनाथ राय का भौतिकवादी दर्शन एवं उसका आदर्श' में राय के भौतिकवाद की प्रमुख विशेषताओं और मुख्य रूप से उनकी भारतीय आध्यात्मिक परम्परा की आलोचना को प्रतिपाद्य विषय बनाया है। डॉ.शोभा का निष्कर्ष है कि 'निश्चय ही राय का दर्शन आज हमारे लिए अत्यन्त प्रासंगिक है।' भौतिकवाद की स्थापना और अध्यात्मवाद की आलोचना से सम्बद्ध होने के बावजूद इस आलेख में न तो राय की भौतिकवाद की अवधारणा और न ही उनकी अध्यात्मवाद की अवधारणा को परिभाषित करके स्पष्ट किया गया है। आलेख का प्रारम्भ होता है भौतिकवाद और अध्यात्मवाद के उस तथाकथित रूप से जैसा कि इन सिद्धान्तो से 'प्राय: समझा जाता है', और जिसके अनुसार भौतिकवाद सुखवाद है और अध्यात्मवाद परलोकवाद है। सर्वप्रथम भौतिकवाद और अध्यात्मवाद के इस 'प्राय: समझे जाने' के डॉ.शोभा की पूर्वमान्यता पर ही प्रश्न-चिन्ह लगता है। प्रश्न उठता है कि क्या राय ने इन सिद्धान्तों को 'प्राय: समझे जाने' के इन्हीं अर्थों में लिया है ? बहरहाल, इसमें यह स्वीकार किया गया है कि राय यह मानते थे कि भौतिकवादी सिद्धान्त के तत्त्व भारतीय परम्परा में सदैव से ही विद्यमान रहे हैं। राय के अनुसार

भारतीय सामाजिक जीवन के ह्रास, राजनीतिक दासता और आर्थिक पिछड़ेपन का कारण आध्यात्मिक चिन्तन है। वह भौतिकवाद को ही आदर्शवाद कहते हैं न कि आध्यात्मिक दर्शन को। राय चार्वाक के जड़वाद, डेमोक्रिटस के परमाणुवाद की भौतिकवादी मान्यताओं से सहमत होते हुए भी इनसे अपने विचार को पृथक करने के लिए इसे भौतिक वस्तुवाद कहते हैं।

डॉ.शोभा की राय के भौतिकवाद की व्याख्या में कतिपय आन्तरिक विसंगतियाँ हैं। एक तरफ, वे जड़ से चेतन की उत्पत्ति की राय की मान्यता को दर्शाती हैं, तो दूसरी ओर, राय को यह कहते हुए उद्धृत करती हैं कि उनके अनुसार 'मनुष्य चेतन प्राणी है'। प्रश्न उठता है कि यदि चैतन्यता जड़ पदार्थ के एक विशिष्ट संयोग से उत्पन्न होने के कारण केवल सह-उत्पाद है जिसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है तो क्या मनुष्य को चैतन्य कहने में जड़वाद पूरी तरह सुसंगत है ? यदि जड़ पदार्थ का ही अस्तित्त्व है तो चेतना के अस्तित्त्व को पूरी तरह से स्वतन्त्र सत्ता कैसे माना जा सकता है ? समकालीन पाश्चात्य दर्शन में मन दर्शन में मानव मस्तिष्क और चेतना पर गहन अध्ययन अभी भी चल रहे हैं। राय की जड़वादी-भौतिकवादी मान्यता ही अन्तिम नहीं है।

इस आलेख में राय के भौतिकवाद की, मार्क्स के भौतिकवाद, जिसमें साधन की पवित्रता के लिए कोई स्थान नहीं है, से भिन्नता को स्पष्ट किया गया है। राय के विचार कि ईश्वर ने मनुष्य को नहीं बल्कि मनुष्य ने ईश्वर को उत्पन्न किया है, का उल्लेख आने पर युनानी दार्शनिक जेनोफेनीज की बरबस झलक मिल जाती है, हालाँकि डॉ.शोभा जी ने इस सादृश्यता को दर्शाया नहीं है।

आगे चलकर राय के दो विचारों को स्पष्ट नहीं किया गया है : एक तो राय का यह विचार कि आध्यात्मिकता के क्षेत्र में भारत के 'पास देने के लिए मामूली ही कुछ है : उसके लिए यही युक्ति उचित है कि पहले डाक्टर अपना इलाज करे', और दूसरा यह कि 'क्रिश्चियनिटी में सब कुछ है - अध्यात्म, नैतिकता, कष्ट सहन'।

राय के भौतिकवाद के अध्यात्म या उद्देश्य की व्याख्या करते हुए डॉ.शोभा का मन्तव्य यह है कि राय चार्वाक की सुखवादी जीवन पद्धति को स्वीकार नहीं करते बल्कि 'अपने भीतर निहित संभावनाओं के बोध' से युक्त तथा धर्म से उन्मुक्त जीवन जीने पर बल देते हैं। यहाँ 'धर्म से उन्मुक्त जीवन' का विचार समस्या से परे नहीं। प्रश्न उठता है कि धर्म से उन्मुक्त जीवन को धार्मिक जीवन से अधिक श्रेयष्कर कैसे माना जा सकता है ? धार्मिक आडम्बर से उन्मुक्त जीवन के श्रेयष्कर होने की बात तो समझ में आती है, किन्तु, धर्म के वास्तविक अर्थ में, ऐसे मानव जीवन को जिसमें

धर्म न हो, को किस प्रकार ऐसे जीवन से अधिक श्रेयष्कर कहा जा सकता है जो कि वास्तविक धार्मिक संस्कारों पर आधारित हो। यद्यपि राय मार्क्स के कई विचारों से असहमति रखते हैं, विशेषकर उनके नैतिक विचारों से, लेकिन यहाँ मार्क्स के धर्म को अफीम मानने के विचार की स्पष्ट छाप उनके विचारों पर देखी जा सकती है। वस्तुतः राय का भौतिकवाद मार्क्सवाद का भारतीयकरण ही कहा जाएगा। राय के भौतिकवाद की एकांगिकता डॉ.शोभा जी को भी द्रष्टव्य है, इसीलिए यद्यपि वे भी इसका पूरी तरह समर्थन नहीं करती हैं, फिर भी, निषेधात्मक निष्कर्ष के स्थान पर उनके द्वारा तुलना के विषय में राय के विचारों की सत्यता, आंशिक रूप में ही सही, स्वीकार करना शायद अधिक उपयुक्त होता क्योंकि आंशिक परिप्रेक्ष्य में तो राय के विचारों के सूत्र भारतीय दार्शनिक परम्परा में आसानी से ढूँढे जा सकते हैं और इसी प्रकार के ढूँढने में ही राय और भारतीय दार्शनिक परम्परा की तुलना की वास्तविकता निहित है।

इस प्रकार इस खण्ड में मूलतः ईश्वर, ·गया तथा अनेकांतवाद की अवधारणाओं और विवेकानन्द, विनोबा एवं मानवेन्द्रनाथ राय के विचारों का व्याख्या है।

इस पुस्तक के तीनों खण्ड, भिन्न-भिन्न प्रकार से, समसामयिक भारतीय दार्शनिकों के तुलनात्मक दर्शन के समन्वयात्मक पहलू के विचारों का प्रतिपादन करते हैं। अन्ततः, ध्यातव्य है कि तुलनात्मक दर्शन के विभिन्न आयामों एवं विषयों से सम्बन्धित इस पुस्तक का जो पहलू दार्शनिकों को तुलना के समन्वयात्मक विमर्श में रुचिकर प्रतीत होगा, संभवतः उसी दिशा में इस दार्शनिक प्रणाली के विकास और विस्तार में यह सहायक होगी।

कृष्ण–जन्माष्टमी
धर्मशाला

काली चरण पाण्डेय

खण्ड : एक

तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा एवं मीमांसा

तुलनात्मक दर्शन : यह क्या है और इसे क्या होना चाहिए

दया कृष्ण

सभी प्रकार के तुलनात्मक अध्ययनों में तुलनीयों के बीच एक साथ भेद की और अभेद की अवधारणाएँ निहित रहती हैं। यह स्थिति ऐसी बौद्धिक कठिनाइयों से भरी है जिनके परिणामस्वरूप यह निर्णय असंभव हो जाता है कि हम एक ही वस्तु के बारे में बात कर रहे हैं या कि भिन्न वस्तुओं के बारे में ? अब, इस जटिल पहेली का यों तो समाधान सहज में भी हो सकता है कि इसमें किसी भी एक पक्ष को स्वीकार कर लिया जाय; किन्तु तब यह पहेली फिर से उठ खड़ी होती है, क्योंकि यह तुलना के स्वरूप में ही निहित है, यह बात इसके किसी विशेष उदाहरण से सम्बन्धित नहीं है। 'हम नामाभिधान' (*नेमिंग*) की प्रक्रिया आखिर कब तक जारी रख सकते हैं ? क्योंकि इस प्रक्रिया का तो कोई अंत नहीं है और अंततः 'तो प्रत्येक वस्तु जो है, वह वही रहती है, वह कोई दूसरी वस्तु तो हो नहीं सकती।' अथवा, यदि हमें 'नाम' पसन्द नहीं हों, क्योंकि वे हमें कोई जानकारी नहीं देते और इस कारण हम उनके स्थान पर 'वर्णन' का विकल्प स्वीकार करते हैं जो कि हमें तथ्य उपलब्ध करता है, तो वे भी नामों की तरह अनन्त ही होंगे, क्योंकि जैसा कि जैन दार्शनिकों ने बहुत पहले यह दर्शाया था, ये वर्णन भी दृष्टि-सापेक्ष, अथवा कहें दृष्टि-बिन्दु सापेक्ष ही होते हैं। और फिर, 'अनुरूपों में कितनी अनुरूपता है'? यह ऐसा प्रश्न है जो सदैव पूछा जा सकता है और जो सब तुलनाओं के लिए घातक होता है क्योंकि यह उन्हें एक ऐसी अनिश्चयात्मकता में डाल देता है जिसका तर्कतः कोई समाधान संभव नहीं है। और फिर, शुद्ध अभिन्नता में किसी के लिए भी कोई रूचि नहीं हो सकती। 'अ = अ' शायद ही किसी को अग्रसर होने के लिए प्रेरित करे, और जहाँ तक 'अ = ब' का प्रश्न है, जैसा कि फ्रेगे के समय से सब को विदित है, यह ऐसी समस्याओं को जन्म देता है जिनका कोई समाधान कम से कम सैद्धान्तिक विचारणा (*थ्योरेटिकल रीज़न*) के सम्बन्ध के लिए सम्भव नहीं है। और जहाँ तक कर्मात्मक विचारणा (*प्रैक्टिकल रीज़न*) का सम्बन्ध है, विशेषतः उसका जो कांट की शुद्ध विचारणा (*प्योर रीज़न*) की कोटि में नहीं आती, उसे कभी उन समस्याओं का सामना नहीं करना पड़ा जो शुद्ध, अथवा अशुद्ध सैद्धान्तिक विचारणा द्वारा उठायी गई हैं। सैद्धान्तिक विचारणा द्वारा उठायी गई इन समस्याओं के कारण ही दार्शनिकों को नितान्त अव्यावहारिक होने की अपख्याति प्राप्त है।

अनु. : यशदेव शल्य

किन्तु 'तुलनात्मक अध्ययन' केवल तुलनाएँ ही नहीं होतीं, वे समाजों, संस्कृतियों और सभ्यताओं के बीच तुलनाएँ होती हैं। उन सीमा-रेखाओं के, जो 'हम' और 'उन' के द्वारा परिभाषित होती हैं, आर-पार विस्तृत तुलनात्मक अध्ययनों का संसार अनिवार्यत: 'उस अन्य यथार्थ' को देखने का फल होता है जो उस दृष्टि से देखा गया है जो अनिवार्यत: उस यथार्थ से वाह्य और इतर होती हैं। 'तुलनात्मक अध्ययनों' के मूल ही में निहित इस अन्तर्विरोध को, ज्ञान को सार्वभौम कहकर तथा ज्ञान को उस विशिष्ट 'हम' के साथ समीकृत करके जिसकी दृष्टि से 'अन्य' सभी समाजों और संस्कृतियों का मूल्याँकन किया जाता है, छिपाने का प्रयत्न किया जाता है। इस सामाजिक 'विशिष्टता' का आधार प्राय: ही उस समाज की राजनीतिक और आर्थिक शक्ति में निहित रहता है जिस समाज का यह 'समीक्षक' सदस्य होता है। ये र्नितत्त्वशास्त्रीय अध्ययन ही अधिकांश में 'तुलनात्मक अध्ययनों' के प्रेरक रहे हैं और ये पिछली तीन शताब्दियों में पश्चिमी यूरोप के शेष भू-मंडल पर राजनीतिक और आर्थिक अधिकार के ही एक अंग रहे हैं। युरोपीय शक्ति का यह विस्तार ज्ञान के परंपरागत क्षेत्रों में अद्‌भुत वृद्धि में ही प्रतिफलित नहीं हुआ बल्कि नये क्षेत्रों के निर्माण और निर्धारण में भी यह कारण बना। इससे इस धारणा को बहुत बल मिला कि जो भी उचित रूप से ज्ञान कहा जाने योग्य है उन सबकी सार्वभौम सत्यता का अन्वेषण पश्चिम में ही हो रहा है। इस प्रकार इसे ऐसी सार्वभौम रूप से स्वीकार्य कसौटी के रूप में देखा गया जिससे किसी भी संस्कृति और समाज को न केवल ज्ञान के इन नवोपलब्ध क्षेत्रों में ही परखा जा सकता है बल्कि किसी भी क्षेत्र में परखा जा सकता है, चाहे उनका इन क्षेत्रों से कोई सम्बन्ध हो और चाहे नहीं हो।

इस प्रकार, व्यवहारत: 'तुलनात्मक अध्ययनों' का अर्थ था पाश्चात्य समाजों और संस्कृतियों द्वारा स्थापित मानदण्डों से दूसरे समाजों और संस्कृतियों को ज्ञान और ज्ञानेतर दोनों ही प्रकार के क्षेत्रों में परखना। इन दूसरे समाजों और संस्कृतियों के विद्वानों ने भी पाश्चात्य समाजों को अपने दृष्टिकोण से देखने के बजाय पाश्चात्य विद्वानों द्वारा देखे गए मानदण्डों को ही स्वीकार कर लिया और वे यह सिद्ध करने के प्रयत्न में जुट गए कि उनकी अपनी संस्कृति ने विभिन्न क्षेत्रों में पाश्चात्य संस्कृतियों की उपलब्धियों से तुलनीय उपलब्धियाँ की हैं और वे किसी भी प्रकार से उनसे कम नहीं हैं। इस परिस्थिति ने ऐसे अध्ययनों के उद्‌भव को अवरूद्ध कर दिया जिन्हें 'तुल्य तुलनात्मक अध्ययन' कहा जा सकता है और जो इन क्षेत्रों में अधिक संतुलित अध्ययनों के आधार बन सकते हैं।

इसके अतिरिक्त, ये तथाकथित तुलनात्मक अध्ययन ऐसे तथ्यों को ही देखते

और प्रदत्तों को प्रस्तुत करते थे जो पाश्चात्य अवधारणाओं की संरचनाओं में बोधगम्य हो सकते थे। जिन प्रश्नों के उत्तर खोजे जा रहे थे, वे उन सम्बन्धों के प्रकाश में जो इन्हें महत्वपूर्ण प्रतीत होते थे और उन संबंधों के प्रकाश में जिनकी जाँच के लिए ये प्रस्तुत किये जाते थे, पहले से ही निश्चित थे। जिन अध्ययनों में अध्येय संस्कृतियाँ स्वायत्त मानी गईं उनमें उन संस्कृतियों की संस्थाओं में व्यक्त मूल्य उत्तरों के निर्धारक बनते थे न कि अवधारणात्मक संरचनाएँ जो कि स्वयं उस ज्ञान-क्षेत्र को परिभाषित करती थीं। किन्तु दर्शन स्वयं एक अवधारणात्मक संरचना ही है और कुछ नहीं, इसलिए तुलनात्मक दर्शन स्वभावतः ही एक दूसरी अवधारणात्मक सरंचना को प्रकाश में लाता है - ज्ञान-क्षेत्र के मानचित्र-निर्माण की उससे एक भिन्न विधि को, जिसके लिए अध्येता अभ्यस्त होता है। यह अपेक्षा चाहे कितनी भी स्वाभाविक क्यों नहीं हो, किन्तु वस्तुस्थिति इसके अनुसार नहीं घटित हुई। कोई किसी वैकल्पिक अवधारणात्मक संस्थान की संभावना कैसे स्वीकार कर सकता है जब उसके लिए स्वयं 'संभावना' का स्वरूप उस अवधारणात्मक सरंचना से ही निर्धारित हो जिस संरचना में कि वह पैदा हुआ है ?

इस प्रकार, तुलनात्मक दर्शन आरंभ से ही प्रश्नों की दलदल में फँस गया कि क्या पाश्चात्य परंपरा के अतिरिक्त कोई और दर्शन परंम्परा है भी ? विचारकों को यह समझने में बहुत समय लगा कि वे दर्शन के जो तथाकथित इतिहास लिख रहे थे वे मुख्यतः पाश्चात्य दर्शन के ही इतिहास थे, पश्चिम के अतिरिक्त किसी दूसरी दर्शन परंम्परा के नहीं। रसल पहला ऐसा व्यक्ति था जिसने दर्शन के इतिहास विषयक अपनी पुस्तक के नाम में इस तथ्य को स्वीकार किया कि वह केवल पाश्चात्य दर्शन का ही इतिहास लिख रहा है, दर्शन मात्र का इतिहास नहीं। किन्तु समस्या आज भी जहाँ की तहाँ ही है। क्या हम पाश्चात्य परम्परा के अतिरिक्त किसी दूसरी परम्परा में दार्शनिक विचार की विद्यमानता स्वीकार करने को तैयार होंगे या नहीं ? यह प्रश्न पाश्चात्य परम्परा के बाहर दो परम्पराओं - भारतीय और चीनी - के दर्शनों के प्रसंग में बार-बार उठा है। अभी हाल ही में यही विचार अफ्रीका के संदर्भ में भी उठा है कि क्या वहाँ दर्शन जैसी कोई चीज़ रही है ? आश्चर्य की बात है कि यह प्रश्न इस्लामी दर्शन के सम्बन्ध में कभी नहीं उठाया गया जिसका कारण संभवतः यह है कि इस परम्परा ने सचेत रूप से अपने को उस परम्परा की कृतियों पर प्रतिष्ठित किया। वास्तव में, पाश्चात्य दर्शन के अधिकांश इतिहास-ग्रंथों में अरबी दर्शन पर एक अध्याय रहता है, किन्तु वे अधिकांशतः इस दर्शन को उस माध्यम के रूप में महत्व देते हैं जिसके द्वारा पश्चिम का प्लेटो और अरस्तु से तब तक सम्बन्ध बना रह सका

जब तक वे मूल ग्रीक भाषा में उपलब्ध नहीं हो पाये। अथवा कहें, यह पश्चिम में दर्शन की मुख्य धारा के विकास में अन्तराल के रूप में देखा गया, जिस अन्तराल में स्वयं से कुछ महत्वपूर्ण नहीं था। किन्तु यहाँ हमारे लिए चीनी, अफ्रीकी, अथवा अरबी परम्पराओं में दर्शन के स्थान को लेकर चल रहा विवाद विचार-विषय नहीं है, जिसका कारण यह है कि मैं इन संस्कृतियों की दार्शनिक परम्पराओं से तनिक भी परिचित नहीं हूँ। किन्तु भारतीय परम्पराओं के बारे में, जिसके सम्बन्ध में मैं कुछ जानता हूँ, यहाँ विचार करना तुलनात्मक दर्शन सम्बन्धी समस्याओं पर कुछ प्रकाश डाल सकता है।

जो लोग भारत की तथाकथित 'दार्शनिक' परम्परा का अध्ययन करते रहे हैं उनके सामने मुख्य समस्या यह रही है कि इस दर्शन का प्रमुख विषय मोक्ष होने से इसे उचित रूप से दर्शन कैसे कहा जा सकता है ? क्योंकि मोक्ष का अर्थ है आत्यंतिक दुःख-निवृत्ति, जो कि बौद्धिक खोज का विषय नहीं होकर साधनों द्वारा प्राप्त विषय है। इसके साथ यह बात और जुड़ जाती है कि ज्ञानान्वेषण की ऐसी परम्परा को, जो तर्क और अनुभव दोनों को गौण रखकर आप्तवचन अथवा प्रातिभ साक्षात्कार को प्राथमिकता देती है, उचित रूप से दार्शनिक कैसे कहा जा सकता है ? वास्तव में, *भारतीय दर्शन विश्व-कोश* भारतीय दर्शन की मोक्षपरकता को उसका एक आधारभूत गुण मानता है और इस प्रकार उसके अनुसार इस दर्शन को इसके बिना नहीं समझा जा सकता। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि पश्चिम के अधिकांश विश्वविद्यालयों में भारतीय दर्शन का अध्ययन-अध्यापन नहीं होता क्योंकि इन विश्वविद्यालयों के अध्यापकों या विद्यार्थियों की मोक्ष के अन्वेषण में कोई रूचि नहीं है। भारतीय दर्शन का भारत-विद्या (*इंडोलॉजी*) विषयक विभागों में निष्कासन और उसका वर्तमान दार्शनिक चिन्तन से पूर्ण पृथक्करण इसका स्पष्ट द्योतक है। इसी सिक्के का दूसरा पक्ष यह है कि पाश्चात्य विश्वविद्यालयों में, भारतीय दर्शन में, इधर रुचि का उदय अतिक्रामी ध्यान-समाधि (*ट्रांसेंडेंटल मेडीटेशन*) तथा योग आदि में रुचि के परिणाम स्वरूप हुआ है।

किन्तु भारतीय दर्शन विषयक इस व्यापक धारणा के विरूद्ध यह तथ्य भी द्रष्टव्य है कि भारतीय दर्शन की किसी भी कृति में अपने मत की स्थापना से पहले पूर्वपक्ष प्रस्तुत कर उसका प्रत्याख्यान करने की प्रथा दृष्टिगोचर होती है। प्रतिपक्ष या पूर्वपक्ष यहाँ केवल सीधा-सादा प्रस्तुत ही नहीं किया जाता था बल्कि उसके पक्ष में वे सभी युक्तियाँ भी प्रस्तुत की जाती थीं जो प्रतिपक्षियों द्वारा दी गई होती थीं, अथवा वह दार्शनिक स्वयं उसके समर्थन में सोच सकता था। यदि यहाँ कोई केवल अपना मत

ही प्रस्तुत करता और उसके पक्ष में कोई युक्तियाँ या हेतु नहीं दे पाता तो वह दार्शनिक वाद-विवाद के अखाड़े से निकला हुआ ही समझा जाता और कोई भी उसकी दार्शनिकों में गणना नहीं करता था। यहाँ तक कि विभिन्न दार्शनिक संप्रदायों के सूत्र-ग्रंथों में भी, जो कि उन संप्रदायों के आधार ग्रंथ थे, न केवल स्वमत ही युक्ति सहित प्रतिपादित किया गया मिलता है बल्किं प्रतिपक्ष का खण्डन भी मिलता है। इसके अतिरिक्त, सभी हेतु समान रूप से युक्त नहीं मान लिये जाते थे बल्कि इस पर भी विस्तृत विचार किया गया मिलता है कि युक्त हेतु के क्या लक्षण हैं और अयुक्त हेतुओं से उसे कैसे पृथक् किया जा सकता है ?

इतना ही नहीं, किसी भी दार्शनिक प्रश्न पर हुए वाद-विवाद के इतिहास में उस युक्ति के विकास और प्रत्येक दार्शनिक द्वारा उसमें किये गए योगदान का विवरण उपलब्ध होता है। किन्तु इसमें विभिन्न मतों की रूढ़ आवृत्ति मात्र प्रस्तुत नहीं कर दी जाती थी बल्कि प्रतिवादियों की आलोचनाओं के प्रकाश में अपनी युक्तियों का परिष्कार और सूक्ष्मीकरण भी किया जाता था। बौद्धों और नैयायिकों के बीच हुआ महान् वाद-विवाद, जो पाँचवीं ई.श. में दिंङ्नाग के साथ आरंभ हुआ और ग्यारहवीं ई.श. तक चला, इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। लगभग छः सौ वर्षों तक चले वाद-विवाद के इस सुदीर्घ इतिहास में बौद्धों की ओर से दिंङ्नाग, धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, शांतरक्षित और कमलशील जैसे महान् तार्किकों ने भाग लिया और दूसरे पक्ष में उद्योतकर, कुमारिल, प्रभाकर जैसे मीमांसकों तथा वाचस्पति मिश्र, जयन्त, उदयन तथा श्रीधर जैसे नैयायिकों ने। भारत के रंगमंच पर से बौद्धों के निकल जाने पर द्वैतवादियों और अद्वैतवादियों के बीच वाद-विवाद चला जिसमें अद्वैतवादियों के पक्ष के अन्तिम महान् प्रतिनिधि मधुसूदन सरस्वती हुए और द्वैतवादियों के पक्ष के व्यास तीर्थ। इसके साथ-साथ न्याय सम्प्रदाय में गंगेश के बाद १२वीं शताब्दी से आधारभूत और क्रांतिकारी उद्भावनाओं का युग आरंभ हुआ जिनके विकास का क्रम सत्रहवीं शताब्दी तक चला। पाँच सौ वर्षों के इस सुदीर्घ इतिहास में कम से कम ३६ ऐसे विचारक हुए जिनके नाम ज्ञात हैं और जिन्होंने अपनी रचनाओं के द्वारा भारत के तार्किक चिन्तन के विकास और परिष्कार में योगदान किया। इस विचार-प्रणाली ने युक्ति-विचार की सम्यक्ता के ऐसे मानदण्ड उद्भावित किये जिनसे विचार का कोई भी क्षेत्र अप्रभावित नहीं रह सका।[१]

पाँचवीं से बारहवीं शताब्दी यह पर्याप्त दीर्घ-अवधि है और इस अवधि में अत्यन्त ठोस दार्शनिक चिन्तन की विद्यमानता और इसमें भाग लेने वालों में युक्तियों का निरन्तर चलने वाला ऐसा क्रम जो प्रत्येक पक्ष के निरन्तर अधिकाधिक विकास में निष्पन्न हुआ, किसी भी संस्कृति के लिए गर्व अनुभव करने की बात है। इसके

बावजूद, भारतीय दर्शन के सम्बन्ध में सामान्य धारणा यह है कि इसे 'दर्शन' शब्द की पाश्चात्य परिभाषा के अनुसार शुद्ध रूप से दर्शन नहीं माना जा सकता क्योंकि इसका मुख्य प्रतिपाद्य मोक्ष है और इसके लिए आप्त-वचन युक्ति और अनुभव से ऊपर प्रमाण है। इसके अतिरिक्त, 'दर्शन' शब्द के विशिष्ट अर्थ में, जिस अर्थ में इसके अनुसार पश्चिम का इस पर एकाधिकार है और जो किसी भी चिन्तन-प्रक्रिया को दर्शन कहने के लिए मानदण्ड है, इसका दावा है कि पश्चिम चिन्तन परंपरा थेल्स से आज तक अक्षुण्ण चली आ रही है। किन्तु जैसा कि सब जानते है, यह एक झूठा दावा है। यदि इस शब्द की आधुनिक पश्चिम द्वारा स्थिर की गई परिभाषा का मानदण्ड कठोरता से लागू करें तो हम पायेंगे कि पश्चिम के इतिहास में ऐसे सुदीर्घ अन्तराल हैं जिनमें दार्शनिक चिन्तन दृष्टिगत नहीं होता। प्लेटो और अरस्तु को पूर्णतः पश्चिम की बपौती मानना और संपूर्ण पाश्चात्य परंपरा को सत्रहवीं शताब्दी से घटित चिन्तन-विधि के अनुसार पुनः रूपायित करना, ये ही वे विधियाँ हैं जिनसे पाश्चात्य परम्परा विशिष्ट दिखायी देती है। किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि केवल पाश्चात्य दार्शनिक ही ऐसे नहीं हैं जो इस भ्रम को पालते हैं, बल्कि अनेक अन्य विद्वान भी इस धारणा को बिना किसी आपत्ति के स्वीकार कर लेते हैं।

उदाहरणतः, दर्शन का अध्ययन करने वाले भारतीय दार्शनिक न केवल इस फंदे में ही सहर्ष जा फँसे हैं बल्कि उन्होंने भारतीय दर्शन में पाश्चात्य दर्शन से अनुरूपता के उदाहरण खोजकर इसके लिए पश्चिम से अनुशंसा प्राप्त करने का प्रयत्न भी किया, कुछ दूसरों ने इस बात में गर्व अनुभव किया कि यह दर्शन केवल एक शुष्क बौद्धिक व्यायाम और निष्प्रयोजन तर्क-दंगल मात्र नहीं है बल्कि मनुष्य की पारमार्थिक बन्ध और मोक्ष विषयक समस्याओं का गहनतम आध्यात्मिक स्तर पर अवगाहन करता है। इस प्रकार, भारतीय दर्शन में या तो वह सब कुछ था जो पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा और तत्वमीमांसा के अत्यन्त विकसित उदाहरणों में हम पा सकते हैं, अथवा यह कि इस दर्शन का अपना एक वैशिष्ट्य था कि यह स्वरूपतः अध्यात्म तत्त्वान्वेषी और मोक्षानुध्यायी था। यह बात आराम से भुला दी गई कि यदि दर्शन मानवीय विचारण (*इंटलेक्ट*) का प्रतिफल है तो सांस्कृतिक भिन्नताओं के बावजूद इसमें एक सीमा तक अनुरूपता होना आवश्यक है, और इसी प्रकार, इसके एक मानवीय-अन्वेषण होने से यह भी अनिवार्य हो जाता है कि इसमें मनुष्य का परामर्श और पुरूषार्थ-बोध उसके सांस्कृतिक वैशिष्ट्य से उपरंजित होकर ही परिलक्षित है।

किसी भी तुलना में निर्धारक पदों की अनिवार्य स्थिति से केवल तभी ऊपर उठा जा सकता है यदि उस तुलना में प्रतिमानभूत पदों को, तुलना का एक भिन्न

प्रतिमान स्थिर करने के उद्देश्य से, बदल लिया जाय। साधारणत: तो यह स्थिति स्वत: ही उत्पन्न होनी चाहिए थी क्योंकि प्रत्येक संस्कृति दूसरी को अपने दृष्टिकोण से आँकती है। और, इस प्रकार, प्रत्येक संस्कृति दूसरी के लिए विषय और अपने लिए विषयी होती है। किन्तु राजनीतिक और आर्थिक कारणों से ऐसा नहीं हुआ क्योंकि विषयभूत संस्कृतियों के विचारकों ने भी पाश्चात्य वर्गणाओं और प्रतिमानों को ही अपनी विषयिता बना लिया और इस प्रकार वे अपनी संस्कृतियों को भी पाश्चात्यों द्वारा प्रदत्त प्रतिमानों के अनुसार ही समझते, आँकते और उनमें परस्पर तुलनाएँ करते हैं। यहाँ सार्त्र के एक प्रसिद्ध मुहावरे का उपयोग करते हुए कहा जा सकता है कि पाश्चात्य के सिवाय अन्य सब संस्कृतियाँ अवलोक्य और इस प्रकार विषयभूत हो गई हैं, अर्थात् वे पाश्चात्य विचारकों द्वारा पाश्चात्य अवधारणाओं के अनुसार ऐसे देखी-परखी जाती हैं जैसे वे उनकी सांस्कृतिक विषयता-मूलक नहीं होकर सार्वभौम हों। इस प्रकार एक गहरे और आधारभूत रूप में पश्चिम ने बहुत कुशलता से ज्ञान-व्यापार में केवल अपने को ही विषयी पद पर अधिष्ठित कर लिया है और शेष सब संस्कृतियों को विषय रूप में स्थापित कर दिया है।

भारतीय संदर्भ में यह समस्या इस कारण और उलझ जाती है कि भारतीय दर्शन-सम्बन्धी अधिकांश वाद-विवाद यूरोपीय भाषाओं के माध्यम से ही होता है। इसलिए संस्कृत पदों का पाश्चात्य भाषाओं के पर्यायों में अनुवाद एक बाध्यता हो जाती है। यह स्थिति इन पर्यायों को, मूल के अर्थ के सम्बन्ध में, निर्णायक की भूमिका दे देती है। इसका विपरीत क्रम प्राय: कभी घटित नहीं होता। किन्तु अभी कुछ ही समय पहले पुणे में प्रयोग के रूप में रसल और विट्गेन्स्टाइन के प्रतिपादनों में से कुछ प्रसंग संस्कृत में अनुवाद करने का प्रयत्न किया गया था जिससे दर्शन में प्राचीन भारतीय परंपरागत विधि से शिक्षित विद्वानों की उन पर प्रतिक्रियाएँ जानी जा सकें। इन परंपरागत रूपेण शिक्षित पंडितों ने रसल-विट्गेन्स्टाइन की प्रतिपत्तियों को कैसे समझा ?, क्योंकि उनमें से अधिकांश अंग्रेजी नही जानते थे इसलिए उन्हें वह सब कुछ संस्कृत में अनुवाद करके प्रस्तुत करना आवश्यक था। किन्तु संस्कृत पर्यायों के अर्थ उन पदों के अपने प्रयोग-प्रसंगों के अनुसार थे जो प्रसंग उन पदों पर नये अर्थों के आरोप स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। एक बार पहले १९वीं शताब्दी में बनारस से प्रकाशित होने वाली *पंडित* नामक पत्रिका में यह प्रयोग किया गया था। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, इसके परिणामों का आज तक उपयुक्त विश्लेषण नहीं किया गया है।

जो भी हो, इस प्रश्न का अभी तक समाधान नहीं हो पाया है कि एक अवधारणात्मक संरचना का दूसरी अवधारणात्मक संरचना में किस प्रकार अनुवाद

किया जा सकता है, विशेषत: तब जब दूसरी न केवल दूसरी भाषा में है बल्कि उसके परिष्कार का इतिहास भी हजारों वर्षों का है। यह बात महत्वपूर्ण है, क्योंकि एक समय जटिल संस्कृत ग्रंथों का तिब्बती और चीनी भाषाओं में अनुवाद किया गया था। और, बाद में चीनी भाषा में अनूदित इन ग्रंथों का कोरियाई या जापानी भाषाओं में अनुवाद हुआ। किन्तु इनमें से अधिकांश में क्योंकि दर्शन की कोई विकसित परम्परा नहीं थी इसलिए ऐसे नये पदों का गढ़ना संभव था जिनके अपने अर्थ प्रसंगों का कोई निश्चित इतिहास नहीं था। किन्तु तब भी, जैसा कि नाकामूरा ने दिखाया है, उस अनुवाद को जबकि बौद्धिक पूर्व-निर्धारणों का सामना नहीं करना पड़ा, उसे उस भाषा के सांस्कृतिक परिवेश से अनुकूलन तो स्थापित करना ही पड़ा।[२]

जो भी हो, इस समस्या के समाधान की दिशा में आरंभिक कदम उठाने के लिए भी एक मात्र उपाय यह है कि किसी भी वस्तु-स्थिति को दोनों दिशाओं से देखा जाये, अर्थात् यह देखा जाये कि प्रत्येक अन्य के दृष्टिकोण से कैसा दिखाई देता है। दूसरे को देखने, अथवा दूसरे को अपनी पदावली में समझने, जाँचने और मूल्याँकन करने के इस खेल में किसी संस्कृति अथवा परंपरा को वरीयता नहीं मिलनी चाहिए।

किन्तु संसार में केवल दो ही संस्कृतियाँ नहीं हैं, और किसी निश्चय के साथ कहना कठिन है कि ये कितनी हैं ? संस्कृतियों को परस्पर भिन्न करने की क्या कसौटी हो सकती है, इसके निर्धारण के लिए भी कोई सर्व-सम्मत कसौटी नहीं है। यह भी आवश्यक नहीं है कि कोई संस्कृति सभी क्षेत्रों में विशिष्ट हो, अथवा वह सभी क्षेत्रों में सृजनात्मक रही हो। किन्तु इसमें संदेह के लिए कोई अवकाश नहीं हो सकता है कि हम चाहे किसी भी आयाम को विचार के लिए चुनें, हम पायेंगे कि उसमें एक से अधिक संस्कृतियाँ सृजनशील रही हैं और उन्होंने उसमें महत्वपूर्ण योगदान किया है। अब यदि ऐसा है तो प्रत्येक संस्कृति को देखने के लिए अनेकानेक वैकल्पिक दृष्टिकोण होंगे। किन्तु इस समय इस प्रकार की वस्तु-स्थिति की आशा करना केवल एक काल्पनिकता होगी। आज प्रत्येक देश केवल पश्चिम से ही भिन्न है जिसकी दृष्टि से यह अपने को देखता, मापता, और मूल्याँकित करता है। यहाँ तक कि ये देश अपने पड़ोसी देशों को भी नहीं जानते हैं, भले ही उन्होंने उन क्षेत्रों में, जिनमें इनकी विशेष रुचि है, बहुत महत्वपूर्ण योगदान भी किया हो। निश्चय ही इस परिस्थिति के लिए ऐतिहासिक कारण भी हैं, किन्तु ये कारण अभी भी सक्रिय हैं और इनसे बचने का कोई रास्ता भी दिखायी नहीं देता, सिवाय इसके कि विभिन्न संस्कृतियों से सम्बन्धित एक विषय के विद्वान संस्कृति-केन्द्रकता के दुश्चक्र के अतिक्रमण के लिए संयुक्त प्रयत्न करें।

किन्तु किसी सांस्कृतिक क्षेत्र में किसी सांस्कृतिक परम्परा के अस्मिता-बोध की

समस्या सार्वभौमता के उस दावे के विपरीत जाती है जो कि सत्य-मात्र की अनिवार्य पूवपिक्षा है। किन्तु यह ध्यातव्य है कि सार्वभौमता का दावा एक ऐसा दावा है जो इसके दावेदारों में से कोई भी पूरा नहीं कर पाया है। यह केवल पाश्चात्य प्रारूपों (*मॉडल्स*) के सार्वभौ । आरोप का ही फल है कि ये सार्वभौम प्रतीत होते हैं, संस्कृति केन्द्रित नहीं, जो कि वास्तव में वे हैं। विभिन्न सांस्कृतिक संरचनाओं के बीच तुलना अथवा उनका सापेक्ष मूल्याँकन किस प्रकार किया जा सकता है, यह प्रश्न एक दूसरी समस्या प्रस्तुत करता है। कुन्ह की प्रस्थापना है कि एक ही संस्कृति में भी, जिसकी एक ही भाषा तथा इतिहास है, दो भिन्न अवधारणात्मक संरचनाओं के बीच सामंजस्य स्थापित करना असंभव है। किन्तु जब संस्कृतियाँ, भाषाएँ और इतिहास भी आधारभूत रूप से भिन्न हों तब तो उनके बीच अनुरूपता, प्रतिरूपता अथवा मूल्याँकन संभव ही कैसे हो सकता है ?, किन्तु यह निर्णय भी कि ये असम्मेय हैं, कि इनमें साम्य-स्थापना असंभव है, इनमें तुलना और इनके पृथक्-पृथक् अवगमन को पूर्व-कल्पित करता है। इस प्रकारं, जो चेतना यह करती है उसमें बौद्धिक अनुभूति की वह योग्यता रहती है जो अवधारणात्मक कल्पना के द्वारा अवगम्यता (*इंटेलिजिबिलिटी*) के एक भिन्न जगत् में प्रवेश संभव करती है, और उसमें पूर्ण अपनत्व चाहे नहीं भी अनुभव कर पाती हो किन्तु कम से कम परायापन भी अनुभव नहीं करती।

अब, वैकल्पिक अवधारणात्मक संरचनाओं में चयन के निर्णय का क्या आधार हो सकता है ? इस सम्बन्ध में कहा गया है कि यह निर्णय तर्क अथवा साक्ष्य के आधार पर नहीं बल्कि सार्थक अनुसंधान कार्यक्रमों में अतर्दृष्टि देने में उनकी योग्यता के आधार पर किया जाता है। विशेषत: आजकल जब अनुसंधान में व्यावसायिक रूप से लगे हुए व्यक्तियों की संख्या इतनी विशाल है और वह निरंतर बढ़ रही है, निश्चय ही वैकल्पिक सिद्धान्तों और अवधारणात्मक संरचनाओं के बीच निर्णय विकासात्मक संघर्ष के द्वारा ही होता है जिसमें अंतत: योग्यतम ही बच पाता है। यहाँ यह बात आराम से भुला दी जाती है कि संघर्ष में विजय अनेक घटक-तत्त्वों (*फैक्टर्स*) का फल होती है जिसमें राजनीतिक और आर्थिक तत्त्व मुख्य होते हैं, और जिसमें वे अस्तित्त्व लेते हैं वह स्वयं भी अपने कोई अवशेष य. चिq छोड़े बिना नष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त, हावी होने और जीवित रहने के बीच अन्तर भी है। जो लोग संस्कृतियों के बीच जैव विकास के तत्त्वों का आरोप करते हैं वे प्राय: ही भूल जाते हैं। वे यह भी भोले-भाव से मान लेते हैं कि जो आज अन्यों पर हावी है वह सदैव इसी प्रकार हावी रहेगा।

किन्तु यह विचार भी कि वैकल्पिक अवधारणात्मक संरचनाओं के बीच चयन

करना अनिवार्य है, वे चाहे भिन्न संस्कृति-मूलक हों अथवा नहीं, स्वीकार्य होना आवश्यक नहीं है। अवधारणात्मक संरचनाओं के अनुभव को संयोजित और व्यवस्थित करने तथा अर्थपूर्ण बनाने के उपकरण के रूप में भी देखा जा सकता है। इस प्रकार, प्रत्येक उपलब्ध अवधारणात्मक संरचना दूसरी संरचनाओं की सीमाओं की द्योतक और अन्य संरचनाओं द्वारा नहीं देखे गए एक नये आयाम की उद्घाटक भी हो सकती है। इसी प्रकार, ये इस रूप में भी देखी जा सकती हैं कि इनसे हमारा ध्यान अनुभव के ऐसे तथ्यों की ओर आकृष्ट होता है जो दूसरे परिप्रेक्ष्यों में उपेक्षित रहे और इस प्रकार हमें अनुभव को संयोजित करने की एक नयी विधि उपलब्ध होती है।

इस पर यह कहा जा सकता है कि यह निष्कर्ष भयावह रूप से संपूर्ण ज्ञानान्वेषण-व्यापार को कलात्मक व्यापार के निकट ले आता है, और यदि इसे इसके तार्किक निष्कर्षों की पर्यन्तता तक ले जाएँ तो हमें सत्य का दावा पूर्ण रूप से छोड़ना होगा। किन्तु यह भी हो सकता है कि कला के साथ इस अनुरूपता को खतरे की घंटी के रूप में नहीं देखा जाये कि हम सही रास्ते पर नहीं हैं, बल्कि इस बात के संकेत के रूप में देखा जाये, कम से कम उन लोगों द्वारा जो कला को बहुत आदर देते हैं, कि संभवतः हम बहुत गलत रास्ते पर नहीं हैं, चाहे पूर्णतः सही रास्ते पर भी नहीं हों। अवधारणाएँ केवल प्रतीक और बिंब नहीं हो सकतीं और न केवल अनुभूतियाँ और उद्वेग ही हो सकती हैं। सत्य और असत्य विषयक सन्दर्भों की देर तक उपेक्षा नहीं की जा सकती चाहे उनका समाधान स्वरूपतः असंभव हो। किन्तु तब भी हमें जिस बात का ध्यान रखना चाहिए वह यह है कि सत्यान्वेषण की प्रक्रिया किसी भी दूसरे प्रयत्न के बराबर ही अनंत है, और यद्यपि सत्य का दावा करना अनिवार्य है किन्तु यह उतना ही निश्चित है कि यह कभी पूरा नहीं हो सकता। भविष्यत् न केवल हमें हमारे ज्ञान की सीमाएँ और ज्ञान की भ्रांतता ही प्रकट करता रहेगा बल्कि ऐसे नये क्षितिज भी हमारे सन्मुख उद्घाटित करता रहेगा जिनकी हमने पहले कभी कल्पना भी नहीं की होगी।

यह सही है कि अवधारणात्मक संरचनाओं की विविधता का कारण यह है कि संस्कृतियाँ ऐतिहासिक रूप में एक दूसरे से अलग रहीं और उनमें परस्पर कोई संवाद नहीं रहा। यह पार्थक्य भौगोलिक, राजनीतिक और भाषायी कारणों से पोषित भी हुआ, जो कारण, एक ओर, लोगों में परस्पर संपर्क के माध्यम बने, दूसरी ओर, दूसरों से पार्थक्य का कारण भी बने। व्यापार और धर्म ने प्रायः सदैव भौतिक या आध्यात्मिक लाभ के लिए देशों की सीमाएँ लाँघने का प्रयत्न किया है, किन्तु जब तक उन्हें राजनीतिक बल का सहयोग नहीं मिला तब तक उन्हें इसमें प्रायः पर्याप्त सफलता भी

नहीं मिली। किसी संस्कृति के इस अपेक्षाकृत पृथक् विकास के कारण उत्पन्न उसके वैशिष्ट्य के आधार में एक आगन्तुक बात भी रहती है, और वह यह कि उसके आरम्भिक चरणों में उससे सम्बन्धित महान् प्रतिभाओं को किन समस्याओं ने अपने समाधान के लिए अथवा किन प्रश्नों ने अपने उत्तर के लिए उद्विग्न किया।

यह सही है कि किसी भी प्रकार किसी समस्या के निश्चित आरंभ का निर्धारण नहीं किया जा सकता, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि उन सब सभ्यताओं के, जिनके अतीत के विवरण उपलब्ध हैं, आरम्भिक चरणों में कुछ ऐसे व्यक्ति रहे जिन्होंने समस्याओं की उद्भावना के, प्रश्न उठाये, और कम से कम इन समस्याओं के समाधान की विशिष्ट दिशाओं की ओर संकेत किया।

किसी समाज के सामने कौन सी समस्याएँ उपस्थित हुईं और उसने उनके समाधान की खोज किस दिशा में की ?, इस बात ने उनकी परम्पराओं को परस्पर वैशिष्ट्य दिया, और वास्तव में, यही बात अन्य परम्पराओं के लिए किसी परम्परा के ज्ञान के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण होनी चाहिए।

निश्चय ही मानवीय बोध में एक ओर, और मानवीय जीवन की परिस्थितियों में दूसरी ओर, एक वस्तुगत सार्वभौमता है, जिनके कारण विभिन्न संस्कृतियों के द्वारा देखी गई समस्याओं और उनके प्रस्तावित समाधानों में एक सीमा तक अनुरूपता का होना स्वाभाविक हो जाता है। किन्तु यह बात साधारणतः एक सीमित रूचि की बात है, सिवाय ऐसे लोगों के जिन्होंने अपने को मनुष्य के एक समुदाय विशेष के साथ इतना तादाम्य बना लिया है कि उनके लिए सबसे महत्वपूर्ण बात यह सिद्ध करना ही रह जाती है कि संसार में जो कुछ भी कुछ उत्तम है वह उसी के द्वारा उद्भावित हुआ और दूसरों ने उससे केवल उधार ही लिया। मूलतः उनकी धारणा होती है कि जो उस समुदाय के द्वारा उद्भाावित नहीं हुआ वह महत्वपूर्ण नहीं हो सकता, और यदि ऐसा कुछ है तो वह अनिवार्यतः उससे निकृष्ट है जो उनके द्वारा उद्भावित या अन्वेषित है। किन्तु जैसे कोई अपने देश से बाहर निकलने पर कुछ भिन्न देखता है, ऐसा कुछ जो संसार को एक विस्मय के साथ नये सिरे से देखने के लिए प्रेरित करता है, उसी प्रकार दूसरी संस्कृतियों को देखना भी एक अवधारणात्मक (परदेश में) यात्रा है जो संसार को नयी अवधारणात्मक संरचनाओं के माध्यम से देखने को प्रेरित करता है।

इस प्रकार तुलनात्मक दर्शन का लक्ष्य अनुख्याताओं की खोज नहीं होकर प्रतिरूपताओं की खोज होना चाहिए। किन्तु प्रतिरूपताएँ भी दार्शनिक रूप से केवल तभी रोचक हो सकती हैं यदि वे मतवादों के रूप में नहीं देखी जाएँ, बल्कि प्रस्तुत हुई समस्याओं और उनके सुलझाव के प्रयत्नों के रूप में देखी जाएँ। अंततः दार्शनिक की

रूचि तो किसी स्थिति के सम्बन्ध में दी गई युक्तियों में ही होती है, और इस दृष्टि से भारतीय दार्शनिक परम्परा विशेष रूप से समृद्ध है, क्योंकि इसका मूल ढाँचा ही युक्ति पूर्ण है, क्योंकि इसमें आरम्भ ही प्रतिपक्ष की युक्तियों के साथ किया जाता है और अपना मत इस प्रतिपक्ष के प्रत्याख्यान के साथ किया जाता है।

ऐसी विशिष्ट दार्शनिक समस्याओं की खोज जो समस्याओं के रूप में ही देखी गई हैं अथवा किसी परिचित समस्या के समाधानों के वैशिष्ट्य की खोज न केवल एक विदेशी परम्परा को एक नये रूप में देखना ही है बल्कि यह किसी विचार का एक दूसरा आयाम प्रकट कर हमारी दृष्टि को समृद्धतर भी करता है, एक ऐसा दूसरा आयाम जो केवल एक संभावना के रूप में ही नहीं है बल्कि जो विचार में क्रियान्वित हो चुका है। इस प्रकार, तुलनात्मक दर्शन प्रत्येक दार्शनिक परम्परा के लिए उसके अपने अतीत द्वारा आरोपित सीमाओं से पारस्परिक उन्मोचक का कार्य भी कर सकता है, बजाय इसके कि सबल परम्परा द्वारा दूसरी परम्पराओं पर मूल्याँकन के अपने मानदण्डों के आरोप का साधन होने और उनकी उपलब्धियों का इन मानदण्डों के द्वारा निर्धारक होने के, जो कि आज हो रहा है।

संदर्भ-ग्रंथ एवं टिप्पणियाँ

१. *एम. चक्रवर्ती : हिस्ट्री ऑफ नव्य न्याय इन बंगाल एण्ड मिथिला, देखिये देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय (सं.), स्टडीज इन द हिस्ट्री ऑफ इन्डियन फिलॉसोफी, जिल्द II, के पी. बागची एण्ड कम्पनी, कलकत्ता, १९७८, पृ. १४६-८२ ।*

२. *नाकामूरा के. हेजिये : वेज़ ऑफ थिंकिंग ऑफ ईस्टर्न पीपल्स, ईस्ट-वेस्ट सेंटर प्रेस, होनोलुलू, १९६४ ।*

दर्शनशास्त्र में तुलना बनाम अ–तुलना : तुलनात्मक दर्शन के लिए पहल

अरविन्द कुमार राय

दर्शनशास्त्र में अ–तुलना के महत्व की व्यापकता 'तुलना' पद के अर्थ के द्वारा निर्धारित होती है। इस पद के अर्थ पर विचार किए बिना कई विद्वानों ने पूर्वाग्रहवश तुलनात्मक दर्शन या पद्धति की अर्थहीनता में अपना विश्वास व्यक्त किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह आम प्रचलित विश्वास निम्नलिखित तीन आधारवाक्यों से अपनी ऊर्जा प्राप्त करता है :

(१) दार्शनिक कृतियाँ ऐतिहासिक घटनाओं का उदाहरण होती हैं। उनकी मनोवृत्तात्मक, भाषायी और देशज्-कालज् संरचनाओं पर अवधान के द्वारा उन्हें समझा जाता है। मनोवृत्ति किसी विशिष्ट दार्शनिक कृति का अन्तः रचती है जबकि इसका वाह्य अन्य दो संरचनाओं के रूप में दिया होता है। प्राकृतिक घटनाओं मे केवल वाह्य होता है, ऐतिहासिक घटनाओं में अन्तः और वाह्य दोनों होता है। हम ऐतिहासिक घटनाओं के समूह में किसी दार्शनिक कृति को उसके अन्तः और वाह्य (संरचनाओं) पर अवधान के द्वारा ही समझ सकते हैं। इसके लिए तुलनात्मक नहीं बल्कि अ–तुलनात्मक पद्धति की आवश्यकता पड़ती है।

(२) पुनश्च, 'तुलना' को सादृश्यता के अर्थ में लिया जा सकता है। लेकिन इस अर्थ में भी विभिन्न परम्पराओं या विचारधाराओं से सम्बद्ध प्रणालियों के बीच तुलना न्यायसंगत नहीं है। एक सीमा तक, तुलना उन दर्शनों के सम्बन्ध में तर्कसंगत होती है जो समान परम्परा या विचारधारा से सम्बन्धित होते हैं। तुलना अन्तः-शब्दात्मक संवृत्ति होती है।

(३) यदि कोई 'तुलना' को मूल्याँकन के अर्थ में लेता है तब भी उसे मूल्याँकन की आन्तरिक समीक्षा, न कि वाह्य समीक्षा, पर आधारित करना चाहिए। मूल्याँकन का उद्देश्य किसी प्रणाली की संगतता की जाँच करना होता है। इसलिए हमें किसी प्रणाली का मूल्याँकन उसकी सीमाओं के अन्दर ही करना चाहिए। इस अर्थ में भी अ–तुलनात्मक तरीके से ही प्रगमन करना चाहिए। तुलनात्मक अध्ययन, दर्शनों की असंगत व्याख्या के दूसरे नाम के सिवा और कुछ नहीं।

अग्रसरित पन्नों में मैंने अधोलिखित आधारों के द्वारा उपर्युक्त आधारवाक्यों के विरूद्ध तर्क देने का प्रयास किया है :

अनु. काली चरण पाण्डेय

(१) तुलनात्मक अध्ययन, अ-तुलनात्मक पद्धति से भिन्न प्रश्नों को उत्पन्न करता है। कृति का विशिष्ट आकार केवल विशिष्ट प्रश्न के प्रकाश में ही दृष्टिगत होता है। इसलिए किसी दार्शनिक कृति के निश्चित पहलू तब तक छिपे रह सकते हैं जब तक कि हम तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग न करें।

(२) समान पृष्ठभूमि वाले दर्शनों के बीच की समानता, भिन्न पृष्ठभूमि वाले दर्शनों के बीच पायी जाने वाली समानता की अपेक्षा, कम मूल्यवान होती है क्योंकि उत्तर-स्थिति की समानता सतही नहीं होती, यह मनुष्य की सामूहिक जड़ता या परा-चैतन्यता में गहरी पैठ लिए प्रतीत होती है।

(३) तुलना हमारी सम्प्रत्ययात्मक चेतना की सह-विस्तारित (*को-टर्मिनस*) होती है। हमारे पास जो एक मात्र विकल्प बचा है वह है आवृत्त (*क्लोज्ड*) और अनावृत्त (*ओपेन*) तुलनाओं के बीच चयन करने का। तुलनात्मक दर्शन अपनी वैधता अनावृत्त तुलना से निगमित करता है।

(एक)

यदि *गीता* के बारे में हमारा ज्ञान किसी एक श्लोक तक ही सीमित है तब क्या हमारा उस श्लोक को उद्धृत करना न्यायसंगत है? यदि उत्तर स्वीकारात्मक है तब तुलनात्मक दर्शन की अर्थवत्ता को स्वीकार करना पड़ेगा । क्या हमें सदैव *गीता* को उन्हीं परिस्थितियों मे उद्धृत करना चाहिए जैसा कि वेदव्यास ने कल्पना की थी ? यदि ऐसा है, तब *गीता* को केवल इतिहास विभाग में ही प्रदिष्ट (*प्रेस्क्राइब्ड*) होना चाहिए ? *गीता* के मूल्य को ऐसी परिस्थितियों में स्पष्ट करके एवं अन्वेषित करके, जिसकी इसके रचयिता ने कल्पना भी नहीं की थी, इसकी अर्थवत्ता को पुर्नस्थापित किया जा सकता है। हमारा *गीता* से किसी श्लोक का उद्धरण इसलिए न्यायसंगत है क्योंकि सृष्टि किसी ऐसी सत्ता के लिए परकीय (*एलीनिएशन*) है जो सर्वदयालु नहीं है। परकीयता, सर्जक और सृजित वस्तुओं के बीच द्वन्दात्मक सम्बन्ध होती है। सृजित वस्तु सर्जक के द्वारा निर्धारित होती है क्योंकि यह, वह (सत्ता) है जिसने वस्तु की सृष्टि की। लेकिन यह उस (सत्ता) से इस अर्थ में स्वतन्त्र भी है कि यह वाह्य जगत या सामान्यत:-प्राप्य चेतना का अंश बन गयी होती है। इसकी अवगम्यता (*एप्रीसिएशन*) मूल्याँकन और अर्थपूर्ण प्रयोग सामान्यत:-प्राप्य चेतना की वृत्ति होती है। सृजित वस्तु अपने अस्तित्व के लिए सर्जक पर निर्भर करती है। लेकिन जहाँ तक इसकी वृत्ति का सम्बन्ध है, यह अपने सर्जक के नियन्त्रण के बाहर है।[१] सर्वशक्तिमान सत्ता के लिए परकीयता अपचयित होकर शून्य/अनस्तित्व हो जाती है। लेकिन हमारे लिए यह तथ्य से भी अधिक (वास्तविक) होती है। यह हमारे सृजन के जगत की आकारिक विशेषता

है। परकीयता-विहीनता की स्थिति में महत्वपूर्ण सृजन असंभव है। महत्वपूर्ण सृजन के लिए महत्वपूर्ण प्रतीकों का प्रयोग करना होता है। और प्रतीक, जैसा कि कैशेर स्पष्ट करते हैं, "सम्प्रत्यय का मात्र आकस्मिक आवरण नहीं है, बल्कि इसका अनिवार्य और सारभूत अंग है। यह केवल दिए हुए सम्पूर्ण विचार कलेवर का सम्प्रेषण ही नहीं करता बल्कि यह एक ऐसा यन्त्र है जिसके द्वारा कलेवर स्वयं को विकसित करता है और पूर्णतः परिभाषित करता है।"[२] यहाँ जो (विचार) अन्तर्निहित है वह यह कि प्रतीक विवरणात्मक और संकेतात्मक अर्थों का स्थिति-स्थल (*लोकस*) होता है। प्रतीक के भाषा वैज्ञानिक अध्ययनों पर विचार करते हुए इसके विवरणात्मक अर्थ को समझा जा सकता है। लेकिन इसके गहन निहितार्थ, जो कि इसके बिम्बात्मक भाग में निहित होते हैं, अ-भाषा वैज्ञानिक प्रश्नों के सन्दर्भ में ही समझे जा सकते हैं।[३] प्रकाशना सदैव नियन्त्रित प्रकाशना होती है और यह नियन्त्रणशीलता प्रश्नों के आयामों में प्रस्फुटित होती है। प्रतीकात्मक बुद्धि इसका अपवाद नहीं। यह संवृत्ति (*फेनोमेनन्*) इतिहास की अर्थवत्ता अक्षुण्ण रखती है, अन्यथा एक निश्चित कालावधि के पश्चात् इतिहास आवृत्तीय घटनाओं का पुलिन्दा होगा। जैसा कि प्रश्न भिन्न-भिन्न होते हैं, किसी कृति की विभिन्न व्याख्याओं के बीच सम्बन्ध विभिन्न अर्थों में प्रस्तुत होते हैं और ऐसे प्रतीकात्मक अर्थ को उद्घाटित करते हैं जो इसके रचयिता को अज्ञात होते हैं। काण्ट सटीक टिप्पणी करते हैं, "किसी लेखक के द्वारा जिन विचारों को व्यक्त किया गया हो उनकी तुलना करना किसी भी प्रकार से असामान्य नहीं है (इसके द्वारा हम ऐसी स्थिति को प्राप्त करते हैं जिसमें हम) पाते हैं कि हम उसे उससे अधिक बेहतर ढंग से समझते हैं जितना कि वह (लेखक) स्वयं को समझता है।"[४] स्पष्ट रूप से, यह इस तथ्य के कारण होता है कि मनुष्यों के गहन सम्प्रत्यय 'व्याख्यात्मक स्थल' (*हर्मीन्युटिक फील्ड*) में पाये जाते हैं। यह स्थल, जैसा कि पॉल रिकॉर स्पष्ट करते हैं, द्वयअर्थक का स्थल है।[५] किसी प्रतीक को समझनें के लिए इस पर (विशिष्ट) प्रश्न के प्रकाश में विचार करना होता है। वस्तुतः, प्रश्न करना किसी (विशिष्ट) पद्धति को स्वीकार करना होता है। तुलनात्मक प्रश्नों के द्वारा तुलनात्मक पद्धति या तुलनात्मक उद्देश्य नियन्त्रित होते हैं। तुलनात्मक प्रश्न अ-तुलनात्मक अध्ययन से भिन्न चेतना की वृत्ति को आकर्षित करके दर्शनों की उन संरचनाओं को उद्घाटित करते हैं जो कि अ-तुलनात्मक क्षितिज पर अदृष्ट रहते हैं।

(दो)

तुलनात्मक प्रश्न क्या है ? सामान्य बुद्धि इस प्रश्न को दर्शनों के बीच सादृश्यता के पदों में समझती है। इस प्रश्न का यह उत्तर, उन दर्शनों के सम्बन्ध

में जो कि समान परम्परा से सम्बन्धित होते हैं, स्पष्ट सादृश्यता के कारण न्यायसंगत होता है। असमान परम्पराओं से सम्बन्धित दर्शनों की तुलना इसलिए न्यायसंगत नहीं होती क्योंकि उनकी सादृश्यता इतनी स्पष्ट नहीं होती। लेकिन उपर्युक्त उसका विपरीत सिद्ध करता है जो कि यह सिद्ध करना चाहता है। यदि तुलनीय वस्तुओं के बीच सादृश्यता अत्यन्त स्पष्ट हो तो तुलना का प्रश्न ही नहीं उठता। नवीन ज्ञान न केवल आश्चर्य से उत्पन्न होता है बल्कि आश्चर्य से भरा भी होता है। पुर्नरूक्ति तर्क में भी आधारवाक्य और निष्कर्ष के बीच का संबन्ध अत्यन्त स्पष्ट नहीं होता, अन्यथा गणित और तर्कशास्त्र के प्रमेयों को सिद्ध करने का प्रयोजन निष्प्रयोजन होता। दूसरी तरफ, यदि शुरूआत में ही असमानता पारदर्शी हो तो हमारी स्थिति अपरिवर्तित रहती है। इस उभयतोपाश से बाहर निकलने के लिए समानता और असमानता की समान प्रारम्भिक संभावनाओं को स्वीकार कर लेना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि तुलनात्मक प्रश्न शंका की ज्ञानमीमांसीय स्थिति में उत्पन्न होते हैं। यदि ऐसी शंका उन दर्शनों के सम्बन्ध में भी उत्पन्न होती है जो कि परम्परा के द्वारा असम्बद्ध होते हैं तब तुलनात्मक अन्वेषण न्यायसंगत होता है।

कोई भी व्यक्ति तुलनात्मक दर्शन के ज्ञात लक्ष्य को स्वीकार न करके इसके मूल्य को अस्वीकार कर सकताहै। तुलनात्मक अध्ययन व्यर्थ है क्योंकि यह असम्बद्ध कृतियों के बीच सम्बन्ध दर्शाने का प्रयास करता है। परन्तु यदि कोई व्यक्ति सौन्दर्य, क्रमबद्धता और पूर्णता को मूल्य प्रदान करता है तब वह तुलनात्मक दर्शन को मूल्य प्रदान करने के लिए बाध्य है। डागोबर्ट *'ऑन द प्रॉब्लम ऑफ सिमेट्री इन आर्ट'* आलेख में कहते हैं कि सादृश्यता के अर्थ में तुलना सममिति (*सिमेट्री*) की अभिव्यक्ति है, "जो कि ठहराव और बाध्यता को तथा असममिति गति, और नियम एवं क्रमबद्धता के बिखराव और अन्य यादृच्छिकता (*आरबीट्रेरीनेस*) तथा आकस्मिकता को अभिव्यक्त करती है..........।"[६] भारतीय दार्शनिक प्रणालियों का मूलाधार सममिति के प्रति प्रेम रहा है। बौद्धो की 'शून्यता', अद्वैतों का 'ब्रह्म', शैवों का 'शिव', उन इकाइयों, जिनमें सममिति के लिए मानवीय प्रेम ने अभिव्यक्ति पाई, के सिवा और कुछ नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि हम सममिति से अपने मूल को उखाड़ नहीं सकते। आत्मा, तर्क, मोक्ष, नियतिवाद इत्यादि स्पष्टत: सममिति की अभिव्यक्ति की पद्धतियाँ हैं। सममिति के प्रति प्रेम ही तुलनात्मक दर्शन की प्रेरक शक्ति है। समान पृष्ठभूमि के दर्शनों के बीच सादृश्यता का अन्वेषण असमान पृष्ठभूमि के दर्शनों के बीच की सादृश्यता की अपेक्षा कम मूल्यवान होता है। क्योंकि उत्तर-स्थिति में सादृश्यता सतही नहीं होती। यह कहना कि 'चेहरा चेहरे की तरह है' सादृश्यता का सतही उदाहरण है । असतही

स्थितियों में सादृश्यता की वस्तुओं के बीच अन्तर अनिवार्य प्रतीत होता है। यह कहना कि 'चेहरा चन्द्रमा के समान है' सादृश्यता का गम्भीर (या अ-सतही) उदाहरण है। इसी कारण मुक्तावलीकार सादृश्यता की परिभाषा में सादृश्यता की वस्तुओं में असमानता की उपाधियों की व्याख्या करते हैं (तद् भिन्नात्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्तम्)। तुलना की वस्तुओं के बीच असमानता ही कवियों, वैज्ञानिकों, दार्शनिकों इत्यादि के काल्पनिक क्षेत्र के सृजन के लिए उत्तरदायी है। निगमन और आगमन दूसरों के लिए सीखने और प्रदर्शन की पद्धतियाँ हैं, वे दृष्टि की पद्धतियाँ नहीं हैं। प्रश्नों के द्वारा नियन्त्रित कल्पना ही स्वंय के लिए बुद्धि के नये द्वार खोलती है। "कल्पना", अलबर्ट आइन्स्टाइन कहते हैं, "ज्ञान की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होती है। सही अर्थों में यह वैज्ञानिक शोध का वास्तविक घटक होती है।"[७] आइन्स्टाइन के निष्कर्षों का विस्तार करते हुए यह कहा जा सकता है कि यह सभी प्रकार के शोधों में वास्तविक घटक होती है। तब, परम्पराओं के बीच अन्तर वास्तविक समस्याओं को उत्पन्न किए बिना केवल काल्पनिक समस्याओं को ही उत्पन्न करता है । परम्पराओं के बीच की भिन्नता या दर्शनों के बीच देश-काल का अन्तराल, कल्पना और अमूर्त सम्प्रत्ययों की सहायता से व्याख्यायित सादृश्यता द्वारा, भर दिया जाता है। उदाहरण के लिए, यह कहना कि 'शून्यता', 'ब्रह्म' और 'शिव' सादृश्य हैं, सममिति के अमूर्त सम्प्रत्यय का ही प्रयोग करना है। यदि किसी व्यक्ति को इस सम्प्रत्यय की समझ नहीं है तब वह ऊपर के सम्प्रत्ययों के बीच अन्तर सम्पोषित करने के लिए दोषमुक्त है। संगत सम्प्रत्यय हमारी आँख के चश्में होते हैं जो हमारी दृष्टि को सुधारते हैं। यदि हमारे पास उनका अभाव होता है तब हम वस्तुओं के आयामों को, इसके बावजूद कि वे हमारी आँखों के सामने उपस्थित रहते हैं, देखने योग्य नहीं रहते । तुलनात्मक दर्शन सामान्य सम्प्रत्ययों की सहायता से समष्टि-चेतना या परा-चेतना या जड़-चेतना के गहन आयामों को समझने का प्रयास करता है। अपने अवैयक्तिक और वस्तुगत क्षितिज के कारण यह परम्पराओं और व्यक्तियों की सीमाओं को लाँघने का प्रयास करता है। काण्टीय सादृश्यता *(होमोजेनिटी)* का नियामक सम्प्रत्यय केवल विज्ञान के लिए ही नहीं, दर्शनशास्त्र के लिए भी महत्वपूर्ण है। वस्तुतः हम 'पृथ्वी गोलाकार है' सत्य के दार्शनिक निहितार्थ को समझने का प्रयास कर रहे हैं। तुलनात्मक दर्शन 'सत्ता गोलाकार है'[८] या 'सत्ता मूल्य है' (हाइडैगर के अर्थों में) की अनुभूति का लक्ष्य रखता है। यह अपना पूर्णत्व (*फुल्फिलमेंट*) सत्य के प्रकटन और प्रच्छन्नता (*कन्सीलमेंट*) के युगमदीय अनुभव में प्राप्त करता है।[९] विशिष्ट प्रणाली में अभिव्यक्ति के कारण यह प्रकटित है; विशिष्ट प्रणाली के सम्प्रत्ययात्मक असंसक्तियों (*जार्गन्स*) के कारण

यह प्रच्छन्न है। इस अर्थ में यह दार्शनिकता का आधारभूत तरीका है, जो कि 'सत्य असत्य है', के सारतत्व को प्रकट करता है।

अभी तक हम तुलना को सादृश्यता के पदों में परिभाषित करने के परिणामों का अन्वेषण कर रहे हैं। लेकिन यदि हम दो से अधिक प्रणालिओं की तुलना करने जा रहे हैं तब तुलना को समतुल्य सम्बन्ध के पदों में समझा जाना चाहिए। उस स्थिति में इसका क्षेत्र परावर्तित (*रिफ्लेक्सिव*), सममिति (*सिमेट्री*) और संक्रामी (*ट्रांजिटिव*) की शर्तों को सन्तुष्ट करने योग्य होता है। यहाँ हम समतुल्य सम्बन्ध पर विचार कर रहे हैं क्योकि इसकी एक विशेषता है जो तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है और अ-तुलनात्मक अध्ययन के समर्थकों के लिए समस्या उत्पन्न करने योग्य है। वर्ग में समतुल्य सम्बन्ध उस वर्ग के प्राकृतिक विभाजन को निर्धारित करता है और वर्ग का अशून्य (*नॉन इम्प्टी*), और असम्बद्ध उप-वर्गों में विभाजन उपर्युक्त तरह के उप-वर्गों के विभाजन के साथ सम्बद्ध है। अ-तुलनात्मक अध्ययन के समर्थक दर्शन के भारतीय दर्शन और पाश्चात्य दर्शन के दो असम्बद्ध उप-वर्गों में विभाजन को स्वीकार करते हैं, लेकिन वे तुलना को अस्वीकार करते हैं। वे ऐसा नहीं कर सकते। दर्शन के विभाजन का अर्थ भारतीय दर्शन और पाश्चात्य दर्शन की सभी प्रणालियों को एक ही मद में श्रेणीबद्ध करना है। यह केवल इस विश्वास पर आधारित हो सकता है कि भारतीय दार्शनिक प्रणालियों की विशेषताएँ समान हैं। यह विश्वास या तो आधारहीन है या इसका कोई सन्तोषप्रद आधार है। प्रथम स्थिति में दर्शन का दो भागों में विभाजन ही न्यायसंगत नहीं है। और इस तार्किक विश्वास के आधार पर हम भारतीय दर्शन और पाश्चात्य दर्शन की तुलना के विरोध में तर्क नहीं कर सकते। दूसरी तरफ, यदि इस विश्वास का कोई आधार है, तब हमें अपने इस निष्कर्ष में संशोधन कर लेना चाहिए कि किसी सीमा तक भारतीय दर्शन के सन्दर्भ में तुलनात्मक अध्ययन न्यायसंगत नहीं है। इसके बदले हमें यह कहना चाहिए कि भारतीय दर्शन के सन्दर्भ में तुलनात्मक अध्ययन पूर्णतः न्यायसंगत है। विभाजन और समतुल्य सम्बन्ध एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।[१०] यदि कोई व्यक्ति न्यायसंगत है, तब वह विभाजन को स्वीकार करते हुए, तुलना को अस्वीकार नहीं कर सकता।

(तीन)

मैने दर्शन के क्षेत्र में तुलना के महत्व की, इसकी सामान्य अवधारणा के आधार पर, व्याख्या करने का प्रयास किया। लेकिन तुलना का प्रयोग मूल्याँकन के अर्थ में भी होता है। विशेषण की स्थिति में तुलना की श्रेणियों की बात करना इसके मूल्याँत्मक प्रयोग का उदाहरण है। इस अर्थ में इस सम्प्रत्यय का प्रयोग गणितीय लेखन

में भी होता है। हम वहाँ पर संख्या के लिए तुलना के नियम (का प्रयोग) पाते हैं : नियम यह है कि दी हुयी किन्ही दो संख्याओं में यह स्थापित करना संभव है कि एक दूसरी से बड़ी है, या दूसरी से कम है, या दूसरी के बराबर है। तुलना का नियम संख्या में जोड़ने और घटाने की क्रिया को संभव बनाता है। यदि हम तुलना को इस अर्थ में लेते हैं, तब जोड़ने और घटाने की संवृत्ति की सर्वव्यापकता के कारण, तुलना सभी महत्वपूर्ण चिन्तन का आधार बन जाती है। "सभी चिन्तन", हाब्स *लेवियाथन* में कहते हैं, "शोध पूर्व सर्वेक्षण (*रिकनिंग*) (अर्थात् जोड़ने और घटाने) के सिवा और कुछ नहीं।"[११] हाब्स आगे कहते हैं, "संक्षेप में, किसी भी वस्तु या सन्दर्भ में जहाँ जोड़ और घटाव का स्थान है वहाँ तर्क का स्थान है और जहाँ पर इनका स्थान नहीं है वहाँ तर्क को कुछ भी लेना-देना नहीं है।"[१२] हाब्स के अनुसार गम्भीर (या अ-सतही) जोड़ और घटाव का पुनरावृत्ति-मुक्त महत्वपूर्ण चिन्तन के साथ सह-विस्तारित (*को-टर्मिनस*) होता है। यदि ऐसा है तब तुलना सभी महत्वपूर्ण चिन्तनों का आधार बन जाती है क्योंकि जोड़ और घटाव तुलना के बिना संभव नहीं हैं। यह सत्य है कि हम तुलना के ऐसे सुस्पष्ट और सुनिश्चित नियमों का प्रतिपादन नहीं कर सकते जैसा कि हम गणित में पाते हैं। लेकिन तुलना से बचना भी मुश्किल है क्योंकि प्रत्येक तुलना चेतना में अवस्थित होती है। चेतना चयनात्मक होती है। चुनाव इच्छा को आवेष्ठित किए होता है और इच्छा तुलना के द्वारा संचालित होती है। जहाँ पर इच्छा की गुंजाइश होती है वहाँ पर तुलना की भी गुंजाइश होती है। तुलना हमारी स्वतन्त्रता की प्रतीक होती है। हम इच्छा का त्याग किए बिना तुलना का त्याग नहीं कर सकते। तुलना सम्प्रत्ययात्मक चेतना की सकर्मकत्वता (*इन्टेन्सनलिटी*) की प्रतीक होती है। सम्प्रत्ययात्मक चेतना की वास्तविक सकर्मकत्वता इसकी (वास्तविक या कल्पित वस्तु के प्रति) उन्मुखता (*डाइरेक्टेडनेस*) में निहित नहीं होती, जैसा कि ब्रेन्टानों और हुर्सल ने सोचा था, बल्कि जैसा कि हिन्टिक्का स्पष्ट करते हैं, "यह अनेक संभावित वस्तु-स्थिति या घटनाओं की दिशा के युगपदीय विचार में (निहित) होती है।"[१३] वे कहते हैं कि सकर्मकत्वता की समस्या का सर्वमान्य हल त्रुटिपूर्ण है। सकर्मकत्वता जगत में उपलब्ध सम्बन्धों का विषय नहीं है। इसका सम्बन्ध अनेक संभावित जगत के बीच तुलना में निहित होता है। यह अन्तर्जगतीय (*इन्टरवर्ल्डली*) कार्य है, अन्तः-जगतीय (*इन्ट्रावर्ल्डली*) कार्य नहीं।"[१४]

यदि तुलना अनिवार्यतः सम्प्रत्ययात्मक चेतना से सम्बद्ध होती है तब तुलना से बचे रहना संभव नहीं है। हमारे पास केवल आवृत्त (*क्लोज्ड*) और अनावृत्त (*ओपेन*) के बीच चुनाव का विकल्प ही बचा है। अ-तुलनात्मक दर्शन भी तुलना

करने में व्यस्त होता है लेकिन ऐसा वह अपनी प्रणाली की सीमाओं के अन्दर ही करता है। तुलना के दृष्टिकोण से दर्शन को दो भागों में बाँटा जा सकता है : (१) आवृत्त दर्शन, (२) अनावृत्त दर्शन। तुलनात्मक दर्शन अनावृत्त दर्शन का उप-भाग है। आवृत्त दर्शन के लिए तुलना अन्त:-प्रणाली (*इन्ट्रासिस्टम*) संवृत्ति है। अनावृत्त दर्शन की स्थिति में यह अन्तर्प्रणाली (*इन्टरसिस्टम*) संवृत्ति है। आवृत्त दर्शन की स्थिति में तुलना सदैव उस दर्शन की सीमाओं के अन्दर ही कार्यान्वित होती है। अनावृत्त दर्शन की स्थिति में इसकी सीमाएँ निश्चित नहीं हैं। तुलनात्मक दर्शन और दर्शन के बीच का सम्बन्ध तुलनात्मक धर्म और धर्म के बीच के सम्बन्ध की तरह नहीं है। तुलनात्मक दर्शन, एक प्रकार का दर्शन है परन्तु तुलनात्मक धर्म, धर्म का प्रकार नहीं है। तुलनात्मक धर्म और धर्म के बीच का सम्बन्ध वाह्य होता है जबकि तुलनात्मक दर्शन और दर्शन की स्थिति में सम्बन्ध अन्त: होता है। सम्बन्ध की आभ्यन्तरता के कारण तुलनात्मक दर्शन, दर्शन से वास्तविक ढंग से सम्बद्ध होता है जबकि तुलनात्मक धर्म, धर्म से सम्भाव्य ढंग से सम्बद्ध होता है।

क्योंकि तुलनात्मक दर्शन, दर्शन से वास्तविक ढंग से सम्बद्ध होता है, आवृत्त दर्शन के समर्थकों के द्वारा इसे त्रुटिवश भ्रामक व्याख्या का दर्शन मानलिया जाता है। पूर्णत: आवृत्त दर्शन, दर्शन नहीं है : इसके बदले यह विचारों का इतिहास है। ऐसा इसलिए है क्योंकि पूर्णत: आवृत्त प्रणाली के क्षेत्र में जोड़ और घटाव का विषय-क्षेत्र अधिक अनावृत्त नहीं होता। इस स्थिति में, परीक्षा जो कि किसी भी अन्वेषण का वास्तविक भाग होती हैं, सतहीपन के स्तर तक अपचयित हो जाती है। इस प्रकार के दर्शन के लिए परीक्षा सदैव अन्त: मीमांसिक होती है (स्वगोश्थिप्रसिद्ध परीक्षा)। अन्त: मीमांसा विधि को स्वीकार करके संगत प्रणाली को प्राप्त करना संभव है। लेकिन अन्त:-मीमांसा प्रणाली की प्रासंगिकता की गारंटी नहीं देता। किसी प्रणाली की प्रासंगिकता का प्रदर्शन केवल अन्तर्प्रणाली मूल्याँकन या प्रणाली को अनुभव की विद्यमान विधि से सम्बद्ध करके किया जा सकता है। दर्शन के क्षेत्र में अन्तरप्रणाली संवाद को अस्वीकार करना धार्मिक अन्धविश्वासवाद को उपलक्षित करना है। और यदि हम अन्य प्रणालियों या अनुभव की विधियों से संवाद में प्रवेश करते हैं तब हम और कुछ नहीं बल्कि तुलनात्मक दर्शन कर रहे होते हैं। आवृत्त दर्शन जो कहना चाहता है वह यह है : यदि क और ख दर्शन हैं तो उनके बीच में संवाद, दर्शन नहीं है क्योंकि यह न तो पूरी तरह क में और न ही ख में निहित होता है। इसीलिए यह नयी संवृत्ति है, यह जनमानस का संवाद है जिसका अपना मूल्य है। अपनी सृष्टि के लिए यह क और ख दोनों पर निर्भर होता है लेकिन इसकी वृत्ति क और ख दोनों

के परे होती है। तुलनात्मक दर्शन आवृत्त दर्शन की परकीय संरचनाओं की अभिव्यक्ति होता है। ये परकीय संरचनाएँ केवल तुलनात्मक वृत्ति के प्रकाश में ही दृष्टिगत होती हैं। आवृत्त दर्शन, आवृत्त दर्शन की संरचनाओं के पदों मे तुलनात्मक वृत्ति को समझने का प्रयास करता है। इसी कारण यह तुलनात्मक दर्शन की संभावना को अस्वीकार करता है। परन्तु यदि हम संरचना की वृत्ति के पदों कों समझने का प्रयास करें तब तुलनात्मक दर्शन की संभावना पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है।

तुलनात्मक दर्शन के दो पक्ष होते हैं : एक निश्चित और दूसरा अनिश्चित। निश्चित पक्ष यह है कि यह अतिक्रामी (*ट्रांसेन्डेन्स*) का दर्शन है, अनिश्चित पक्ष अज्ञात पक्ष है और तुलनात्मक दर्शन द्वारा उत्पन्न असदृश अनुक्रमों के द्वारा निर्धारित होता है। यहाँ अतिक्रामी को देश और काल से परे किसी सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य की अनुभूति के अर्थ में नहीं लेना चाहिए। अतीन्द्रिय, मूल्याँकन के द्वारा निर्धारित अन्तर्निरूपाधिक (*इन्टरकैटेगोरिकल*) पुनर्जन्म के सिवा और कुछ नहीं। यहाँ अतिक्रामी का निर्धारण व्याख्या (*डिसकोर्स*) के प्रारम्भिक जगत के सन्दर्भ के द्वारा होता है। सादृश्यता के क्षेत्र में कोई भी पूर्णतः अतिक्रामी नहीं होता और निश्चित पक्ष सादृश्य पक्ष होता है। अतीन्द्रिय की स्वीकृति का अर्थ यह नहीं लेना चाहिए कि तुलनात्मक दर्शन पूर्वमान्यता विहीन होता है। मान्यता विहीन अभिव्यक्ति मनुष्य की चयनात्मक चेतना की प्रकृति के विरूद्ध होती है। पूर्वमान्यताओं की अदृष्टता, पूर्वमान्यताओं के अभाव की गारण्टी नहीं होती। पूर्वमान्यताओं का अन्वेषण इतिहास का विषय है। पूर्वमान्यता विहीन दर्शन के अन्वेषण की बात करना ऐतिहासिक चेतना की प्रवृत्ति को अनदेखा करना है। यहाँ हुर्सलीय संवृत्तिशास्त्र की मूल आधारवाक्यों से मेरी असहमति स्वंयसिद्ध है। पूर्वमान्यता और तुलना के बीच सम्बन्ध द्वन्दात्मक होता है। पूर्वमान्यता के बिना तुलना संभव नहीं होती और तुलना के बिना यथार्थ पूर्वमान्यता संभव नहीं होती। उनके बीच में सम्बन्ध सोने और जागने के बीच सम्बन्ध की तरह होता है।

(चार)

हमने दो प्रकार से तुलना के अर्थ की व्याख्या की : प्रथम, सादृश्यता के अर्थ में, और द्वितीय, मूल्याँकन के अर्थ में। वास्तव में, सादृश्यता मूल्याँकन का विशिष्ट परिणाम होती है। क्योंकि तुलना को प्रायः प्रथम अर्थ में समझा जाता है, इस विचार को मैंने अलग से व्याख्यायित करने का प्रयास किया है।

भारतीय दर्शन के आजकल के अध्ययन में आवृत्त दर्शन की स्वयंसिद्ध वैधता के कारण मैंने इसकी सीमाओं को दर्शाने का प्रयास किया है। आवृत्त दर्शन की हमारी

मीमांसा का यह अर्थ नहीं लगाया जाना चाहिए कि यह पूरी तरह मूल्य-विहीन है। यह दर्शन के विशिष्ट आयामों के अध्ययन की सबसे सशक्त पद्धति है। तुलनात्मक दर्शन के प्रकाश में दर्शन के सामान्य आयाम अधिक स्पष्ट होते हैं। प्रत्येक दर्शन की पद्धति की अपनी सीमाएँ एवं मूल्य होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पूरकता (*काम्प्लीमेंटरिटी*) दर्शन में प्रयुक्त प्रत्येक पद्धति की विशेषता होती है। यदि कोई व्यक्ति किसी विशिष्ट पद्धति की स्वीकृति के द्वारा निश्चयपूर्वक किसी वस्तु को प्राप्त करना चाहता है तब दूसरी वस्तु उस पद्धति के क्षितिज पर उतनी ही अनिश्चित प्रतीत होगी। इस दृष्टिकोण से प्रत्येक दर्शन की अपनी सीमाएँ होती हैं। यह सीमा चयनात्मक चेतना की प्रकृति में ही आधारित होती है। यह सीमा ही है जो बुद्धि के सामाजिक और ऐतिहासिक आधार तथा संवाद की अन्तर्वैयक्तिक प्रक्रिया को अर्थ प्रदान करती है ।

संदर्भ-ग्रंथ एवं टिप्पणियाँ

१. कुमारिल इस सत्य का निम्नप्रकार से सुन्दर वर्णन करते हैं : आत्मालभते च भावानाम् कारणपेक्षता भवेत, लब्धत्मानम् स्वकार्येषु प्रवृत्तिः स्वयं इव तु। कुमारिल, मीमांसाश्लोकवर्तिका, दुर्गाधर झा और के. सिंह (सं. और हिन्दी अनु.), दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा, १९७९, पे. ९०।

२. इ. कैशेर, द फिलॉसोफी ऑफ सिम्बोलिक फार्मस्, खण्ड १, राल्फ मैनहेम, (अनु.) येल विश्वविद्यालय प्रकाशन, न्युहवेन और लंदन, १९५३, पे. ८६।

३. मै आनन्दवर्धन की दृष्टि का विस्तार कर रहा हूँ। इस सन्दर्भ में ध्वन्यालोक की अधोलिखित टिप्पणी प्रासंगिक है : शब्दार्थ-शासनज्ञानमात्रेण इव न विद्यते। विद्यते तु काव्य-अर्थ तत्त्वज्ञानिः इव केवलम्। आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, कृष्णमूर्ति (सं.) मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९८२, पे. १४।

४. इमैनुएल काण्ट, क्रिटीक ऑफ प्योर रीजन, एन.के. स्मिथ (अनु.), मैकमिलन, लंदन, १९२९, पे.३१०।

५. पॉल रिकॉर, फ्रायड एण्ड फिलॉसोफी, सैवेज डेनिस, (अनु.), येल विश्वविद्यालय प्रकाशन, न्युहवेन और लंदन, १९७०, पे. ८।

६. उद्धृत, हरमान वि., सिमेट्री, प्रिन्स्टन विश्वविद्यालय प्रकाशन, प्रिन्स्टन, १९५२।

७. अलबर्ट आइन्स्टाइन, कॉस्मिक रेलिजन, कोविकी फ्रीडे पब्लिशर्स, न्युयार्क, १९३१, पे. ९७।

८. प्लेटो के सिम्पोजियम में एरिस्टोफेनीज गोलाकार से द्विपक्षीय सममिति में संक्रमण के बारे में एक कहानी कहते हैं। मूलतः मनुष्य गोलाकार था, उसकी पीठ और पार्श्व वृत्त बनाते थे। उनके घमण्ड और सामर्थ्य को तोड़ने के लिए जिउस ने उसे दो भागों में काट दिया और अपोलो के द्वारा उनके चेहरों और जननेन्द्रियों को पूरी तरह घुमा दिया और जेउस ने कहा कि यदि "मुझे उनसे कोई और कष्ट होता है तो मैं उन्हें पुनः दो भागों में बाँट दूँगा और उन्हें एक होने के लिए उझल-कूद करना होगा"।

सिम्पोजियम, संकलित, कलेक्टेड डॉयलॉग्स ऑफ प्लेटो, ई. हैमिल्टन और एच. केयर्न्स (सं.) प्रिन्स्टन युनीवर्सिटी प्रेस, १९६१, पाँचवा मुद्रण, न्युयार्क, पे. ५४३।

९. हाइडैगर, क्रिटीक ऑफ लॉजिक, थामस फे. (अनु.), मार्टिनस निगॉफ, द हेग, १९७७, पे. १२ और ५८।

१०. समतुल्य सम्बन्ध और विभाजन के बीच का सम्बन्ध वर्ग सिद्धान्त (सेट थियरी) का सुन्दर परिणाम है। देखिए, जार्ज एफ. सिमन्स, इन्ट्रोडक्शन टु टोपोलॉजी एण्ड मॉर्डन एनालिसिस, मैक्ग्रा-हिल बुक कम्पनी, सिंगापुर, १९६३, पे. २६-२७।

११. थामस हाब्स,लेवियाथन, सी. बी. मैक्फरसन, पेंगुन बुक्स लिमिटेड, १९६८, बिन्दु १, अध्याय ५, पे.१११।

१२. वही, पे. ११०-११।

१३. जे. हिन्टिक्का, 'द इन्टेन्शन्स ऑफ इन्टेन्शनलिटी'', जे. मैनिनेन और आर. टूमेला, (सं.), ऑन इक्सप्लानेशन एण्ड अन्डरस्टैंडिंग, आर. डी. रैडेल पब्लिशिंग कं., डोरड्रेट, हालैण्ड, १९७६, पे. ८२।

१४. वही, पे. ८१-८२।

तुलनात्मक दर्शन : संकल्पना, उद्दिष्ट, समस्याएँ और संभावना

मोरेश्वर प्रसाद मराठे

हम अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की कार्यकारी समिति तथा आम सभा के हृदय से इसलिए आभारी हैं कि उन्होंने मुझे बड़ी उदारता से स्वामी प्रणवानन्द तुलनात्मक दर्शन व्याख्यान-माला में अपने विचार परिषद् के सामने प्रस्तुत करने के लिये आमंत्रित किया। तथापि इस आमंत्रण का निर्वाह करते समय एक ओर संकोच का अनुभव हो रहा है तो दूसरी ओर हमारे सामने प्रस्तुत समस्या का। संकोच इसलिए कि आप जैसे मनीषियों के सामने विवेच्य विषय के बारे में हमारा अपरिष्कृत मन्तव्य हम प्रस्तुत करने जा रहे हैं, और समस्या यह कि हिन्दी में हमारे विचार प्रवाहमान तथा पैनी शैली में प्रस्तुत कर पाना हमारे लिये बहुत ही कष्ट साध्य है। अतः आपसे साग्रह विनम्र अनुरोध है कि हमारा मन्तव्य, उसमें होने वाली त्रुटियों को छोड़कर, सहृदयता से ग्रहण करें।

उद्दिष्ट

जैसा कि शीर्षक से स्पष्ट है, न हम स्वामी प्रणवानन्द जी के बारे में बोलेंगे, और न ही तुलनात्मक दर्शन के बारे में होने वाले विचारों के बारे में। इसके बजाय स्वामी प्रणवानन्द तुलनात्मक दर्शन व्याख्यान-माला में भाषण देने के सुअवसर का उपयोग हम तुलनात्मक दर्शन के बारे में अपना मन्तव्य आपके सामने विचारार्थ प्रस्तुत करने के लिए करना चाहते हैं। इसमें हम तुलनात्मक दर्शन की यथार्थ संकल्पना, उसका ढाँचा तथा उद्दिष्ट, इनके बारे में होने वाली समस्याएँ तथा इन समस्याओं को ध्यान में रखते हुए तुलनात्मक दर्शन की किस प्रकार की संभावनाएँ उसके अध्येताओं तथा अनुसन्धानकर्ताओं के सामने उपस्थित हो सकती हैं और उनका यथासंभव यथेष्ट निर्वाह कहाँ तक किया जा सकता है, इनके बारे में अपने विचार प्रस्तुत करेंगे।

इस दृष्टि से सोचते हुए हमारे व्याख्यान का प्रधान उद्दिष्ट तुलनात्मक दर्शन की संकल्पना का नये तरीके से समन्वयार्थ बताना नहीं है। इसी प्रकार उपयुक्त पद्धति से तुलनात्मक दर्शन का अध्ययन कैसे करें, यह बताना भी नहीं है। इसके बजाय हम इस बात की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं कि तुलनात्मक दर्शन के अध्ययन, अध्यापन तथा अनुसन्धान के नाम पर अपने देश में एवं अन्यत्र जो कुछ

किया जा रहा है उसमें कौन सी त्रुटियाँ और क्यों अनुस्यूत हैं ? और इसे ध्यान में रखते हुए तुलनात्मक दर्शन का अध्ययन कहाँ तक सार्थक हो सकता है?

अपने ईप्सित बिन्दुओं के स्पष्टीकरणार्थ हम उपलब्ध सामग्री [१] का तथा उसमें प्रस्तुत विचारकों [२] के विचारों का उपयोग अवश्य करेंगे, लेकिन न हम किसी पक्ष का समर्थन करेंगे और न ही किसी पक्षधर का। ऐसा इसलिए क्योंकि हमारी दृष्टि में उनमें से हरेक किसी न किसी दृष्टि से त्रुटिपूर्ण और इसलिए अस्वीकार्य हैं।

तुलनात्मक अध्ययन की पृष्ठभूमि

सभी प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन तथा अनुसन्धान के आरम्भ की नींव, एक दृष्टि से ऑक्सफर्ड विश्वविद्यालय में मानववंश-विज्ञान विभाग की स्थापना में देखी जा सकती है। युरोपीय लोगों के दक्षिणी (अफ्रीकी, दक्षिण अमेरिकी तथा ऑस्ट्रेलियन) तथा पूर्वीय (एशियायी) अन्यान्य देशों के लोगों के संपर्क में आने से विभिन्न मानववंशीय विशिष्टताएँ उनकी दृष्टि में आयीं और उससे तुलनात्मक मानववंश-विज्ञान नामक शिक्षा-शाखा का आरम्भ हुआ। कालान्तर में, उन लोगों के जीवन के सामाजिक तथा धार्मिक पक्ष भी युरोपीय लोगों को दृष्टिगत हुए और उससे तुलनात्मक समाज-विज्ञान, तुलनात्मक धर्म-विज्ञान जैसी शिक्षा-शाखाओं का भी उद्घाटन हुआ। मात्र इसी से तुलनात्मक संस्कृति-विज्ञान, सभ्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन, तुलनात्मक दर्शन जैसी शिक्षा-शाखाओं का आरंभ नहीं हो पाया। पश्चिमी लोगों की दृष्टि में यद्यपि दक्षिणी और पूर्वीय देशों के लोगों के जीवन के सांस्कृतिक, सभ्यतात्मक तथा दार्शनिक पहलू आये तथापि उन्हें समझने का उन्होने अपचयात्मक (*रिडक्टिव*) तरीका अपनाना पसंद किया। इसके दो कारण थे : एक तो यह कि अपनी सांस्कृतिक, सभ्यतात्मक, धार्मिक एवं दार्शनिक दृष्टि और परम्परा से ही वे परिचित थे; अन्य लोगों की इस प्रकार की दृष्टि और परम्परा से नहीं। द्वितीयतः, उन्हें न केवल अपनी परम्परा और दृष्टि पर गर्व था बल्कि दूसरों की परम्परायें और दृष्टियाँ संयुक्तिक रीति से भिन्न हो सकती हैं और अगर भिन्न न भी हों तो वे उनकी अपनी परम्पराओं और दृष्टियों से उच्च तो हो ही नहीं सकतीं हैं बल्कि उनके समकक्ष भी नहीं हो सकतीं, ऐसा उनका पूर्वाग्रह था। साथ-साथ, अफ्रीकी, दक्षिण अमेरिकी एवं एशियायी लोगों के पास दर्शन नाम की कोई विचारणीय [३] कोई चीज हो सकती है और हो भी तो वह उनके धार्मिक विचारों से भिन्न अन्य कुछ नहीं हो सकती, ऐसा भी उनका पूर्वाग्रह था। कालान्तर में, इस प्रकार के निःशेष अपचयन के पक्ष का निःसंदिग्ध निर्वाह करने में कुछ कठिनाइयाँ आने पर इस विचार को स्वीकार किया गया कि इन लोगों के धर्म, संस्कृति और सभ्यता भिन्न हो सकते हैं, और उससे तुलनात्मक धर्म-

विज्ञान, तुलनात्मक संस्कृति-विज्ञान जैसी शिक्षा-शाखाओं का उद्घाटन होने में सहायता मिली। तथापि इससे न तो ऊपर उल्लिखित कारण की वजह से तुलनात्मक दर्शन के अध्ययन का आरंभ हुआ, न ही तुलनात्मक धर्म-विज्ञान, तुलनात्मक संस्कृति-विज्ञान को नि:संदिग्ध मान्यता मिली। क्योंकि अफ्रीकी, एशियायी आदि लोगों के धर्म, संस्कृति, सभ्यता आदि पश्चिमी या कहें युरोपीय लोगों के धर्म, संस्कृति, सभ्यता आदि से भिन्न हैं। इसे तत्त्वत: स्वीकार करते हुए भी सवाल खड़ा होता है कि इस प्रकार की उनमें दिखायी देने वाली भिन्नता आन्तरिक है या धरातलीय, सैद्धान्तिक है या व्यावहारिक, आंशिक है या पूर्ण ? अगर धरातलीय या मात्र व्यावहारिक भिन्नता ही है तो उसे गंभीरतया लेने की आवश्यकता है या नहीं ?, और अगर आंशिक भिन्नता ही है तो एक तो वह गौण होगी और अगर गौण न हो तो समानता के किस सूत्र को स्वीकार करें, यह प्रश्न तो बना ही रहता है। और अगर पूर्ण रूपेण भिन्नता है तो इस प्रकार की भिन्नता के कौन से युक्ति-युक्त नियामक स्वीकार किये जा सकते हैं ? इस प्रकार के प्रश्न उपस्थित हो जाने के बावजूद भी तुलनात्मक दर्शन नामक शिक्षा-शाखा उद्भूत नहीं हुई। इसके दो कारण हैं : एक, लोक-मत भिन्न होते हुए भी उनका दर्शन भिन्न होना ही चाहिए, ऐसी कोई अनिवार्यता नहीं है, जैसे, ब्रिटिश, जर्मन, फ्रेंच लोगों के दर्शन, उनके मात्र ब्रिटिश, जर्मन या फ्रेंच होने मात्र से, भिन्न-भिन्न नहीं हैं। दूसरे, अफ्रीकी या एशियायी लोगों का दर्शन उनके धर्म से भिन्न नहीं और उनके दर्शन उनके धर्मों में अन्तर्भूत होने से या उनसे किंचित् भी भिन्न न होने से उनके दर्शन के स्वतंत्र अध्ययन का ही जहाँ अवसर नहीं है वहाँ उनके तथा युरोपीय दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन के लिये यथेष्ट अवसर कहाँ से और कैसे प्राप्त होगा ?

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण से जिस प्रकार एक ओर तुलनात्मक धर्म-विज्ञान, तुलनात्मक समाज-विज्ञान, तुलनात्मक संस्कृति-विज्ञान आदि प्रकार के अध्ययनों का, सीमित मात्रा में ही क्यों न हो, विकास होने लगा, उसी प्रकार, दूसरी ओर प्रधान सभ्यताओं का भी अध्ययन होने लगा। इसमें नॉर्थ्रोप, विल ड्यूरेण्ट आदि लोगों ने दिलचस्पी दिखायी जिससे सभ्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन भी होने लगा। बीसवीं सदी के प्रथमार्ध के अन्त तक राधाकृष्णन्, दासगुप्त, सिन्हा, हिरियन्ना, हाइनरिश, झिमर आदि लेखकों के द्वारा भारतीय दार्शनिक प्रणालियों के मुख्य सूत्र, आमतौर पर माधवाचार्य प्रणीत *सर्वदर्शनसंग्रह* [४] के ढाँचे में और पश्चिमी दार्शनिक भाषा में जिज्ञासुओं के सामने प्रस्तुत हुए। भारतीय सभ्यता तथा उसके परिप्रेक्ष्य में

उद्भूत अन्यान्य सांस्कृतिक पहलुओं का भी गंभीरता से अध्ययन किया जाने लगा जिसमें रबीन्द्रनाथ टैगोर, अरबिन्द आदि लोगों का योगदान महत्त्वपूर्ण रहा।[५] आरम्भ में टैगोर [६] के द्वारा पुरस्कृत किये जाने से तथा राधाकृष्णन् के इस विचार से कि अद्वैत वेदान्त [७] भारतीय दार्शनिक (धार्मिक) परम्पराओं में सर्वश्रेष्ठ है और उसके परिप्रेक्ष्य में अन्य भारतीय दर्शनों का ही नहीं बल्कि विश्व के दर्शनों [८] - खास करके पश्चिमी दर्शनों - का तुलनात्मक अध्ययन सार्थकतया किया जा सकता है, इस विचार का साग्रह प्रस्तुतीकरण हुआ। बाद में, राधाकृष्णन् के नेतृत्व में अपने देश में पी.टी. राजू के द्वारा तथा अमरीका से आर्ची बाम के द्वारा तुलनात्मक दर्शन के तथाकथित स्वागतार्ह [९] अध्ययन के अन्यान्य पक्ष, उसकी प्रणाली, पद्धति आदि के बारे में काफी विस्तृत विचार-विमर्श सोदाहरण लोगों के सामने, इस शताब्दी की सप्तम दशाब्दी में, प्रस्तुत किया गया। अमरीका में होनोलुलु में पूरब-पश्चिम अध्ययन-केन्द्र की स्थापना हुई। उसके द्वारा इस प्रकार के अध्ययन को बढ़ावा देने हेतु एक नियतकालिक दार्शनिक पत्रिका भी कई वर्षों से चलायी जाती है। उसी तरह शन्तिनिकेतन स्थित विश्वभारती में तुलनात्मक धर्म-दर्शन एवं पंडित रवि शंकर विश्वविद्यालय, रायपुर में तुलनात्मक धर्म-विज्ञान तथा दर्शन विभाग भी कार्यरत हुआ है।[१०] पश्चिम के अन्यान्य विश्वविद्यालयों में प्रादेशिक धर्म-दर्शनों या तुलनात्मक धर्म-दर्शनों के अध्ययन की व्यवस्था तो हुई है तथापि न किसी प्रधान विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में भारतीय दर्शनों के अध्ययन की व्यवस्था है, न ही कहीं तुलनात्मक दर्शन का विभाग, भारतीय दर्शनों के साथ या उसके बिना खुला है। आमतौर पर आज भी पश्चिम में भारतीय दर्शनों का अध्ययन धर्म-दर्शन या तुलनात्मक धर्म-दर्शन के तहत ही करने की सुविधा है। साथ-साथ इस बात की ओर भी सतर्कता से ध्यान देना चाहिए कि पश्चिम के किसी भी जाने-माने तात्त्विक विचारक ने तुलनात्मक दर्शन पर न कोई पुस्तक लिखी है, न ही इस तथाकथित शिक्षा-शाखा का, उसके परिप्रेक्ष्य में आनेवाली समस्याओं या प्रश्नों का, या उसकी संकल्पना का विवेचन किसी प्रसिद्ध विश्वकोश में देखने को मिलता है। और, यद्यपि तुलनात्मक दर्शन के नाम पर अपने देश में तथा छुटक-पुटक तौर पर अन्यत्र काफी अध्ययन-अनुसंधानात्मक कार्य कई वर्षों से किये जा रहे है, तथापि इस प्रकार के अध्ययन-अनुसन्धानों की संख्या तथा व्याप्ति और उसकी आन्तरिक महत्ता एवं स्वीकरणीयता का एक दूसरे से कोई स्वागतार्ह सम्बंध दुर्भाग्यवशात् नहीं दिखायी देता। ऐसा क्यों हुआ इसकी संक्षिप्त चर्चा इस व्याख्यान के अग्रिम अंश में प्रस्तुत करके इस पृष्ठभूमि पर तुलनात्मक दर्शन की सार्थक संभावना को परखना चाहते हैं।

तुलनात्मक दर्शन का ढाँचा

तुलनात्मक दर्शन की यथार्थ संभावना के बारे में सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह होगा कि तुलनात्मक दर्शन नामक शिक्षा-शाखा का ढाँचा क्या होगा ? किसी भी दर्शन का अध्येता किसी भी दो दर्शनों की तुलना करने से या सभी दर्शनों के मूलत: तुलनात्मक होने से स्वयंमेव तुलनात्मक दर्शन का अध्येता बनेगा? तुलना के लिये दो ही दर्शन चुनें या दो से अधिक ? तुलनीय दर्शनों की तुलना किसी प्रश्न को लेकर करनी होगी या उसके बिना ? उक्त दर्शनों में से एक पश्चिमी और एक पूर्वीय हो, या दोनों पश्चिमी, या दोनों पूर्वीय ? प्रधान सभ्यताओं की तुलना करें, या उनके परिप्रेक्ष्य में पनपी संस्कृतियों की ? दार्शनिक परम्पराओं की, या तत्त्वज्ञों की ? या सभी सभ्यताओं और उनके परिप्रेक्ष्य में पनपी अन्यान्य संस्कृतियों की तुलना करें ? दर्शनों की तुलना भाषाओं, मिथकों, संस्कृतियों तथा सभ्यताओं के साथ करें या उनके बिना ? इन प्रकार के प्रश्नों का कोई सार्वभौमिक रूप से स्वीकृत पक्ष हमारे सामने दुर्भाग्यवशात् प्रस्तुत नहीं हुआ है।

उसी प्रकार एक दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न है : तुलना क्यों करें ? तौलनिक दृष्टिकोण विकसित करने के लिये [११] या उदीयमान वैश्विक संस्कृति को अन्यान्य प्रधान सभ्यताओं का योगदान क्या है, यह समझने के लिये [१२] ? अगर दूसरा पक्ष स्वीकार किया जाए तो प्रश्न खड़ा होता है : तुलनात्मक दर्शन और उदीयमान वैश्विक संस्कृति में क्या संबंध होना चाहिये ? अगर तुलना से ही वह उद्भूत होता हो तो प्रश्न उठता है कि यदि तुलना आपातत: की हुई या भ्रामक हो तो भी वह उत्पन्न होगा ? तुलना की दिशा क्या हो और तुलना के पीछे दृष्टिकोण क्या हो? उक्त दिशा या दृष्टिकोण कहाँ से आयेगा ? तुलना से ही ? और तुलना तथा उसके दृष्टिकोण में कौन सा सम्बंध मानें ? सर्वसमावेशक जागतिक संस्कृति उदभूत् हो, ऐसी अपेक्षा करना ठीक है, लेकिन उसे फलद्रूप कैसे करें ? उसके निर्माण की अनिवार्य तथा आवश्यक एवं पर्याप्त शर्तें क्या होंगी ? तुलनात्मक दर्शन और ऐसी संस्कृति के उद्भव में होने वाला सम्बंध आपातिक और आकस्मिक ही हो तो तुलनात्मक दर्शन का अध्ययन ही क्यों करें?

अगर प्रथम पक्ष स्वीकार किया जाए तो उक्त प्रकार का तुलनात्मक दृष्टिकोण कैसे विकसित होगा, मात्र तुलना से ? और तुलनात्मक दर्शन माने दो दर्शनों की तुलना ही हो तो उक्त दोनों दर्शन भिन्न संस्कृतियों में ही क्यों पनपे हुए हों ? ऐसा स्वीकार करने की अनिवार्यता क्या है, जैसा कि आम तौर पर स्वीकार किया जाता है? उनमें एक पूर्वीय और एक पश्चिमी, जैसे, ब्रैड्ले और शंकर, स्पिनोजा और अद्वैत वेदान्त, बौद्ध दर्शन और ए.एन.ह्वाइटहेड आदि, ही क्यों हों ? भिन्न संस्कृतियों पर बल देने

से तुलनात्मक दर्शन की व्याप्ति और अर्थवत्ता संकुचित नहीं हो जाती ? और ऐसी भिन्न संस्कृतियाँ विभिन्न सभ्यताओं के परिप्रेक्ष्य में पली हुई हों या एक ही, क्या यह प्रश्न सर्वथा गौण महत्व का माना जायेगा ?

अगर पूछा जाय कि तुलनात्मक दर्शन का ढाँचा स्पष्ट तथा नि:शंक रूप से अभी तक क्यों नहीं तय हो पाया ? तो कहा जाता है कि उक्त शिक्षा-शाखा अभी तक युवा है इसलिये। लेकिन कई शिक्षा-शाखायें इसी शताब्दी में ही नहीं बल्कि इसी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उद्‌भूत हो जाने के बावजूद विकसित हुईं तथा उनके अध्ययन का ढाँचा भी काफी स्पष्ट हो चुका है। ऐसी स्थिति में तुलनात्मक दर्शन को ही अपवाद-स्वरूप क्यों स्वीकार करें ?

तुलनात्मक दर्शन की संकल्पना और उसके नियामक

ऐसी अपेक्षा करना स्वाभाविक है कि तुलनात्मक दर्शन की यथा-योग्य संकल्पना का इस प्रकार विवेचन किया जाना चाहिये कि उससे तुलनात्मक दर्शन के नियामक प्रस्तुत हों और उनके आधार पर उसमें क्या रखें और किसका वर्जन करें, इसका ठीक तरह से पता लगे। इस दृष्टि से सोचते हुए प्रश्न प्रस्तुत होता है : तुलनात्मक दर्शन की अभीष्ट संकल्पना क्या है और उसके नियामक कौन से हैं ? क्या तुलनात्मक दर्शन माने दर्शनों का तुलनात्मक दर्शन है या तुलनात्मक दर्शन परा-शास्त्रीय अध्ययन-शाखा है? दूसरे पक्ष को स्वीकार किया तो तुलनात्मक दर्शन एक प्रकार का दर्शनों का दर्शन बनता है। लेकिन, तो भी एक सवाल यह प्रस्तुत होता है कि इस रूप में वह एक स्वतंत्र अध्ययन-शाखा है या परजीवी ? अगर वह स्वतंत्र है तो उसके स्वतंत्र प्रश्न, अध्ययन-पद्धति, दृष्टिकोण, निष्कर्ष तथा उनके अध्ययन के कौन से परिणाम अभीष्ट हैं ? क्या दर्शन और तुलनात्मक दर्शन में भाषा और परा-भाषा के समानान्तर कोई सम्बंध है ? और अगर है, तो अध्ययन-शाखा (दर्शन) और परा-अध्ययन-शाखा (तुलनात्मक दर्शन) में होने वाले सम्बंध के सहज-स्फूर्त और पद्धति-शास्त्रीयता के नियामक क्या हों ? जैसे दो भाषाओं की तुलना मात्र से कोई परा-भाषा उद्‌भूत नहीं होती, वैसे ही दो दर्शनों की तुलना मात्र से तुलनात्मक दर्शन नामक परा-अध्ययन-शाखा अपने-आप उद्‌भूत कैसे होगी ?

प्रथम पक्ष के समर्थन में युक्ति के लिये यह स्वीकार भी किया जाए कि दो दर्शनों की तुलना मात्र से तुलनात्मक दर्शन की उद्‌भावना होती है, तो भी सवाल शेष रहता ही है कि किस प्रकार की तुलना ? अगर किसी भी प्रकार की तुलना अभीष्ट हो तो तुलनात्मक दर्शन की उद्‌भावना की यह अनुभव-विपरीत और हास्यास्पद संकल्पना होगी।

तुलनात्मक दर्शन क्या है ?, इस प्रश्न का स्वीकारार्ह उत्तर देना कठिन है। इसलिए अगर पूछा जाये कि आखिर यह तो कम-से-कम बतायें कि तुलनात्मक दर्शन क्या नहीं है ?, ताकि उसकी यथार्थ संकल्पना से किसका वर्जन किया जाय, इसका पता लगे, तो बताया जाता है कि तुलनात्मक दर्शन माने दो दर्शनों या दो दार्शनिक परम्पराओं के आभासी रूपों की तुलना नहीं, दो या दो से अधिक दर्शनों या सांस्कृतिक परम्पराओं की तुलना मात्र भी नहीं, वह अ-तुलनात्मक दर्शन नहीं, दर्शन को छोड़कर की हुई संस्कृतियों की तुलना नहीं, यद्यपि तुलनात्मक दर्शन के अध्ययन के नाम पर किया जाने वाला प्रयास इस प्रकार के दोषों से बहुशः सर्वथा मुक्त नहीं रहा है। तथापि, तुलनात्मक दर्शन के अध्ययन के लिये कोई दर्शन या दार्शनिक परम्परा कैनवस् या आधार के रूप में तो लगेगा ही। वह कौन सा हो - अपना या यादृच्छिकया चुना हुआ ? ऐसा स्वीकार करना पूर्वाग्रह-दूषित होगा या आकस्मिक और इसलिये आशंका-ग्रस्त भी। अगर कोई भी दर्शन आधार के रूप में लेने की आवश्यकता न हो तो तुलनात्मक दर्शन की स्वीकारार्हता, संप्रेषणता, वस्तुनिष्ठता आदि का आधार क्या होगा ? अगर जागतिक या वैश्विक तात्त्विक लक्षणों को तुलना का आधार मानें तो वह काफी सीमित होगा। अगर किसी स्वलक्षणात्मक विशेष को तुलना के आधार के रूप में स्वीकार करें तो कई बार इस प्रकार के विशेष परिस्थिति एवं काल-सापेक्ष होते हैं, और तुलनात्मक दर्शन का अध्ययन व्यापक, स्थायी, महत्वपूर्ण विशेषों को लेकर हो, ऐसी जो अपेक्षा रखी जाती है उनमें असंगतता आयेगी। अगर किसी चुने हुए विशेष को तुलना का आधार बनायें तो इस प्रकार का आधार यादृच्छिक और स्वच्छन्द होगा। क्या किसी आदर्श जीवन[13] को आधार के रूप में स्वीकार करें ? लेकिन कौन सा दर्शन आदर्श दर्शन माना जाये और किस आधार पर ? इसके साथ-साथ स्पष्ट है कि इस प्रकार के आदर्श दर्शन के अध्ययन के बिना तुलनात्मक दर्शन के अध्ययन की संभाव्यता ही उद्भूत नहीं होगी। अगर सभी दर्शनों के सभी विशेषों को आधार के रूप में स्वीकार करें तो आधार सर्वव्यापक एवं सर्वसमावेशक तो होगा, लेकिन ऐसी अवस्था में तुलना के लिये क्या बचेगा ? अगर विकसित दर्शन को तुलना का आधार मानें तो विकसितता कैसी तय करें ? यदि इतिहास को इसका आधार मानें तो वह ऐतिहासिक दृष्टि से नियमित होगी और कालान्तर में जो बाद में उद्भूत होता है वह अधिक विकसित होने के बजाय अपभ्रष्ट और अपजननशील भी होता है, इस तथ्य को नजरअंदाज़ करना पड़ेगा जो कि अनुभव-विरूद्ध और इसलिये अस्वीकार्य भी होगा। अगर तुलना के लिये कोई पूर्वस्वीकृत विशेषों को आधार मानें, तो पूर्वनियतता आयेगी और उससे तुलना की संभाव्यताएँ सीमित होंगी। कोई पश्चिमी दर्शन तुलना का

आधार मानें, जैसा कि स्पष्टतया एवं व्यक्ततया या अस्पष्टतया तथा अव्यक्ततया आम तौर पर किया जाता है (पश्चिमी विचारक ऐसा करते हैं क्योंकि उसी से वे परिचित हैं और उनका दर्शन ही सच्चा है, ऐसी उनकी धारणा और पूर्वाग्रह है ।) तो वह वैचारिक औपनिवेशिकता होगी। तो ऐसी अवस्था में अपना ही कोई दर्शन या संस्कृति आधारभूत क्यों न मानें, जैसे अद्वैत वेदांत, जिस प्रकार वाचस्पति मिश्र (अद्वैत वेदांत अपने देश में उद्भूत दर्शनों में सर्वोत्कृष्ट है और अन्य दर्शन उसके अध्ययन के साधन मात्र हैं। इस पक्ष का उद्घाटन वाचस्पति मिश्र ने अपनी *भामती* में किया। उसका समर्थन उदयनाचार्य, माधवाचार्य जैसे विचारकों ने किया। और, अपने देश में अन्यान्य लोगों के द्वारा लिखे गये भारतीय दर्शनों के तथाकथित इतिहास माधवाचार्य के *सर्वदर्शनसंग्रह* के ढाँचे में ही दुर्भाग्यवशात् लिखे गये हैं, जिसके अनुसार अद्वैत वेदान्त भारतीय दार्शनिक परम्पराओं में सर्वश्रेष्ठ और सबसे अधिक अभीष्ट दर्शन है। तो क्या यह स्वीकार किया जाये कि अद्वैत वेदान्त के सिवा अन्य दार्शनिक परम्पराओं का उद्घाटन अद्वैत वेदान्त के पुष्ट्यार्थ ही था ?) से लेकर आज तक अद्वैत वेदान्त के पक्षधर या समर्थक, अथवा हिन्दू संस्कृति को लेकर टैगोर या राधाकृष्णन् से लेकर आज तक के तथाकथित संस्कृति-संरक्षक करते हैं ? एक तो इस प्रकार का प्रयास, जैसा कि ऊपर बताया गया उस तरह पूर्वाग्रह-दूषित तो होगा ही, लेकिन साथ-साथ आमतौर पर दुर्भाग्यवशात् यह भी देखने को मिलता है कि हमारी अपनी किसी विशिष्ट दार्शनिक या दार्शनिक प्रणाली के बारे में होने वाली समझदारी ही शुद्ध, और उसके मौलिक ग्रंथों के परिश्रमपूर्वक, ईमानदार और प्रामाणिक अध्ययन पर आधृत नहीं होती। तो ऐसी स्थिति में, इस प्रकार की हमारी समझदारी को अगर तुलना का आधार बनाया जाए तो वह आधार एवं उस पर आधारित तुलनात्मक दर्शन दोनों भ्रामक होंगे, यह अलग से बताने की आवश्यकता नहीं। उदाहरणार्थ, आदि शंकराचार्य ने 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' यह अपने किसी भी ग्रन्थ में नहीं कहा है, या उन्होंने अपनी दार्शनिक भूमिका को कहीं भी विवर्तवाद या मायावाद न कहकर ब्रह्मकारणवाद [१४] या चेतनकारणवाद[१५] कहा है, तथा ब्रह्म अपने आप स्वयं जगत् में परिणमित होता[१६] है और ऐसा जगत् ब्रह्म के समान ही त्रैकालिकतया अस्तित्ववान् है, ऐसा स्वीकार किया है,[१७] यह हमें मालूम ही नहीं है, और अगर किसी ने बताया भी तो हम उसमें विश्वास करने की उदारता भी नहीं दिखाते, स्वयं एकाग्र एवं समायोजित अध्ययन कर जाँच करने की बात तो दूर रही।

तुलनात्मक दर्शन का उद्दिष्ट

तुलनात्मक दर्शन के बारे में एक अन्य महत्वपूर्ण सवाल यह है कि उसका

एकात्म, अखंड उद्दिष्ट क्या हो, जिसे जिस हद तक सही अर्थ में हासिल करने में हम सफल हुए उस हद तक हमने तुलनात्मक दर्शन का सार्थक अध्ययन किया, ऐसा माना जा सके ? कहा जाता है कि मानव-दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन करना तुलनात्मक दर्शन का प्रधान उद्दिष्ट है,[१८] ताकि उसके अध्ययन से हमारी मानव के बारे में होने वाली संकल्पना सार्थक बने ।[१९] लेकिन प्रश्न उठता है कि मनुष्य का स्वभाव, मनुष्येतरों का स्वभाव, जगत् का स्वभाव, इनमें स्वीकार्य आपसी सम्बंध, मानवीय जीवन का अन्वयार्थ तथा उद्दिष्ट और उसे अपने वैयक्तिक तथा सामूहिक जीवन में सार्थकतया हासिल करने की सार्थक संकल्पना का कोई महत्व है या नहीं ? सफल और सार्थक जीवन में हमें कोई भेद अभीष्ट है या नहीं, और अगर हो तो किस आधार पर ?[२०] स्वदेशी को यथार्थतया अपनाना एक फैशन को अपनाने जैसा मामला नहीं है, वैसे ही मानवत्व की यथार्थ संकल्पना को अपनाना और उसका हर हालत में निर्वाह करना कोई प्रवचन देने का मामला नहीं है। अगर इस प्रकार की संकल्पना हमारे ऐहिक तथा आमुत्रिक, वैयक्तिक तथा सामूहिक, राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय जीवन का मार्गदर्शक हो, अगर ऐसी हमारी अपेक्षा है तो उसे उक्त प्रकार के जीवन में फलद्रूप करने का कौन सा तरीका हम अपनाना चाहते हैं, इसका कोई महत्त्व है या नहीं ? दो उदाहरण लें। एक तो यह कि हमारी प्राचीन सभ्यता के परिप्रेक्ष्य में जो अन्यान्य सांस्कृतिक तथा दार्शनिक अविष्कार हुए उनमें से किसी के भी अनुसार मानव और प्रकृति में कभी शत्रुता का रिश्ता नहीं स्वीकार किया गया। लेकिन पश्चिमी परम्परा में इस प्रकार का रिश्ता मात्र वैचारिक स्तर पर स्वीकार ही नहीं किया गया, परंतु हर संभव प्रकृति का पराजय कर उस पर अन्यान्य वैज्ञानिक तथा तकनीकी तरीकों को अपनाकर काबू पाते हुए मानव की, या कहें विशिष्ट मानव-समूहों की, स्वार्थपरायण श्रेष्ठता हर हालत में उद्भूत करने और उसे हर कीमत पर बनाये रखने की दिशा में लोग लगातार प्रयत्नशील रहे। इन दो दृष्टियों की तुलना या समन्वय किस आधार पर और कैसे संभव होगा ? दूसरे, हमारी सभ्यता के परिप्रेक्ष्य में पली अन्याय सांस्कृतिक परम्पराओं को स्वीकार करने वाले दार्शनिक स्रोतों को लीजिए। एक ओर, बौद्ध दर्शन के पक्षधरों ने अनित्यता को लेकर 'कृतप्रणाश' तथा आकस्मिकता के पक्ष को लेकर 'अकृताभ्यागम' को अनुभव-ग्राह्यत्व तथा अनुभव-सिद्धत्व के आधार पर ऐहिक तथा आमुत्रिक, वैयक्तिक तथा सामूहिक जीवन में समानतया संगत रीति से स्वीकार्य माना, तो वैदिक परम्परा को किसी भी तरह स्वीकार करने वाले सभी अन्यान्य दार्शनिकों ने तथा श्रामणिक परम्परा को स्वीकारने वाले जैन दार्शनिकों ने एक साथ बौद्धों के द्वारा दिखायी अनुभव-सिद्ध बातों को किसी न किसी प्रकार की स्थिरता के पीछे

छिपाकर कर्म-सिद्धान्त का तथाकथित संगत स्पष्टीकरण स्वीकार कर येन-केन-प्रकारेण नियतत्ववाद को पुष्ट किया। तो क्या इन दो दृष्टियों का समन्वय भ्रामक और दोनों परम्पराओं पर अन्याय नहीं होगा। ऐसा होने के बावजूद, भारतीय दर्शनों के इतिहास का अध्ययन करने के आरम्भ में ही हम उनमें दिखायी देने वाले तथाकथित समान सूत्र देखने के पक्ष के आग्रही समर्थक बने रहने में धन्यता का अनुभव करते हैं।[२१]

दूसरी ओर, कहा जाता है [२२] कि तुलनात्मक दर्शन का मुख्य उद्दिष्ट उद्‌भवशील वैश्विक संस्कृति की प्रधान सभ्यताओं - युरोपीय, भारतीय तथा चीनी - के योगदान को देखना होना चाहिए। लेकिन यह तथाकथित उद्‌भवशील वैश्विक संस्कृति शुद्ध आपेक्षिक मानें या वास्तविक ? अगर आपेक्षिक, तो ऐसी उद्‌भवशील संस्कृति की प्रधान सभ्यताओं का योगदान कैसे समझें ? अगर इस आपेक्षिक वैश्विक संस्कृति को कल्याणकारी भविष्य के अर्थ में समझें तो कल्याण सबका या कुछ लोगों का, एक ही स्तर पर, या भिन्न स्तरों पर ? और ऐसे तथाकथित कल्याणकारी भविष्य में किसी एक का कल्याण दूसरे किसी के कल्याण का साधन-रूप होगा या नहीं ? साथ-साथ ऐसे कल्याणकारी भविष्य की संभावनाएँ वर्तमान में उपस्थित मानें या नहीं ? नयी संभावनाएँ कल्याणकारी हैं, ऐसा किस आधार पर मानें ? वे नयी हैं इसीलिये ? नयी प्रौद्योगिकी भविष्य में वैपुल्य और कल्याण की आश्वासक है, ऐसा युक्ति के खातिर स्वीकार किया भी तो उससे स्वस्थ्य एवं निरामय प्राणी तथा मनुष्य-जीवन के लिए उद्‌भूत धोखा, अनियंत्रित उपभोक्तृवाद और स्वार्थपरायणता के नंगे नाच को नज़र-अंदाज कैसे करें ? संप्रेषण के विकसित साधनों से उद्‌भूत परस्पर संशय और अविश्वास की बढ़ती बदबू का क्या ? स्वयंचलित यंत्रों ने एक ओर श्रम की मितव्ययता लायी, तो दूसरी ओर बढ़ती हुई भूखमरी भी ! साथ-साथ उक्त पक्ष की स्वीकृति में एक और धोखा अनुस्यूत है। वह यह कि उसके अनुसार प्रधान वैश्विक सभ्यताएँ उदीयमान वैश्विक संस्कृति की साधन-रूप होने से ऐसी संस्कृति से निम्न श्रेणी की हैं। इसमें तो सभ्यता तथा संस्कृति में होने वाले स्वीकार्य सम्बंध का विकृतीकरण सुप्त है। वैसे भी मात्र वैचारिक स्तर पर अन्यान्य दर्शनों के स्वीकारार्ह पक्षों को इकठ्ठा कर नया दर्शन नहीं बनेगा क्योंकि हरेक दर्शन या दार्शनिक परम्परा अपनी-अपनी संस्कृति और सभ्यता से अयुतसिद्धत्वेन जुड़ी हुई है, उसे उससे विलग करने से हमारी उसके बारे में होने वाली समझदारी साफ होने के बजाय विकृत एवं भ्रामक ही होगी।

दार्शनिक सिद्धान्त के बारे में ध्यातव्य बिन्दु

किसी भी दार्शनिक सिद्धान्त को ठीक तरह से समझने के लिये उसके बारे में होने वाले चार प्रधान पक्षों पर ध्यान देने की आवश्यकता होती है :

(१) दार्शनिक या दार्शनिक परम्परा का अपने सिद्धान्तों का सूत्रीकरण करने का तरीका।

(२) उन सिद्धान्तों को उद्‌घाटित करने वाले दार्शनिक का हेतु या प्रयोजन और उनका उसके मन में होने वाले उद्दिष्ट/ष्टों के साथ होने वाला सम्बन्ध जिनकी सार्थक एवं सफल सिद्धि के लिये उन्हें उद्‌घाटित किया गया हो।

(३) उक्त सिद्धान्त की स्वीकारार्हता दिखाने के लिये प्रस्तुत की गयीं युक्तियाँ और उनके पीछे होने वाले ऐसे तर्क जो एक ओर सहज-स्फूर्त तथ्यों और दूसरी ओर पद्धति शास्त्रीय स्वीकार्य नियामकों के विरोधी न हों।

(४) जिस सन्दर्भ में उक्त सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया हो उस सन्दर्भ का सतर्क आकलन।

ऐसे आकलनों विशेष को तय किये जाने के लिये एक ओर दार्शनिक के पूर्ववर्ती और समकालीन दार्शनिकों के विचारों पर विमर्श होना चाहिए और दूसरी ओर दार्शनिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा सभ्यता विषयक सन्दर्भों को भी अनदेखा नहीं किया जाना चाहिये। इस प्रकार से ही किसी दार्शनिक सिद्धान्त का अध्ययन करने पर हमारी उसके बारे में होने वाली समझ उपयुक्त हो सकती है। और जब तक हमने कम-से कम एक प्रधान दार्शनिक या किसी मुख्य दार्शनिक परम्परा का इस प्रकार की शुद्धता से तथा अन्य दार्शनिक या दार्शनिक परम्पराओं के परिप्रेक्ष्य में परिश्रम पूर्वक, ईमानदार और प्रामाणिक अध्ययन नहीं किया तब तक तुलनात्मक दर्शन ही क्या दर्शन के अध्ययन में भी हम सार्थकतया सफल नहीं होंगे।

आजकल अपने देश में तुलनात्मक दर्शन के नाम पर आम तौर पर जो कुछ किया जा रहा है वह दुर्भाग्यवशात् न सार्थकतया दर्शन का यथेष्ट अध्ययन है और न ही तुलनात्मक दर्शन का। वह दर्शन का सार्थक अध्ययन इसलिये नहीं कहा जा सकता क्योंकि हमारी सभ्यता के परिप्रेक्ष्य में प्रसृत किसी दार्शनिक या दार्शनिक परम्परा के दर्शन के बारे में हमारी समझदारी साफ और परिश्रमतया पैनी करने में उससे सफलता नहीं मिलती। और वह यथेष्ट तुलनात्मक दर्शन तो ऐसी अवस्था में हो ही नहीं सकता, क्योंकि न हमारे पास तुलनात्मक दर्शन की कोई सार्थक और स्वीकारार्ह समझदारी है न ही किसी एक भी दर्शन की ठीक समझदारी हमारे पास होने की वज़ह से हम उसके काबिल हैं। तो ऐसी स्थिति में आज अपने देश में तुलनात्मक दर्शन के नाम पर जो कुछ अध्ययन या अनुसन्धान किया जा रहा है, वह क्या है ? एक बड़ा भूल-भूलैया, जिसमें हम स्वयं फँसे हैं, और दुर्भाग्यवशात् यह न जानने के कारण दूसरों को उल्लू बनाने में ही बहुश: अपनी दार्शनिक इतिकर्तव्यता

मानते हैं। अतः इससे बचने के लिए हमारा एक ही सुझाव है : तुलनात्मक दर्शन के भूल-भूलैये के चक्कर में आने के बजाय किसी एक प्रधान दार्शनिक या दार्शनिक परम्परा का ईमानदारी से परिश्रमपूर्वक प्रामाणिक अध्ययन करना आरम्भ करें। अगर किसी अंश में हम दर्शन-हितैषी हैं तो जिस हद तक हमारी दार्शनिक परम्पराओं का हम शुद्धता से अध्ययन करेंगे, उनके द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्तों को यथेष्टतया समझकर जिज्ञासुओं के सामने स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करेंगे, उनके पीछे होने वाले तर्कों का, समर्थक या विरोधी युक्तियों का एवं उनके आधारों का परिमार्जित उद्घाटन करेंगे, उसी हद तक दर्शन के हित की अपने देश में सिद्धि करने में यथाशक्ति और यथामति योगदान दे पायेंगे। यही हमारे मतानुसार दार्शनिक स्वदेशी है। दार्शनिक स्वदेशी के बिना दार्शनिक परदेशी, या दार्शनिक स्वदेशी के स्थान पर या उसके विरोध में दार्शनिक अन्तर्देशीय दार्शनिक आत्मघाती और अस्वीकार्य है, ऐसा हमारा विनम्र अभिप्राय है।

सन्दर्भ-ग्रंथ और टिप्पणियाँ

१. *पी.टी. राजू : इन्ट्रोडक्शन टू कॉम्परेटिव फिलॉसोफी, युनीवर्सिटी ऑफ नेब्रास्का प्रेस, नेब्रास्का, १९६२ ।*
पी.टी. राजू और एस. राधाकृष्णन् : द कॉन्सेप्ट ऑफ मैन: ए स्टडी इन कॉम्परेटिव फिलॉसोफी, जॉर्ज एलेन एण्ड अनविन लिमिटेड, लंदन, १९६६।
पी.टी. राजू और ए. कास्टेल (सं.) : ईस्ट-वेस्ट स्टडीज़ ऑन द प्रॉब्लम ऑफ सेल्फ, मार्टिनस निज्होफ़, द हेग १९६८ ।
पी.टी. राजू : लैक्चर्स ऑन कॉम्परेटिव फिलॉसोफी, पूना विश्वविद्यालय, पूना, १९७० ।
आर्ची बाम : कम्परेटिव फिलॉसोफी : वेस्टर्न, इण्डियन एण्ड चाइनीज फिलॉसोफीज़ कम्पेयर्ड, विवेक पब्लिसिंग हाउस प्रा.लि., दिल्ली, १९७७।

२. *रवीन्द्रनाथ टैगोर, सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, पी.टी.राजू, आर्ची बाम आदि।*

३. *इस सम्बंध में दो उदाहरणों की ओर दृष्टिपात करना पर्याप्त होगा। एक, फैंक थिली अपनी पुस्तक हिस्ट्री ऑफ फिलॉसोफी की प्रस्तावना में साफ लिखते हैं कि यद्यपि उक्त पुस्तक का शीर्षक देखने से उसमें पश्चिमी दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनों के इतिहास का भी समावेश करना अभीष्ट लगे, फिर भी, भारतीय जैसे अन्य लोगों के बारे में उनका कथन है कि वहाँ दर्शन नाम की कोई स्वतंत्र चीज है ही नहीं, और जो कुछ है वह धर्म के अलावा और कुछ भी नहीं है। दूसरा, कोपलेस्टन के द्वारा अनेक खण्डों में लिखित हिस्ट्री ऑफ फिलॉसोफी में पश्चिमेतर किसी दर्शन या दार्शनिक का उल्लेख तक नहीं है।*

४. *भारतीय दर्शन के इनके द्वारा लिखित इतिहासों में दार्शनिक परम्परा या स्रोत के मुख्य सूत्रों का विवेचन इनकी सर्वथैव प्रधानता है, तत्वज्ञ तथा उनके द्वारा लिखित ग्रन्थों का स्थान गौण माना गया है। दार्शनिक प्रश्नों के बारे में किये गये विचार का विकसित अध्ययन प्रस्तुत करने की बात तो और भी दूर है।*

५ देखिये, रविन्द्रनाथ टैगोर : द कॉन्सेप्ट ऑफ इण्डियन कल्चर, सोसायटी फॉर प्रोमोशन ऑफ नेशनल इडूकेशन, अड्यार, मद्रास, १९१९ ।

श्री अरबिन्द : द फाउन्डेशन ऑफ इण्डियन कल्चर, श्री अरबिन्द आश्रम, पोन्डीचेरी, १९५३ ।

६. रवीन्द्रनाथ टैगोर : मैन, सर जे. कृष्णमूर्ति एन्डाउमेन्ट लेक्चर्स, वाल्टेयर, आन्ध्र विश्वविद्यालय, १९३७ ।

७. देखिये, एस. राधाकृष्णन : द हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ, जार्ज एलेन एण्ड अनविन लिमिटेड लंदन, १९२७ ।

८. एस. राधाकृष्णन : ईस्टर्न रेलिजन्स एण्ड वेस्टर्न थाट, ओयुपी।

९. ऊपर टिप्पणी १ में दी हुई ग्रन्थ-सूची देखिये।

१०. ठीक तरह से पता नहीं कि उक्त विभाग तुलनात्मक धर्म-विज्ञान और तुलनात्मक दर्शन का संयुक्त विभाग है या तुलनात्मक धर्म-विज्ञान और (अ-तुलनात्मक) दर्शन का।

११. पी.टी. राजू : लेक्चरर्स, उपर्युक्त उद्धृत, पे. ३ ।

१२. आर्ची बाम : कॉम्परेटिव फिलॉसोफी, उपर्युक्त उद्धृत, पे. ६ ।

१३. अपने देश में इस शताब्दी की छठी दशाब्दी के अन्त तक नव-हेगेलवादी चिद्वाद को या उसके किसी न किसी पक्ष को काफी हद तक में एक आधारभूत या आदर्श दार्शनिक परम्परा या दृष्टिकोण के रूप में स्वीकार किया गया और उसके परिप्रेक्ष्य में अपने देश के जाने-माने तत्व-चिन्तकों ने हमारी दार्शनिक परम्पराओं का विवेचन किया।

१४. देखिये, शंकर : ब्रह्मसूत्रभाष्य; I.iv. २८, II.i.६, II.i.१३, II.ii.९ ।

१५. तत्रैव, I.i.II ।

१६. तत्रैव, चेतनं एकं अद्वितीयं ब्रह्म क्षीरादिवत् देवादिवत् च अनपेक्ष्य वाह्य साधनं स्वयं परिणममानं जगतः कारणं इति स्थितम्। II.i.१६ ।

१७. तत्रैव, यथा च कारणं ब्रह्म त्रिषु कालेषु सत्वं न व्यभिचरति एवं कार्यं अपि जगत् त्रिषु कालेषु सत्वं न व्यभिचरति। II.i.१६ ।

१८. पी.टी. राजू : लेक्चरर्स, उपर्युक्त उद्धृत, पे. ७।

१९. वही, पेज ९।

२०. देखिये, मो. प्र. मराठे : 'नैतिकता : मानवीयता का सारतत्त्व', अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के ३३ वें अधिवेशन का अध्यक्षीय भाषण, १९८८, पृ. ७-८।

२१. एम. हिरियन्ना : आउटलाइन्स ऑफ इन्डियन फिलॉसोफी, जार्ज एलेन एण्ड अनविन लिमिटेड, लंदन, १९३२, पे. १७-२६।

२२. आर्ची बाम : उपर्युक्त उद्धृत, पे. ६।

तुलनात्मक दर्शन : उद्देश्य एवं उपलब्धियाँ

अशोक कुमार वर्मा

सर्वप्रथम मैं अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के विद्वान सदस्यों के प्रति अपना आभार प्रकट करना चाहूँगा जिन्होंने मुझे स्वामी प्रणवानन्द तुलनात्मक दर्शन व्याख्यान-माला में अपना विचार प्रस्तुत करने के लिए आमन्त्रित किया है। इस सन्दर्भ में मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि अन्य विधाओं की भाँति तुलनात्मक दर्शन की न कोई सर्वमान्य विशेष विषय-वस्तु है, न कोई विशेष पद्धति और न ही कोई सर्वमान्य उद्देश्य। अतः अभी तक यहाँ के विद्वान इसी समस्या से जूझ रहे हैं कि तुलनात्मक दर्शन सम्भव है या नहीं। इस लेख में मेरा अभीष्ट इन पचड़ों में पड़ने का नहीं है। मेरा प्रयास यह दर्शाना होगा कि तुलनात्मक दर्शन का उद्देश्य क्या होना चाहिए।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ में विचारों का आदान-प्रदान कब से प्रारम्भ हुआ यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। पर इस मान्यता में तो कोई आपत्ति नहीं होगी कि विभिन्न लोगों में जब परस्पर सम्पर्क हुआ होगा तो विचारों का भी आदान-प्रदान तभी प्रारम्भ हुआ होगा। कुछ इतिहासकार प्राचीन काल से ही भारतीयों की सुदूर यात्राओं की चर्चा करते हैं। कदाचित् इसी सन्दर्भ में कुछ विद्वान ग्रीक दर्शन पर भारतीय विचारों का प्रभाव और कुछ भारतीय दर्शन पर ग्रीक विचारों का प्रभाव बतलाते हैं। परन्तु राधाकृष्णन तथा डी.एम.दत्त सरीखे विद्वानों ने बतलाया है कि इसके लिए कोई ठोस और निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। यदि दो विचारों में कहीं समानता मिलती है तो उसे समानान्तर विचारों का उदाहरण भी माना जा सकता है। पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में जब विज्ञान का विकास हुआ तब देश-विदेश के निवासियों का परस्पर सम्पर्क बढ़ने लगा और वे एक-दूसरे के विचारों से अवगत होने लगे और तुलनाओं का सिलसिला प्रारम्भ हुआ - विभिन्न सभ्यताओं का, विभिन्न विचारों का, विभिन्न आर्थिक व्यवस्थाओं का, विभिन्न आचारों का, रीति-रिवाजों का। यहाँ मैं यह कह देना चाहूँगा कि प्राचीन काल में भी धर्म तथा दर्शन के प्रचारक भारत के दूर पड़ोसी देशों में तथा इंग्लैंड से अन्य यूरोपीय देशों में गये थे, परन्तु उनका उद्देश्य अपने विचारों के प्रचार और प्रसार का था। उस काल में किन्हीं दो दर्शनों की तुलना का कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

तुलना की पूर्वमान्यताएँ

तुलना कैसी भी हो या किन्हीं विषयों में हो उसकी कुछ पूर्वमान्यताएँ हैं। प्रथम यह कि तुलना के लिए कम-से-कम दो विषय अवश्य होंगे और दूसरी यह कि उनमें

कुछ समानताएँ और कुछ असमानताएँ होंगी, कि तुलना के लिए दो विषय होंगे, कदाचित् यह मानने में किसी को आपत्ति नहीं होगी। पर दो विषयों में समानता तथा असमानता के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण की आवश्यकता है।

किसी-न-किसी बिन्दु पर विश्व के किन्हीं दो विषयों में समानता तो मिलती है और असमानता भी, जैसे घड़ी और गाय; दोनों अस्तित्ववान् हैं और दोनों एक-दूसरे से नितान्त भिन्न हैं। पर ऐसी तुलनाएँ निरर्थक हैं। उनके आधार पर की गयी तुलनाओं का कोई उद्देश्य नहीं होता। किसी भी पदार्थ में दो प्रकार की विशेषताएँ होती हैं : एक, आकस्मिक और वाह्य, और दूसरी, मौलिक और आन्तरिक। मौलिक और आन्तरिक विशेषताएँ, मैं उन्हें कह रहा हूँ जो उस पदार्थ के सारतत्त्व हैं जिनके कारण वह पदार्थ अन्य पदार्थों से भिन्न हैं और उसका अपना स्वरूप है और जिनके कारण उसका नामकरण होता है। किसी वैज्ञानिक वर्गीकरण के वे ही आधार हैं। ऐसी ही विशेषताएँ भेद और अभेद, समानता या असमानता का आधार होती हैं, इसलिए किसी भी तुलना में एक प्रतिमान का होना आवश्यक है जिससे समानता या असमानता को निर्धारित किया जा सके। जब दो या उनसे अधिक दार्शनिक विचारों की तुलना की चर्चा की जाती है तो उस प्रतिमान या विषय का निर्धारण आवश्यक हैं जिसके आधार पर समानता और असमानता का अध्ययन किया जा सके। तुलनात्मक दर्शन में उस मौलिक तथ्य को दर्शाना आवश्यक है, और यह भी कि असमानताएँ क्या हैं और क्यों हैं।

इस स्थल पर यह स्मरणीय है कि किन्हीं दो विषयों में समानताएँ रहती भी हैं तो उनमें एक-एक की समानता नहीं होती। मूर ने ठीक ही याद दिलाया है कि कोई वस्तु वही है जो वह है और अन्य कुछ नहीं (बटलर)। अत: समानताओं में भी असमानता ढूँढी जा सकती है। पर वैसी असमानताएँ ही बाहरी होंगी, समानताएँ बाहरी नहीं होतीं, जैसा कुछ विद्वानों ने माना है। तुलनाएँ शंकर या हेगेल या ब्रैड्ले में, गीता के निष्काम कर्म और कांट के निरपेक्ष आदेश में, डेकार्ट के द्वैतवाद और सांख्य के द्वैतवाद में और अनेक दो दार्शनिक विचारों में की जाती हैं। उनमें समानताएँ अवश्य हैं पर उन समानताओं में अनेक असमानताएँ भी हैं ही। इन समानताओं को अमहत्त्वपूर्ण मानकर कुछ विद्वानों ने तुलनात्मक दर्शन की सम्भावना को ही नकारा है और कुछ दार्शनिक उन समानताओं को ही महत्त्वपूर्ण मानकर तुलनात्मक दर्शन को सम्भव ही नहीं बल्कि महत्त्वपूर्ण भी विचारते हैं। दोनों पक्ष इस बात को भूल जाते हैं कि विभिन्न संस्कृतियों में विकसित विभिन्न दार्शनिक विचार भले ही मूलत: एक प्रतीत हों पर उनमें वैज्ञानिक और यान्त्रिक बिन्दु-बिन्दु की समता सम्भव नहीं है, न ही उन्हें इस आधार पर, वैचारिक दृष्टि से, सर्वथा असमान विचारा जा सकता है। प्रश्न है उनके दृष्टिकोणों का, जो समान होते हैं।

किसी भी दार्शनिक विचार की एक पृष्ठभूमि होती है । दर्शन मस्तिष्क की उपज है। अत: आर्थिक, भौगोलिक, ऐतिहासिक व राजनीतिक परिवेश में ही किसी विचार का सूत्रपात होता है। वही उसकी पृष्ठभूमि है। पाश्चात्य दर्शन के इतिहास पर नजर डालें तो ग्रीस के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक उथल-पुथल सुकरात, प्लेटो तथा अरस्तु के दार्शनिक विचारों की पृष्ठभूमि हैं। उनके दृष्टिकोण के मूल्याँकन में, उस पृष्ठभूमि को नजरअन्दाज करने से, उनके विचारों की आत्मा तक नहीं पहुँचा जा सकता है। एक दृष्टि बुद्ध और महावीर के दार्शनिक विचारों पर डालें। भारतीय समाज में जातीय तथा अन्य सामाजिक कुरीतियों ने बौद्ध तथा जैन दर्शनों का सूत्रपात किया था। अलग-अलग समाज में दार्शनिक विचारों के उद्गम की अलग-अलग स्थितियाँ होती हैं। वे स्थितियाँ समान रूप से दो देशों में रह सकती हैं, भले ही ऐसा अलग-अलग समय में यह सम्भव हो। अत: किसी भी दर्शन की दूसरे दर्शनों से तुलना करने में उन स्थितियों को ध्यान में रखना आवश्यक है और उससे ही वास्तविक दृष्टिकोण की परख हो सकती है। युरोप के दो विश्व युद्धों के परिणाम तार्किक भाववाद, तत्त्वदर्शन का बहिष्करण तथा अस्तित्ववाद सरीखे विचार हैं। चार्वाक दर्शन में परम्परागत मूल सत्ता का निषेध कुछ मिलता-जुलता विचार है। इन तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि यदि किसी मूल धारणा में किसी बिन्दु पर असमानता मिलती है तो हम उन परिस्थितियों का अध्ययन कर उसकी तह में, जिस दृष्टिकोण का सूत्रपात किया गया है, उसे समझने का प्रयत्न करेंगे या कम से कम एक धारणा के दूसरे की ओर बढ़ने के प्रयास का अवलोकन करेंगे। संक्षेप में, हम यही कहेंगे कि यदि दो संस्कृतियों के दर्शनों की तुलना की जाती है तो उनकी पृष्ठभूमि को ध्यान में रखना आवश्यक है। उन संस्कृतियों के परिप्रेक्ष्य में ही समानता या असमानता अर्थात् तुलना का अध्ययन सार्थक होगा।

तुलनात्मक दर्शन की आवश्यकता

अब प्रश्न यह है कि तुलनात्मक दर्शन की आवश्यकता क्या है ? और, इसका उद्देश्य क्या होना चाहिए ?

प्रथम प्रश्न का उत्तर सरल है । जब भी विभिन्न व्यक्तियों का आपसी सम्पर्क होता है तो वे एक-दूसरे को जानने और समझने की चेष्टा करते हैं । यह जानने और समझने की प्रवृत्ति ही एक-दूसरे की संस्कृति की ओर उन्हें आकृष्ट करती है । जब बाहर से राजनीतिक कारणों से लोग भारत आये तो उन्होंने अपनी दार्शनिक परम्पराओं की यहाँ की दार्शनिक परम्पराओं से तुलना की और एक-दूसरे से प्रभावित भी हुए । सूफी दर्शन को भी कुछ हद तक इसी का परिणाम माना जा सकता है। जब अंग्रेज यहाँ आए तो कुछ अंग्रेज विद्वानों ने भारतीय दार्शनिक साहित्यों का अनुवाद कर पाश्चात्य देशों को यहाँ के दार्शनिक विचारों से परिचित कराया । परन्तु पाश्चात्य

विचारों से यहाँ के विद्वान भी अछूते नहीं रहे। राममोहन राय, विद्यासागर सरीखे विद्वानों ने वेदान्त आदि दर्शन को एक नया रूप दिया । यहाँ मैं यह जिक्र कर देना आवश्यक मानता हूँ कि कुछ लोगों ने पाश्चात्य और भारतीय दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन इस दृष्टि से आवश्यक माना कि वे अपनी संस्कृति और विचारों को दूसरों की तुलना में श्रेष्ठ घोषित कर सकें। थिली ने तो यहाँ तक कहा है कि भारत में दर्शन हैं ही नहीं, हैं केवल धार्मिक विचार। कोपलेस्टन ने अपनी पुस्तक में कहीं भी भारतीय दर्शन का जिक्र तक नहीं किया है। मेरे विचार से दार्शनिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन इस दृष्टि से निरर्थक है और न ही इसे तुलनात्मक दर्शन की आवश्यकता कहा जा सकता है। वास्तव में, तुलनात्मक दर्शन का उद्देश्य यदि यही रहा तो एक दूसरे की सारी विशेषताएँ दृष्टि से ओझल हो जाने का डर रहता है। किन्हीं दो दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन विचार-क्रम की एक स्वाभाविक क्रिया है। जिस प्रकार मनुष्य के लिए विचार करना स्वाभाविक क्रिया है, उसी प्रकार अन्य दार्शनिक विचारों से परिचित होने पर उनका तुलनात्मक अध्ययन भी स्वाभाविक है। आवश्यकता है खुले मस्तिष्क से समानता और असमानता परखने की ।

तुलनात्मक दर्शन का उद्देश्य

यदि किसी भी देश के दर्शन के इतिहास का अध्ययन किया जाए तो यह स्पष्ट होता है कि विचार-क्रम स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता जाता है । दर्शन के विकास की दिशा अविवेक से विवेक की ओर होती है। स्टेस ने इसे ग्रीक दर्शन के इतिहास के सन्दर्भ में स्पष्टत: दिखलाया है । भारतीय दार्शनिक परम्पराएँ भी इसके उदाहरण हैं । यह तो हुई विशेष देशों की दार्शनिक परम्पराओं की बात। यदि विभिन्न देशों की दार्शनिक परम्पराओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो भी विचार क्रम की दिशा यही मिलती है । इसी दृष्टि से पूरब और पश्चिम के अनेक विद्वानों ने १९३९ में एक पूरब-पश्चिम दर्शन सभा का आयोजन किया था । चार्ल्स मूअर, सिंकलेयर, महादेवन, डी.एम. दत्त आदि, विभिन्न देशों से, २२ विख्यात दार्शनिकों ने सभा में भाग लिया । उस सभा का उद्देश्य था तुलनात्मक दर्शन के विभिन्न आयामों का पता लगाना और एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण को विकसित करना। अत: तुलनात्मक दर्शन की समस्या थी - संसार के सभी दर्शनों और आदर्शों का अध्ययन कर एक विश्व दर्शन की सम्भावना ढूँढना। उन्होंने ऐसा किया भी और विशेष क्षेत्रों में विभिन्न देशों के दर्शनों की तुलना की। उन्होंने कुछ समानताओं का उल्लेख किया है पर असमानताओं को भी दृष्टिगोचर नहीं होने दिया है। कुछ असमानताएँ तो ऐसी मिलीं जो किसी तथ्य को कम या अधिक महत्त्वपूर्ण मानने के कारण वैसी प्रतीत होती हैं। अत: तुलनात्मक दर्शन का लक्ष्य है विभिन्न क्षेत्रों में, जैसे, तत्त्व-सम्बन्धी, पद्धति-सम्बन्धी, ज्ञान-सम्बन्धी क्षेत्रों में, विभिन्न विचारों का अध्ययन कर उनमें वास्तविक समानता और

असमानता स्थापित करना । यदि इस प्रकार का अध्ययन हो तो एक विश्व दर्शन की स्थापना सम्भव होगी और मनुष्य सत्य की ओर एक कदम और आगे बढ़ जाएगा। इसलिए मेरे विचार से तुलनात्मक दर्शन का उद्देश्य होना चाहिए : 'दर्शन बिना किसी परिधि के *(फिलॉसोफी विदाउट फ्रन्टियर्स)*।

मित्रों, यह कार्य उतना सरल नहीं है जैसा मैंने कुछ शब्दों में यहाँ कह दिया है । इसमें लगन और परिश्रम की आवश्यकता है । पर हम उस दिशा में प्रयत्न तो कर ही सकते हैं । जयहिन्द ।

सन्दर्भ–ग्रन्थ

१. *आर्ची बॉम : कॉम्परेटिव फिलॉसोफी : वेस्टर्न, इण्डियन, एण्ड चाइनीज फिलॉसोफीज़ कॉम्पेयर्ड ।*
२. *पी.टी. राजू : लेक्चरर्स आन कॉम्परेटिव फिलॉसोफी ।*
३. *पी.टी. राजू : इन्ट्रोडक्शन टू कॉम्परेटिव फिलॉसोफी ।*
४. *एस. राधाकृष्णन् : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी ।*
५. *डी.एम. दत्त : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी ।*
६. *डब्ल्यु.टी. स्टेस : हिस्ट्री ऑफ ग्रीक फिलॉसोफी ।*
७. *सी.ए. मुअर (सं.) : ईस्ट-वेस्ट फिलॉसोफर्स कान्फेरेन्स ।*

तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा

यशदेव शल्य

तुलनात्मक अध्ययनों का आरम्भ सत्रहवीं-अट्ठारहवीं शताब्दियों में युरोपीय यात्रियों के अन्य देशों के समाजों के सम्पर्क में आने के साथ हुआ। सभी तुलनाएँ भिन्नों में किसी समानता के दर्शन से आरम्भ होती हैं किन्तु सभी प्रकार की समानताएँ तुलना के लिए आधार नहीं होतीं। उदाहरणतः, किसी गाय और मेज़ के रंग में समानता होने पर भी कोई गाय और मेज़ में तुलना के लिए प्रेरित नहीं होगा किन्तु गाय में और चींटी में कोई प्रकट समानता नहीं होने पर भी कोई व्यक्ति इनमें तुलना के लिए प्रेरित हो सकता है। यहाँ पर तुलना की प्रेरणा किसी ऐसे मूल लक्षण या आधार की कल्पना से होगी जो इन दोनों के बीच प्रकट भेदों के मूल में रहकर इनको धारण करता है। गोएटे ने अपने वनस्पति वैज्ञानिक अध्ययनों के क्रम में ऐसी एक मूल वानस्पतिक आकृति (*आर्केटाइप*) का प्रातिभ-दर्शन किया था और नोम चोम्स्की ने अपने भाषा वैज्ञानिक अध्ययनों के क्रम में विभिन्न वास्तविक भाषाओं के विशिष्ट व्याकरणों के आधार में एक गुह्य-मूल व्याकरण (*डीप ग्रामर*) का दर्शन किया। रुडोल्फ कार्नप के तार्किक वाक्य-रचना (*लॉजिकल सिंटेक्स*) के सिद्धान्त का भी यही अभिनिवेश है। वास्तव में, पातंजलि और भर्तृहरि का परावाक् का दर्शन भी इसी कोटि में रखा जा सकता है, यद्यपि इन विचारकों ने अपने इस प्रातिभ का पुनरीक्षण व्यक्त वाक् : वैखरी : के विविध रूपों की तुलना के माध्यम से नहीं किया, जैसा गोएटे ने वास्तविक पौधों की आकृतियों में और चोम्स्की ने वास्तविक भाषाओं के व्याकरणों में तुलना के माध्यम से किया। इस प्रकार, भिन्न केवल आरोपित वर्गीकरणों के माध्यम से ही एकीकृत नहीं होते बल्कि ऐसा भी हो सकता है कि प्रकट भेद वास्तविक मूल एकता पर प्रतिष्ठित हों। वास्तव में, किसी भी तुलना में यह पूर्वगृहीत रहता है कि तुलनीयों की किसी एक मूल में प्रतिष्ठा है। इसलिए तुलनात्मक दर्शन की सम्भावना पर विचार का कार्य वास्तव में इस एक दार्शनिक मूल की सम्भावना पर विचार करना होना चाहिए। दार्शनिक मूल, अथवा कहें आधार-दर्शन का यह सन्धान, यद्यपि दर्शन की परिभाषा देकर भी हो सकता है किन्तु ऐसा करना दर्शन के तुलनात्मक अध्ययन को विशेष सार्थक नहीं बनाएगा। तुलनात्मक दर्शन का कार्य विभिन्न दार्शनिक प्रयत्नों और स्थापनाओं में तुलना के माध्यम से उस आधार तत्त्व का सन्धान करना होना चाहिए जो इन प्रयत्नों की भिन्नता को धारण करता है।

यहाँ सबसे पहले विचारणीय प्रश्न यह होगा कि यह सन्धान अभिन्न आधार की पूर्वमान्यता के साथ आरम्भ होगा या कि बिना ऐसी पूर्वमान्यता के आरम्भ होगा ? जैसाकि हम अभी देखेंगे, इस प्रश्न के उत्तर के लिए जो विकल्प यहाँ दिया गया है उसके किसी पक्ष को स्वीकार नहीं किया जा सकता, इसलिये यह प्रश्न ही युक्त नहीं है। जब हम भिन्नों में तुलना के लिए प्रवृत्त होते हैं तब हम उसमें सामान्य आधार का न तो पूर्वमान्यता के रूप में आक्षेप करते हैं और न किसी सामान्य आधार के नितान्त अभाव में ही आरम्भ करते हैं। वास्तव में सामान्य आधार : मूल प्रत्यय अथवा मूल संरचना : प्राय: प्रातिभ रूप से ही अवगत होता है जिसे हम पीछे अध्यवसायात्मक ज्ञान का विषय बनाने का प्रयत्न करते हैं। यह अनुव्यवसाय ही वास्तव में तुलनात्मक अध्ययन का कार्य होता है। संभव है कि कभी हम किसी मोह-जन्य विभ्रम को प्रातिभ साक्षात्कार समझ लें जो पीछे अध्यवसायात्मक परीक्षा से भ्रम प्रमाणित हो जाए किन्तु यह भी संभव है कि अध्यवसायात्मक प्रयत्न वास्तविक प्रातिभ साक्षात्कार का आकलन करने में असमर्थ रहकर उसे भ्रम घोषित कर दे। जो भी हो, तुलनात्मक अध्ययन है केवल अनुव्यवसाय ही; न तो यह किसी पूर्वमान्यता के अनुमोदन का प्रयत्न होता है और न अनुसन्धान के लिए स्थापित प्राक्कल्पना (*हाइपोथेसिस*)। इस प्रकार, नोम चोम्स्की और गोएटे के तुलनात्मक अध्ययन उनके प्रातिभ तथा साक्षात्कृत मूल व्याकरण और मूलाकृति (*आर्केटाइप*) के अध्यवसायात्मक ज्ञान के विषय के रूप में पुनरावगमन के प्रयत्न कहे जा सकते हैं।

किन्तु, जहाँ तक मैं जानता हूँ, दर्शन में इस प्रकार का कोई तुलनात्मक अध्ययन नहीं हुआ है। दर्शन के कुछ विद्वानों ने भारत और पश्चिम के किन्हीं दो या अधिक दार्शनिकों की तुलनाएँ अवश्य की हैं किन्तु एक तो वे तुलनाएँ केवल दो या तीन दार्शनिकों के बीच की गई हैं और दूसरे वे भी उनकी व्यवस्था के कुछ अंगों में समानता दिखाने के रूप में हैं, उनकी प्रकट भिन्नताओं के मूल में अन्तर्निहित अभिन्नता को दिखाने, अथवा संरचनात्मक (*स्ट्रक्चरल*) भिन्नता के बीच लक्षित अंग विशेष में अनुरूपता से संकेतित मौलिक अभिन्नता दिखाने के रूप में नहीं। उदाहरण के लिए, हेगल के निरपेक्ष प्रत्यय (*एब्सोल्यूट आइडिया*) और शंकर के ब्रह्म में, कांट के निरपेक्ष आदेश (*केटेगोरिकल इम्परेटिव*) और *गीता* के निष्काम कर्म-योग में तुलनाएँ प्रथम प्रकार की ऊपरी तुलनाएँ हैं। इनके विपरीत गोएटीय और चोम्स्कीय तुलनाओं में प्रकट समानताओं को लक्षित नहीं कर प्रकट असमानताओं के समान आधार की, और उस आधार पर से विभिन्नताओं के अविर्भाव के नियम की खोज लक्षित

रहती है। वास्तव में, गोएटीय और चोम्स्कीय समान आधार या आदिम संरचना (*प्राइमल स्ट्रक्चर*) किसी वास्तविक आदिम जीव या वास्तविक आदिम भाषा की संरचनाएँ नहीं होकर उन प्रत्ययों के समान हैं जो कभी वास्तविक हुए बिना वस्तुगत वैविध्य का नियमन करते हैं। वास्तव में, तुलना का यही प्रसंग हो सकता है। जो तुलनाएँ शंकर और हेगल में की जाती हैं वे इस प्रकार की नहीं हैं और इसी से युक्ति संगत भी नहीं हैं। उदाहरण के लिए, हेगलीय पूर्ण प्रत्यय वैयक्तिक आत्माओं या आत्मा से अभिन्न है, वह अध्यस्त भी नहीं है, इसलिए एक प्रकार से, शांकर ब्रह्म और हेगलीय पूर्ण प्रत्यय में वैसी ही समानता है जैसी संस्कृत के 'स्त्री' और अंग्रेजी के 'ट्री' शब्दों में। वास्तव में, शंकर और हेगल में तुलनात्मक अध्ययन का युक्त प्रसंग इनमें प्रकट समानता के आधारों में निहित भेदों को देखना ही हो सकता है। इससे हम देख सकते हैं कि कैसे और क्यों प्रकट समानताएँ वास्तव में भिन्न हैं अथवा कैसे और क्यों वास्तव में भिन्न अवधारणाएँ एक ही बिन्दु को लक्षित कर रही हैं। यहाँ कहा जा सकता है कि यह दूसरी स्थिति संभव ही नहीं है क्योंकि भिन्न अवधारणाएँ कभी एक ही बिन्दु को लक्षित कर ही नहीं सकतीं, यह समानता केवल प्रातीतिक या आरोपित ही हो सकती है, वास्तविक नहीं।

जो भी हो, इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन मूलगामी नहीं हो सकते, मूलगामी अध्ययन वही हो सकता है जो विभिन्न दार्शनिक अभिनिवेशों को एक आधार से निस्सृत होते, अथवा कहें, विभिन्न प्रयत्नों को एक ही अभीप्सा की पूर्ति की ओर उद्दिष्ट, देख सकता है। दर्शन में ऐसा एक आधार, ऐसा एक मूल अभिनिवेश, होना संभव है या नहीं, यहाँ हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे, क्योंकि यदि यह संभव नहीं है तब तुलनात्मक दर्शन की कोई संभावना ही नहीं है।

किन्तु यह देखा कैसे जाये ? यदि वास्तविक दार्शनिक प्रयत्नों की परीक्षा से, तब यह निश्चय कैसे हो कि कौन सा प्रयत्न दार्शनिक है और कौन सा अदार्शनिक? यदि इसके लिए कसौटी पहले से ही हो तो फिर वास्तविक प्रयत्नों को देखने की आवश्यकता ही कहाँ रहती है ? किन्तु वास्तविक प्रयत्नों को देखे बिना कसौटी कहाँ से आयेगी ?

वास्तव में, कसौटी सम्बंधी यह कठिनाई सभी वर्गीकरणों में न्यूनाधिक रहती ही है किन्तु यह देखना कठिन नहीं है कि कसौटी का आधार वस्तु में लक्षित विशिष्ट लक्षण ही होता है। किन्तु यह स्थिति जितनी सरल इन्द्रिय-ग्राह्य वस्तुओं के सम्बन्ध में है उतनी मानवीय कृतियों के सम्बन्ध में नहीं, क्योंकि मानवीय कृतियों में, वास्तव

में, कृति का प्रकट रूप उसके अन्तर्निहित आधार से अलग नहीं पहचाना जा सकता। अमुक कृति काव्य है या नहीं, यह उसकी छन्दोमय रचना को देखकर नहीं कहा जा सकता, जिस लक्षण के आधार पर यह कहा जा सकता है वही उसकी अन्तर्निहित संरचना और कसौटी भी है। यही बात दर्शन के लिए भी है। दार्शनिक और अदार्शनिक कृति में भेद की पहचान उस अन्तर्निहित आकार (विशिष्ट रचना-तत्व) के आधार पर संभव है जो उदाहरणभूत कृतियों की तुलना के माध्यम से अन्वेष्य है। यह बात इस सीमा तक वानस्पतिक आकार के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती क्योंकि वनस्पति की प्रथम पहचान इस आकार की पहचान की अपेक्षा नहीं करती। अवश्य ध्वनियों में यह पहचानना अधिक सरल है कि इनमें कौन सी भाषा है और कौन सी नहीं, किन्तु वह भी इस दृष्टि से दर्शन या काव्य से मूलतः भिन्न नहीं है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि रचना के अन्वेषण की दृष्टि से दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन उतना प्रयोजनीय नहीं है जितना इस दृष्टि से प्रयोजनीय है कि विभिन्न दार्शनिक प्रयत्न किस सीमा तक अपनी मूल संरचना में अपने आदर्श की चेतना से युक्त हैं।

किन्तु विचारकों का एक सम्प्रदाय है जो तुलनात्मक अध्ययनों का औचित्य स्वीकार नहीं करता; इस मत के अनुसार न दो व्यक्तित्व तुलनीय होते हैं और न दो संस्कृतियाँ। ये दोनों नितान्त विलक्षण होते हैं, और दर्शन, काव्य आदि संस्कृतिमूलक होने से और भी अधिक विलक्षण होते हैं : दो व्यक्तियों के दर्शन व्यक्तिमूलक लक्षणों में और दो संस्कृतियों के दर्शन संस्कृति-मूलक लक्षणों में परस्पर स्वतन्त्र होते हैं, इसलिए तुलना केवल आरोपित समानताओं के आधार पर ही हो सकती है। इसी प्रकार, भाषा के लिए भी यही कहा जा सकता है। इनके अनुसार भाषा एक गत्यात्मक वर्तुल संस्थान होती है जिसकी गति वृत्त के सभी बिन्दुओं को अन्य बिन्दुओं के साथ संयुक्त रखती है और अन्य भाषाओं के बिन्दुओं का प्रवेश इस वृत्त में नहीं होने देती। वास्तव में, भारतीय वैयाकरणों का स्फोट-सिद्धान्त भी बहुत कुछ इस सिद्धान्त का समर्थन ही करेगा क्योंकि इनके अनुसार अर्थ का वाहक सम्पूर्ण वाक्य होता है, विशिष्ट शब्द मिलकर उसका निर्माण नहीं करते। ऐसी अवस्था में एक ही भाषा में भी समानार्थकता संभव नहीं है, दो भाषाओं में समानार्थकता की सम्भावना का तो प्रश्न ही कहाँ रह जाता है ? इस प्रकार से कहा जा सकता है कि इन वैयाकरणों से एक कदम आगे एक भाषा को एक वर्तुल संस्थान मानने वाले दार्शनिक हैं जो वाक्य-स्फोट के बजाय भाषा-स्फोट को मानते हैं। अर्थात् उनके अनुसार संपूर्ण भाषा एक ही अर्थ-स्फोट है और उसके सब वाक्य और शब्द उसमें से विश्लिष्ट किये जाते हैं। इसलिए वाक्य और

शब्द उस मूल स्फोट के प्रतिभान (*इन्ट्यूशन*) के बिना ग्राह्य नहीं हो सकते। यहाँ विट्गेन्स्टाइन के इस प्रसिद्ध कथन का भी स्मरण किया जा सकता है कि 'भाषा एक जीवन-विधि है', जो वास्तव में स्पेंगलर के संस्कृति-विषयक व्यापकतर सिद्धान्त का एक अंश में कथन है। इसके विपरीत पीछे हम आधार-व्याकरण-सिद्धान्त की चर्चा कर आये हैं जो सब भाषाओं का एक ही उत्स देखने का प्रयत्न करता है।

किन्तु, वास्तव में, इन दो मतों में मौलिक विरोध नहीं है। सभी भाषाएँ एक ही वाक्-तत्त्व की विभिन्न उपाधियाँ, अथवा कहें एक ही व्याकरण के विभिन्न विकार, हो सकती हैं और इनके ये भेद आधारभूत अभेद पर प्रतिष्ठित होकर भी अपने गठन में परस्पर पूर्णतः विलग हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, विभिन्न संस्कृतियाँ एक ओर पूर्णतः स्वतंत्र सामाजिक व्यक्तित्व हैं, किन्तु दूसरी ओर उस मूल अभेद में प्रतिष्ठित हैं जो विभिन्न संस्कृतियों में विभिन्नतया रचित होता है : भारतीय और चीनी संस्कृतियाँ इस अर्थ में परस्पर पूर्णतः भिन्न हैं कि उनमें जीवन, जगत् और परमार्थ सर्वथा भिन्न-भिन्न रूप में कल्पित हैं, किन्तु इस अर्थ में अभिन्न आधार में स्थित हैं कि इन दोनों में जीवन, जगत् और परमार्थ की एक समंजस कल्पना की अभीप्सा विद्यमान है। अभीप्सा की इस समानता के कारण ही ये दोनों 'संस्कृतियाँ' हैं। यहाँ कोई लाइब्नीज़ का उल्लेख करते हुए कह सकता है कि विभिन्न व्यष्टियों के लिए किसी समान आधार का होना आवश्यक नहीं है। यहाँ हम लाइब्नीज़ के द्वारा दृष्टि-बिन्दुओं को ही परमता देने के औचित्य सम्बन्धी विवाद में नहीं पड़ना चाहते, यहाँ हम केवल इतना ही कहना चाहेंगे कि कोई भी भावन या अवगमन भावरूप में अभाव से परिसीमित होता है। व्यक्ति रूप में मैं अन्य व्यक्ति के सामने आते ही अपने अभाव से परिवेष्टित हो जाता हूँ। लाइब्नीज़ के चिद्बिन्दु न अपने को देश-काल में देखते हैं और न अन्य चिद्बिन्दुओं को चिद्बिन्दु-रूप में देखते हैं किन्तु ऐसा संसारावतरित चैतन्य के लिए संभव नहीं है। यह निरूपाधिक की औपाधिक अभिव्यक्ति के रूप में ही अवतरित होता है और उसे इस बात का अस्फुट संज्ञान अथवा स्फुट बोध भी रहता है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक संस्कृति, और तदनुसार इनकी सब कृतियाँ, एक ओर सर्वथा विलक्षण होती हैं किन्तु दूसरी ओर ये एक ही मूल प्रत्यय अथवा मूल उपाधि में एक समान होती हैं। उदाहरण के लिए, सांख्य के अनुसार बुद्धि, अहंकार, अन्तःकरण, तन्मात्र और पंच-महाभूत वैयक्तिक अस्तित्व की सामान्य संरचना अथवा सामान्य रचनात्मक प्रत्यय हैं किन्तु प्रत्येक व्यक्ति अहंकार के अधीन विलक्षण है। यहाँ यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि वैयक्तिक विलक्षणता के आधार में निहित यह संरचना

उस प्रकार तुलनात्मक अध्ययनों के निष्कर्ष-रूप में प्राप्त नहीं है जिस प्रकार गोएटे को वानस्पतिक मूल संरचना, वानस्पतिक अध्ययनों में प्राप्त हुई थी। यद्यपि गोएटीय निष्कर्ष भी आगमनात्मक (*इंडक्टिव*) नहीं होकर प्रातिभ ही था, जैसाकि हम पीछे देख आये हैं, किन्तु सांख्यीय आधार संरचना प्रातिभ नहीं होकर सैद्धान्तिक है। आधारों की उपलब्धि में यह अन्तर इन आधार संरचनाओं के इन पर आधृत विशिष्टों के साथ सम्बंध में अन्तर का भी द्योतक होता है। जबकि प्रथम प्रकार के विशिष्ट अपने आधार-प्रत्यय के उदाहरण नहीं होते बल्कि ये प्रत्यय विशिष्टों के अपने वैशिष्ट्य में चरितार्थ होने के प्रयत्न रूप होते हैं, दूसरे प्रकार के विशिष्ट सामान्य के उदाहरण-रूप, विशिष्ट अभिव्यक्ति-रूप होते हैं। इनमें द्वितीय प्रकार के आधार-प्रत्यय प्लेटोयी हैं और प्रथम प्रकार के अरस्तुई (अरस्तु के *फॉर्मस्*) हैं। दूसरे शब्दों में, द्वितीय प्रकार के आधार-प्रत्यय अखंड और अलौकिक स्वरूप-सत् के उदाहरण-रूप और लौकिक माध्यम में अलौकिक के लिए संकेत-रूप होते हैं। प्रथम प्रकार के उदाहरण प्रत्यय के साथ तारतम्य-रूप।

क्या दर्शन में भी इसी प्रकार कृतियों : प्रतिपादित सिद्धान्तों : के आधार में कोई मूल संरचना रहती है, और यदि रहती है तो उनमें सम्बन्ध किस प्रकार का होता है ? इसके उत्तर के लिए वास्तविक दार्शनिक परिस्थिति के निरीक्षण के साथ आरम्भ करना उपयुक्त होगा।

प्रस्तुत प्रसंग में यह परिस्थिति तीन पक्षों में प्रस्तुत होती है : (१) सर्वप्रथम, दर्शन का क्षेत्र क्रमशः संकुचित हुआ है, अर्थात् विचार के कुछ ऐसे रूप, जो पहले समरूप देखे जा रहे थे, पीछे क्रमशः विज्ञान, कला, धर्म, नीति-व्यवस्था आदि के रूप में दर्शन से अलग पहचाने जाने लगे और इस प्रकार दर्शन का अपना तत्त्व, अपना मूल आधार, अधिक शुद्ध रूप में प्रकट हुआ। तुलनात्मक दर्शन का यह पक्ष विमर्शात्मक चेतना की विभिन्न विधाओं में तुलना के मार्ग से दार्शनिक विधा की मूल संरचना को प्रकट करता है, उदाहरण के लिए, मन विषयक विचार में वैज्ञानिक विधा और दार्शनिक विधा को पृथक्-पृथक् पहचानना। यहाँ हम इस पर विचार नहीं करेंगे।

(२) दूसरे, दो भिन्न संस्कृतियों में एक-दूसरी से बहुत भिन्न प्रकार की अभीप्साएँ (मूल्य-दृष्टियाँ) दृष्टिगत् होती हैं। उदाहरण के लिए, आधुनिक पश्चिम में विज्ञान और व्यक्तिमूलक जीवन की धुरी पर सामाजिक व्यवस्था का संयोजन, ये दो मुख्य अभीप्साएँ हैं। इसके विपरीत सुकरात, प्लेटो और प्लोटाइनस में बुद्धिग्राह्य आध्यात्मिक

तत्त्व के साक्षात्कार की अभीप्सा दिखाई देती है और प्राचीन भारत में हम संपूर्ण लौकिक ज्ञान को औपाधिक मानकर निरूपाधिक ज्ञान की उपलब्धि के लिए उपाधियों के अतिक्रमण की विधि से ज्ञान की ओर अतिक्रमण की सिद्धि की अभीप्सा देखते हैं। इन अभीप्साओं के अनुसार ये तीन भिन्न-भिन्न प्रकार के दर्शन हैं। इनमें आधुनिक मनस् ग्रीक मनस् को न्यूनाधिक समझ सकता है, और इसी प्रकार प्राचीन भारतीय मनस् भी ग्रीक मनस् को अंशतः समझ सकता है, जबकि आधुनिक पाश्चात्य मनस् और प्राचीन भारतीय मनस् में परस्पर संवाद बहुत कठिन है। वैसे, भारत में न्याय, वैशेषिक और चार्वाक दर्शन भी थे जो आधुनिक पाश्चात्य मनस् के बहुत कुछ निकट कहे जा सकते हैं। किन्तु सांस्कृतिक भूमियों पर यह निकटता केवल ऊपरी है, वास्तविक नहीं। यहाँ ग्रीक दर्शन पर बर्ट्रैंड रसल की एक टिप्पणी का उल्लेख करना प्रासंगिक होगा। उनके अनुसार, "ग्रीक-परंपरा की मूल अभिप्रेरणा ग्रीक दार्शनिकों का तर्क-बुद्धि (*रीज़निंग*) की सर्वशक्तिमत्ता में बाल-सुलभ विश्वास था। उन दार्शनिकों को ज्यामिति की खोज ने उन्मत कर दिया था, जिसकी प्रागनुभविक निगमनात्मक विधि को उन्होंने सर्वत्र प्रयोग की जा सकने वाली विधि मान लिया था।"[१] किन्तु ग्रीक दार्शनिकों के लिए तर्क का अर्थ उससे सर्वथा भिन्न था जो रसल और आधुनिक यूरोपीय मनस् के लिए इसकी अवधारणा है, यह रसल देख ही नहीं रहे हैं। ग्रीक के लिए, वास्तव में, वह वाह्य जगत की अन्तरात्माभूत दिव्य व्यवस्था का और मनुष्य में इसका साक्षात्कार करने वाली आत्मा और विवेक करने वाली बुद्धि का वाचक था, निगमनात्मक तर्क का नहीं। उस दृष्टि-बिन्दु पर हम आधुनिक जन कुछ सीमा तक सह-अनुभूति से अवस्थित हो सकते हैं और उनके दृश्यमान् लोक का कुछ आभास प्राप्त कर सकते हैं किन्तु उसे सम्यक् रूप में समझ नहीं सकते।

(३) तुलनात्मक दार्शनिक परिस्थिति का तीसरा पक्ष है एक ही संस्कृति के अन्तर्गत विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में तुलना के मार्ग से उनकी मूल संरचना और मूल अभिनिवेश को खोजना।

इनमें दूसरे प्रकार की तुलना हमारे देश में पर्याप्त हुई है किन्तु उसमें उद्देश्य या तो भारतीय दार्शनिकों में कुछ ऐसे विचारों की खोज करना होता था जैसे पश्चिम के किसी दार्शनिक में मिलते हों अथवा पश्चिम के किसी दार्शनिक में ऐसे तत्त्वों की खोज करना होता था जैसे किसी भारतीय दार्शनिक में मिलते हों। किन्तु यह प्रयत्न बहुत भ्रान्त था क्योंकि इस प्रयोजन से चुने गए विचार एक सजीव अवयवी को यन्त्रवत मानकर पृथक देखे जाते थे और इस प्रकार सांस्कृतिक मनस् की विलक्षणता को प्रकट

नहीं करते थे। तुलनात्मक दर्शन का कार्य इस प्रकार अवयवी को छोड़कर अवयव विशेष की तुलना करना नहीं है बल्कि उस मूल प्राण का प्रतिभान पाना है जो स्वयं को विभिन्न विलक्षणताओं में प्रकट करता है। इस प्रकार, तुलनात्मक दर्शन का कार्य वास्तव में मूल और लक्षण दोनों को देखना होता है। उदाहरण के लिए, वसुबन्धु और बर्कले में एक समानता है कि दोनों वाह्यार्थ को असत् मानते हैं, किन्तु इनमें वाह्यार्थ के स्वरूप, विज्ञप्ति के स्वरूप और वाह्यार्थ को असत् मानने के प्रयोजन को लेकर ऐसे असाधारण भेद हैं कि इनमें वाह्यार्थ के निषेध के रूप में परिलक्षित समानता, एक ही परत गहरी दृष्टि को ऊपरी दिखायी देने लगती है और उसके लिए यह अर्थ इस परत के नीचे छिपे वास्तविक भेदों की दृष्टि से रोचक हो जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि '*इस्से ईस्ट पर्सिपी* ' और ' विज्ञप्तिमात्रमेवेदमसदसदर्थावभासनात्' में कोई समानता है ही नहीं; वस्तुतः इनमें बहुत महत्वपूर्ण समानता है। यह समानता तार्किक संरचनागत है किन्तु उनमें उतने ही मौलिक भेद भी हैं जो दार्शनिक अभीप्सा-मूलक हैं और इस केन्द्र से तार्किक-दार्शनिक संरचना को भी प्रभावित करते हैं। तार्किक संरचनागत समानता इस प्रश्नात्मक दृष्टि और उसके प्रस्तुत विषय-क्षेत्र में है कि 'ज्ञान के प्रस्तुत विषय में ज्ञान के अपने तत्त्व के अतिरिक्त तत्त्व क्या है ?' उदाहरणतः, 'भूतल पर घट' इस विषय के ऐन्द्रिक पक्ष के रूप (वर्ण, काठिन्य, और दैशिक संस्थान आदि) के अतिरिक्त विषय का विनिश्चय या अध्यवसाय तथा दर्शक से उसकी स्वतंत्रता का भाव, ये परिलक्षित होते हैं। इनमें प्रथम दो : रूप और विनिश्चय : दर्शक पर ही निर्भर हैं, और तीसरा : दर्शक से स्वतंत्रता का भाव : विषय की पृथक् सत्ता का संकेतक है। अब इस तीसरे पक्ष को लेकर अनेक उत्तर हैं जिनमें से एक वसबन्धु और बर्कले द्वारा एक-समान दिया गया है; किन्तु पहले दो पक्षों को लेकर भी समानता और भिन्नता हो सकती है, उदाहरणतः, अध्यवसाय की सत्ता और असत्ता तथा अध्यवसाय की अर्थ प्राप्यकता और अप्राप्यकता को लेकर। प्रथम को लेकर भी मतभेद हो सकते हैं; विज्ञप्ति और विज्ञापित के सम्बन्ध को लेकर। बर्कले और वसुबन्धु में दूसरे पक्ष : अध्वसाय : को लेकर प्रायः पूर्ण समानता है कि अध्यवसाय उपचारात्मक है, तीसरे पक्ष को लेकर भी पूर्ण समानता है कि विज्ञप्ति से पृथक विज्ञापित की कोई सत्ता नहीं है, किन्तु प्रथम : विज्ञप्ति और उसके अंतर्गत विज्ञापित रूप-धातु, चेतना-क्रिया और उसकी अन्तर्वस्तु : को लेकर दोनों में आधारभूत मतभेद हैं जो शेष दो पक्षों के सम्बन्ध में भी उनकी दृष्टि को प्रभावित करते हैं। बर्कले विज्ञप्ति और विज्ञापक क्रिया तथा उसकी अन्तर्वस्तु के भेद की ओर कोई ध्यान नहीं देता और आँख मूंद लेने तथा हाथ

हटा लेने में ही घट की अशेषता मान लेता है। माइनांग और हुसर्ल क्रिया और अन्तर्वस्तु में भेद करते हैं और क्रिया को अन्तर्वस्तु की ओर उन्मुख देखते हैं किन्तु वे इन दोनों पक्षों को ही विज्ञान (विज्ञप्ति) मानते हैं। किन्तु वसुबन्धु क्रिया और अन्तर्वस्तु में भेद तथा क्रिया को अन्तर्वस्तुन्मुख देखने के अतिरिक्त इन दोनों को विज्ञान के बाहर (वाह्यार्थ के रूप में) देखता है और इस प्रकार इन्हें विज्ञान पर उपचार मानता है। इसी से बर्कले जबकि वाह्य विषयों को ईश्वर की विज्ञप्तियों की वस्तु के रूप में सत् मानता है और हुसर्ल विषयापेक्षी चेतना के अपेक्षा-पूरकों के रूप में सत् मानता है और इन्हें ही विज्ञान मानता है, वसुबन्धु अपने अनुभवों तक को वाह्यार्थ, अतएव असत, मानता है। इस प्रकार वसुबन्धु के अनुसार मूल विज्ञान रूप-धातु, अरुप-धातु और काम-धातु इन तीन विधाओं में प्रवृत्त होता है, और तीनों विधाएँ वाह्यार्थ-कल्पनाओं को जन्म देती हैं और वर्ण, संस्थान तथा भौतिकत्व तीनों समान रूप से वाह्यार्थ कल्पनाएँ हैं तथा इन कल्पना-विषयों के समान ही कल्पना-प्रवृत्ति भी वाह्यार्थ है। इस प्रकार, बर्कले वाह्यार्थ के निषेध की दृष्टि से तर्क के अन्त तक नहीं पहुँचता जबकि वसुबन्धु पहुँचता है।

किन्तु वसुबन्धु इतना मूलगामी, तार्किक दृष्टि के अधिक पैनेपन के कारण उतना नहीं है जितना विषयज्ञान के प्रश्न को उस समग्र बोध के अन्तर्गत देखने के कारण है जो सत्ता और मूल्य के परमार्थ की थाह लेने की अभीप्सा से प्रेरित है। किन्तु इतना मात्र कहना भी पर्याप्त नहीं है क्योंकि जिन पश्चिमी दार्शनिकों ने इस समग्रता के केन्द्र में अपने को प्रतिष्ठित किया भी उन्होंने भी वसुबन्धु के समान वाह्यार्थ का निषेध नहीं किया। उदाहरण के लिए, हेगल को लिया जा सकता है, जो केवल चैतन्य की ही सत्ता मान सकता है और प्रकृति तथा मूल्य के परमार्थत्व का एक-अखंड परमार्थ तत्त्व में सन्धान करता है। किन्तु वह वाह्यार्थ का उस आधारभूत रूप से निषेध नहीं करता जिस प्रकार वसुबन्धु करता है। इसका कारण मूल सांस्कृतिक अभीप्साओं में अन्तर है। भारतीय संस्कृति में मूल्य व्यक्ति-जीवन के परमार्थ से तादात्म्य में देखा गया है, व्यक्ति-जीवन को औपाधिक और अपरमार्थ तथा परमार्थ को निरूपाधिक रूप से देखा गया है, और क्योंकि मूल्य की स्थिति साध्यता में है इसलिए दर्शन का कार्य साध्य, साधन और साध्योन्मुख या साधक के स्वरूप को समझना माना गया है। यह स्थिति पश्चिम में नहीं है, विशेषतः आधुनिक पश्चिम में। ग्रीस में यह बहुत सीमा तक थी, किन्तु ग्रीस में परमार्थ ही बुद्धि-रूप था - मानवात्मा के रूप में बुद्धि और वस्तु-सत् के रूप में बुद्धि-ग्राह्य धर्म। प्राचीन यूरोप, अथवा कहें ईसाई यूरोप में व्यक्ति और

ईश्वर दोनों ही परमार्थ सत् थे। इसलिए कोई पश्चिमी दार्शनिक वसुबन्धु के समान वाह्यार्थ का निषेध करने में उस सीमा तक नहीं जा सकता था कि वह ग्राह्य-ग्राहक-भाव को ही वाह्यार्थ मान लेता और न उनमें कोई वसुबन्धु के समान विज्ञान से वाह्यार्थ के निवारण को परम साध्य के रूप में प्रस्थापित ही कर सकता था।

वसुबन्धु और बर्कले के समान दिङ्नाग और कांट में भी समानता और भेद हैं जो तार्किक संरचनागत और अभीप्सागत हैं। दिङ्नाग और कांट दोनों अध्यवसाय को विकल्पमूलक आरोप और निर्विकल्पक विज्ञप्ति को स्वलक्षण सत् के साथ अव्यवहित सम्बन्ध में देखते हैं। किन्तु कांट अव्यवहितत्व को साध्य के रूप में नहीं देखता और इस प्रकार विकल्पों को निरास्य के रूप में भी नहीं देखता बल्कि जिस संवेदना को वह निर्विकल्पक रूप में विलक्षण सत् के साथ अव्यवहित सम्बन्ध में देखता है उसी को नैतिक कर्म के संदर्भ में सत् की सिद्धि में बाधक के रूप में भी देखता है। वास्तव में, संवेदना के ये दो विरूद्ध रूप कांट में ज्ञेय और साध्य को परस्पर नितांत असम्बद्ध क्षेत्रों के रूप में देखने के कारण हैं। ये दो विरूद्ध रूप उसमें विकल्प के भी हैं। जो विकल्प ज्ञान-विधा में निर्विकल्पक आत्मा को विषय : प्रकृति : रूप में ग्रहण करता है वही साधनात्मक विधा में उस नियम (*मॉरल लॉ*) का साक्षात्कार करता है जो साधक के लिए साध्य का प्रापक होता है।

इस महान् दार्शनिक में जो यह असामंजस्य है उसका कारण उसकी संरचनात्मक दृष्टि का, उसकी अभीप्सात्मक दृष्टि की तुलना में, कहीं अधिक व्यापकतर और गहनतर होना है। उसकी अभीप्सा-दृष्टि आधुनिक विज्ञान और ईसाई चिन्तन में उभयतः मूलित है और संरचनात्मक दृष्टि ग्रीक, ईसाई और डेकार्टीय इन तीनों में। ईसाई-दर्शन के अनुसार मनुष्य ईश्वर के राज्य में एक व्यक्ति है, जिसकी वैयक्तिक सत्ता अक्षुण्ण किन्तु स्वरूपतः अपूर्ण है, दूसरी ओर उसके पिता के रूप में ईश्वर है, और तीसरी ओर यह जगत् है जो ईश्वर-कृत होने पर भी स्वतन्त्र सत् है। किन्तु कांट की दार्शनिक दृष्टि ने कुछ और देखा, जिसके अनुसार जगत् सत् नहीं होकर विकल्पमूलक प्रतिभास है। सत् विलक्षण और विकल्प के लिए अग्राह्य है। देह, इन्द्रिय और बुद्धि की उपाधियों के निवारण से ही चित्-सत्, जो कि मनुष्य का परमार्थस्वरूप है, साध्य है। यह दृष्टि विषय-ज्ञान और मूल्यान्वेषण की तार्किक संरचना के अवगाहन से उत्पन्न हुई थी। किन्तु इसका सामंजस्य उसकी अभीप्सा-दृष्टि से, जो भौतिक विज्ञान और ईसाई नैतिक बोध में मूलित थी, नहीं हो सकता था। इसी से विकल्प उसके अनुसार निर्विकल्पक पर आरूढ़ होकर यथार्थ जगत् का ग्राहक बनता है, व्यक्ति अपनी

उपाधि के साथ ही अक्षुण्ण हो जाता है और बुद्धि-ग्राह्य, वास्तव में कहना चाहिए बुद्धि-मूलक, नैतिक नियम निरुपाधिक सत् का स्थान प्राप्त कर लेता है। ये तीनों निष्कर्ष अभीप्सामूलक हैं और उसकी संरचनात्मक दृष्टि से समर्थित नहीं होते।[२] कांट की समग्र दार्शनिक दृष्टि में विषय-जगत् का वह महत्त्व नहीं है जो उसके दार्शनिक लेखन में उसे मिला है। न उसमें तत्त्वमीमांसा का निषेध ही समंजस है; यद्यपि यह निषेध उसमें उतना वास्तविक है भी नहीं जितना प्रकट है। किन्तु वह इस प्रकट को इतना महत्त्व देता है कि वह वास्तविक ही प्रतीत होने लगता है। यह असामंजस्य दिङ्नाग में नहीं मिलता, क्योंकि उसकी दार्शनिक संरचना और दार्शनिक अभीप्सा में कांट के दर्शन की सी विसंगति या असामंजस्य नहीं है। सत् उसके लिए विलक्षण, अथवा कहें निरूपाधिक है। विज्ञानवादियों के समान वह सत् को उसकी विज्ञप्ति में अन्तभूर्त नहीं करता। यह विलक्षण सत् निरूपाधिक ज्ञान के लिए ही साक्षात्कार्य हो सकता है। विकल्प खण्ड-ग्राही और द्वन्द्वात्मक है, परिणामतः औपाधिक है, इसलिए वह सत् का प्रापक नहीं हो सकता और परिणामतः वह निरास्य है। क्योंकि, यदि सत् का ज्ञान या सिद्धि ही मूल्य नहीं है तो और मूल्य क्या हो सकता है ? और यदि ज्ञान और सत् दोनों विलक्षण हैं तब आत्मा, ईश्वर, ब्रह्म आदि सब औपचारिक हैं। ऐसे में व्यक्तित्व, नैतिक नियम आदि के लिए तो स्थान ही कहाँ रह जाता है ? सो, दिङ्नाग की दार्शनिक दृष्टि और दार्शनिक अभीप्सा में पूर्ण सामंजस्य दिखायी देता है। वह निर्ममता से सत् को अनभिलाप्य और सभी अभिलाप्यों को असत् घोषित कर देता है और इस दार्शनिक संरचना-मूलक दृष्टि के अनुरूप निर्वाण (वैयक्तिकता की सभी उपाधियों के निर्वापण) को दार्शनिक अभीप्सा बनाता है। कांट में सत् पूर्णतः निरूपाधिक (स्वलक्षण तत्त्वमात्र) स्वीकृत होने पर भी व्यक्तित्त्वोपाधि पारमार्थिक सत् के रूप में स्वीकृत है, जैसाकि हम पीछे देख आये हैं।

यहाँ हमने दो तुलनाओं के क्रम में दो दार्शनिक संरचनाओं में कुछ आधारभूत समानताएँ किन्तु दार्शनिक अभीप्साओं में आधारभूत भेद देखे। इन भेदों के कारण ये संरचनाएँ कितने भिन्न व्यक्तित्त्व ग्रहण करती हैं यह वसुबन्धु और बर्कले के दार्शनिक कृतित्व को देख कर सहज ही जाना जा सकता है।

यहाँ हम एक और उदाहरण के रूप में डेकार्टीय द्वैतवाद तथा सांख्यीय द्वैतवाद को और प्रकृति-विषयक शांकर तथा कांटीय दृष्टियों को देखेंगे।

डेकार्ट चैतन्य को स्वप्रकाशक (*सेल्फ कांश्यस*)-रूप में देखता है, जबकि सांख्य प्रकाश-रूप में। सांख्य के लिए चैतन्य का स्वप्रकाशन औपाधिक है और यह उपाधि,

अन्य किसी भी उपाधि के समान, प्रकृति-मूलक है। शंकर के लिए भी चैतन्य प्रकाशात्मक ही है और स्वप्रकाशकता, उसके अनुसार भी, औपाधिक है किन्तु उसमें सांख्य से भिन्न चैतन्य (ब्रह्म) इस तथा अन्य सभी उपाधियों को अपने संकल्प से क्रियान्वित करता है। यहाँ द्रष्टव्य है कि शांकर संकल्प-शक्ति शैव संकल्प-शक्ति के समान वास्तव नहीं है किन्तु यहाँ यह अंतर उपेक्षणीय है। यहाँ शंकर की डेकार्ट से एक अत्यन्त क्षीण समानता किन्तु महत्वपूर्ण भेद देखा जा सकता है। डेकार्ट के समान ही शंकर में चैतन्य की स्वप्रकाशकता आत्म-प्रत्यय के रूप में आत्म-क्रियान्विति है, किन्तु इस समानता के नीचे इनमें सभी आधारभूत संरचनात्मक असमानताएँ हैं, जैसे, डेकार्ट के लिए स्वप्रकाशन प्रत्यङ्मुख व्यापार है जबकि शंकर के लिए यह पराङ्मुख व्यापार है। यहाँ शंकर की सांख्य से यह अनुरूपता है कि दोनों में यह समान रूप से अविद्यामूलक उपाधि है किन्तु सांख्य और शंकर में यह अन्तर है कि सांख्य के लिए उपाधि स्वतंत्र सत्तामूलक है जबकि शंकर के लिए यह चैतन्यमूलक ही है। इस प्रकार इन दो भारतीय दर्शनों में संरचनात्मक भेद मौलिक नहीं है, केवल ऊपरी : दोनों में स्वप्रकाशन बहिरून्मुख व्यापार के रूप में कल्पित होने से : है जबकि इन दोनों में और डेकार्ट में मौलिक अन्तर है क्योंकि डेकार्ट में यह व्यापार ही प्रत्यङ्मुख रूप में कल्पित है। दूसरा अन्तर यह है कि डेकार्ट के लिए यह अहं-बोध मौलिक है, जबकि सांख्य और वेदान्त के लिए यह उपाधि, अवगुंठन, अवरोध, अहंकारावरण है। वास्तव में, डेकार्ट में, या पश्चिमी दर्शन मात्र में, इस उपाधि की अवधारणा ही नहीं है, जबकि सांख्य और वेदांत के लिए यह अवधारणा मौलिक है। अवश्य डेकार्ट ईश्वर-चैतन्य को भी मानता है किन्तु वास्तव में वह भी निरूपाधिक नहीं है, और दूसरे, उसमें व्यक्ति-चैतन्य स्वतंत्र सत्ताएँ हैं।

डेकार्ट के लिए चैतन्य का स्वरूप, ग्रीक दार्शनिकों के समान ही, बुद्धि है। यह चैतन्य सत् है, किन्तु निर्विकार रूप में नहीं, बल्कि विकारी रूप में : 'सन्देह करता हूँ' के अव्यवहितत्व के रूप में। किन्तु यह विकार : विचार : सत्य होने के लिए अन्य सत् का अपेक्षी है। जिसका अर्थ है कि चैतन्य भाव तो है[३] किन्तु सत् (*रियलिटी*) नहीं है। सत् वह प्रकृति है जो इसे सत्यापित करती हैं। किन्तु यहाँ हम इस प्रसंग में नहीं जायेंगे। यहाँ द्रष्टव्य यह है कि डेकार्ट के लिए प्रकृति उस विचार के सत्य का आलम्बन है जिसकी अन्तर्वस्तु विस्तार-प्रत्यय (*आइडिया ऑफ एक्स्टेंशन*) है, जबकि सांख्य के लिए विकार, विचार का अव्यवहितत्व, विचार की अन्तर्वस्तु और उसके सत्य की आलम्बनभूत वस्तु सब प्रकृति है। इसी से सांख्य पराबुद्धि, अहंकार, अहंकारावृत बुद्धि,

अन्तःकरण, इन्द्रिय, तन्मात्र और महाभूत सबको प्रकृति मानता है। यह द्रष्टव्य है कि यहाँ महाभूत भी भौतिक द्रव्य नहीं हैं बल्कि आत्मोपाधि विशेष का परिणाम हैं। परिणामी वही प्रकृति है जो बुद्धि आदि का भी उपादान है जबकि चैतन्य नित्य अपरिणामी है।

जैसाकि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है, इन दो दार्शनिक दृष्टियों में मौलिक भेद है। यह भेद संरचना और अभीप्सा दोनों में है। संरचनात्मक प्रसंग में दोनों समान रूप से ज्ञाता और विषय को एक-दूसरे में अन्तर्भाव्य नहीं मानते। किन्तु डेकार्ट से भिन्न सांख्य ज्ञान के लिए क्रिया और प्रयत्न को विषय पक्ष में रखता है, परिणामतः ज्ञान को भी विषय के अन्तर्गत ही रखता है, जबकि डेकार्ट ज्ञान को क्रिया और प्रयत्न को ज्ञान में रखता है और परिणामतः ज्ञान को ज्ञाता में मानता है। अभीप्सा के प्रसंग में, दोनों में मनुष्य का स्वरूप अनुसंधेय है। सांख्य इसका यह स्वरूप मूल्यान्वेषण के परम अन्वेष्य (मोक्ष) में देखता है और उसके प्राप्त रूप को विपर्यास मानता है, डेकार्ट उसका स्वरूप लोक के ज्ञान और परलोक-संग्रह में यत्नशील के रूप में देखता है। इसी से डेकार्ट द्वैतवादी इसलिए है कि वह चेतना को एक अन्य सत् का अवलंबन देना चाहता है और सांख्य इसलिए क्योंकि वह चैतन्य को पूर्णतः स्वरूप-विश्रान्त देखना चाहता है।

दो भिन्न संस्कृतियों में मूलित कुछ मुख्य दर्शनों की तुलना के बाद अब हम एक ही संस्कृति में मूलित दर्शनों में तुलना के दो-एक उदाहरण देखेंगे। इसके लिए प्रथम हम शून्यवाद, सांख्य और शांकर वेदान्त को लेंगे। इन तीनों की दार्शनिक अभीप्सा परम अन्वेष्य का सन्धान है और तीनों की दार्शनिक दृष्टि समान रूप से मनुष्य को संसार में आत्म-बहिष्कृत देखती है और इसके इस आत्म-विलगाव या प्रवास (*सेल्फ एलिअनेशन*) को अविवेक-जन्य, अध्यास-रूप मानती है। ये तीनों प्रवास-जन्य दुःख से मुक्ति (अथवा कहें, परमार्थ की उपलब्धि) को भी सम्भव मानते हैं। ऐसी परिस्थिति में इनमें भेद केवल संरचनात्मक रह जाता है। सांख्य और शंकर दोनों परमार्थ को निरूपाधिक, अविकल चित्-सत् के रूप में देखते हैं किन्तु शंकर इसे आनन्द-स्वरूप भी देखते हैं जबकि सांख्य और नागार्जुन ऐसा नहीं देखते। वास्तव में, नागार्जुन इसे चित् भी नहीं कहना चाहते क्योंकि यह भी उसका निरूपण ही हुआ। उदाहरण के लिए, वह *माध्यमिक कारिका* में तथागत के लिए कहते हैं कि "जो बुद्ध को प्रपंचातीत तथा अव्यय प्रपंचित करते हैं वे प्रपंच से ही विमूढ़ है, वे तथागत को नहीं जानते। तथागत का वही स्वभाव है जो जगत् का। दोनों ही निःस्वभाव हैं।"[४] इसी प्रकार वह निर्वाण

के लिए कहते हैं कि, "निर्वाण न भाव है न अभाव। उत्पति-निरोध का सापेक्ष क्रम संसार कहा जाता है। उसी की निरपेक्षतया अप्रवृत्ति को निर्वाण कहते हैं। संसार और निर्वाण में किसी प्रकार का भेद नहीं है। परमार्थ समस्त उपालम्भ एवं प्रपंच का उपशय है।"[५] किन्तु यह भेद रहते हुए भी इन तीनों में यह भेद मौलिक नहीं है, क्योंकि जिसे नागार्जुन अपरमार्थ कह रहे हैं और इसी प्रकार जिसे वे परमार्थ कह रहे हैं उसे ही शंकर और सांख्य भी यही कहते हैं किन्तु जगत् को लेकर तीनों में संरचनात्मक अन्तर है। प्रथम, इस अन्तर को यदि हम आत्म-विलगाव की पदावली में देखें तो सांख्य और नार्गाजुन दोनों मनुष्य को परमार्थतः प्रवासित नहीं देखते क्योंकि नागार्जुन के अनुसार समस्त उपालंभ और प्रपंच निःस्वभाव है और सांख्य के अनुसार इतर, अर्थात् प्रकृतिमूलक है। किन्तु शंकर इसे आत्म-प्रवास के रूप में देखते हैं क्योंकि उनके अनुसार परमार्थ-तत्त्व ही विवर्त के द्वारा जगत् (मनुष्य की जगतिकता) है। किन्तु सांख्य और नागार्जुन भी मनुष्य को किसी प्रकार आत्म-प्रवासित देखते ही हैं। अन्तर यह है कि यह आत्म-प्रवास पारमार्थिक नहीं हैं क्योंकि इनमें विवर्त या परिणाम मनुष्य के परमार्थ सत् को स्पर्श नहीं करता। किन्तु तब इनसे प्रश्न होगा कि इस प्रवास की कारणभूत अविद्या साधिष्ठान है या कि निरधिष्ठान ? नागार्जुन का उत्तर है कि यह निरधिष्ठान है, सांख्य का उत्तर है कि इसका अधिष्ठान अचित् में, अपरमार्थ सत्[६] में है। किन्तु इस सम्बन्ध में शंकर का उत्तर अस्पष्ट है क्योंकि वह एक ओर इसका अधिष्ठान ब्रह्म में मानते हैं और दूसरी ओर इसे मात्र व्यवहार और परमार्थ-शून्यता भी मानते हैं। इस प्रकार इन तीनों दर्शनों की संरचनाओं के मूल घटक मानव, जगत्, उसका अधिष्ठान और उसका परमार्थ हैं। संरचनात्मक दृष्टि से इन दर्शनों की, और आगे भी, तुलना की जा सकती है जो रोचक भी होगी, किन्तु यहाँ हम उसके विस्तार में नहीं जाएंगे। यहाँ हम केवल इनके कारणता-सिद्धान्तों का उल्लेख करेंगे : शंकर और सांख्य सत्कार्यवादी हैं किन्तु इनमें प्रथम विवर्तवादी और दूसरा परिणामवादी है। इनमें यह अन्तर इनके अविद्या के अधिष्ठान के सिद्धान्तों में अन्तर से सम्बन्धित है। यद्यपि कार्य के कारण में लय को सांख्य भी स्वीकार करता है और यह परिणामवाद से संगत नहीं है किन्तु जगत् को अचित् में अधिष्ठित देखने के कारण सांख्य इसे अपेक्षाकृत अधिक स्वरूपवान् या भाव-रूप मानने में उतना नहीं झिझकता जितना शंकर और नागार्जुन झिझकते हैं। नागार्जुन परिणाम या विवर्त किसी को स्वीकार नहीं करते, वे केवल जगत् में कारणता देखते हैं जो सत् और असत् कार्यवाद दोनों से भिन्न जगत् की निःस्वभावना का ही द्योतक हैं। इस प्रकार इन तीनों दर्शनों में संरचनात्मक

अन्तर है जो इनके जगत्-विषयक विचार में संरचनात्मक अन्तर से सम्बन्धित है।

इस प्रकार हमने समान अभीप्सा पर आधारित तीन दर्शन-सम्प्रदायों में संरचनात्मक सम्बन्ध को देखा। जैसा कि हमने देखा, इनमें कुछ संरचनात्मक समानताएँ हैं और कुछ भेद हैं किन्तु यह देखना कठिन नहीं है कि ये भेद एक ही परत के नीचे जाकर समान आधार पर प्रतिष्ठित दिखाई देते हैं।

किन्तु एक ही सांस्कृतिक परम्परा में अभीप्सात्मक और संरचनात्मक दोनों दृष्टियों के भिन्न दर्शन-प्रस्थान भी हो सकते हैं, जैसे शून्यवाद और मीमांसा, या वेदांत और चार्वाक। किन्तु यहाँ हमारा प्रसंग यह देखना नहीं है कि क्या विभिन्न दार्शनिक अभीप्साएँ एक ओर, और विभिन्न दार्शनिक संरचनाएँ दूसरी ओर, क्रमशः किसी आधारभूत अभीप्सा और एक आधारभूत संरचना को लक्षित करती हैं ?

ऊपर हमने कुछ दार्शनिक प्रयत्नों की प्रेरक अभीप्साओं और उनकी तार्किक संरचनाओं का अवलोकन किया। जैसाकि हमने आरम्भ में कहा था, तुलनात्मक दर्शन का कार्य विभिन्न दार्शनिक प्रयत्नों या प्रस्थापनाओं में रूपैक्य खोजना नहीं बल्कि विलक्षणताओं और भेदों को, एक आधार से अनेक रूप लेते, देखना है। यहाँ उदाहरणार्थ लिये गए सभी दर्शनों में अभीप्सा मनुष्य के तत्त्व का सन्धान है, किन्तु वास्तव में यह अभीप्सा दार्शनिक प्रयत्न मात्र की मूल प्रेरक कही जा सकती है जो विभिन्न संस्कृतियों के दर्शनों में, और कभी-कभी एक ही संस्कृति के विभिन्न प्रस्थानों में, विभिन्न प्रकार से अवधारित होती है। ऊपर आलोचित भारतीय दर्शनों में यह अभीप्सा मनुष्य के तत्त्व, उसके स्वरूप को उसके प्राप्त लौकिक अस्तित्व के परे देखती है। ठीक यही दृष्टि ग्रीस की भी है, विशेषतः सुकरात, प्लेटो और अरस्तु की। किन्तु लोक के इस अतिक्रमण में भारतीय दृष्टि पर्यन्तता तक पहुँच कर ही विश्राम लेती है और इस प्रकार उस सबको अनात्म, व्यवधान और आवरण मान कर छोड़ देती है जो किसी भी प्रकार आगन्तुक और औपाधिक कल्पित किया जा सकता है। इसमें ये दर्शन स्वयं अभीप्सा, आत्मा और परमार्थबोध तक को उपाधि कह कर त्याग देते हैं। आलोचित पाश्चात्य दर्शनों में भी यह अभीप्सा लोकोत्तर-मुखी ही अधिक है किन्तु वह पर्यन्तगामिनी नहीं है। कांट अपनी ज्ञानमीमांसा में केवल जगत् ज्ञान को ही अनुसन्धेय मानते हैं और कर्ममीमांसा में जिस तत्त्व को साध्य मानते हैं वह मानव का परमार्थ ही है। इस परमार्थ की साधना के प्रसंग में मनुष्य का वह सम्पूर्ण अस्तित्व (दैहिक-ऐन्द्रिक अस्तित्व) अनात्म में रूपान्तरित हो जाता है जो ज्ञान के सन्दर्भ में उपादान-भूत है। इसी प्रकार डेकार्ट में भी उसके दर्शन की अभीप्सा भी मनुष्य के परमार्थ का सन्धान ही है। वह ज्ञान के असन्दिग्ध आधार की खोज में हनुमानजी के समान अस्तित्व के उन सारे मनकों

को अप्रमाणिक कह कर फेंक देता है जिसमें आत्मा की छवि नहीं है, और तब स्वयं इस आत्मा को भी अपूर्ण पाकर उसे ईश्वर के सम्मुख समर्पित कर देता है। किन्तु जैसाकि हमने पीछे देखा, ये दोनों दार्शनिक वैयक्तिक अस्तित्व की मूल उपाधि का परित्याग नहीं कर पाते। यद्यपि इस अभीप्सा के सन्धान की यात्रा में ये पर्यन्तता मनुष्य के आगे ईश्वर को ही मानते हैं किन्तु तब भी इन दो अभीप्साओं में अन्तर स्पष्ट है। वास्तव में, पश्चिमी संस्कृति में मनुष्य के प्रस्तुत रूप का आकर्षण इतना अधिक है कि वह सत्ता का ही मानदण्ड बन जाता है, जबकि भारतीय संस्कृति उसके प्रस्तुत रूप को कोई महत्व नहीं देती और उसे कर्म-भोग के प्रसंग में सम्पूर्ण जीव-सृष्टि के साथ और कर्तृत्व के प्रसंग में निरूपाधिक परम सत् के साथ एकाकार कर देती है। किन्तु यदि उपर्युक्त तीन पाश्चात्य दर्शन-प्रस्थानों की इस दृष्टि से तुलना आधुनिक आंग्ल-अमरीकी दर्शन-संप्रदायों : तार्किक प्रत्यक्षवाद और लोक-भाषा-विश्लेषणवाद : से करें तो इन दो वर्गों की दार्शनिक अभीप्साओं में और अधिक अंतर प्रतीत होगा। वास्तव में, प्रथम दृष्टि से तो यही प्रतीत होता है कि इन दर्शन-सम्प्रदायों में 'अभीप्सा' शब्द के प्रयोग का ही कोई औचित्य नहीं है, ये संप्रदाय अभीप्सा जैसी वस्तु को दर्शन के लिए नितांत अवांछनीय मानते हैं। बट्रेण्ड रसल 'ज्ञान के लिए ज्ञान' को ही दर्शन का कर्तृत्व मानते हैं और यह ज्ञान उनके अनुसार संवेदन से सत्यापनीय बौद्धिक व्यवस्था मात्र है। तब मनुष्य को सुख-दु:ख, नीति-अनीति, अभ्युदय-नि:श्रेयस् का क्या स्थान होगा ? इसके लिए उसका उत्तर है कि दर्शन के लिए ये भी उपर्युक्त प्रकार के ज्ञान के विषयों के रूप में परीक्ष्य होकर ही प्रासंगिक हो सकते हैं, अन्यथा नहीं, और दर्शन को पूर्णत: निर्मम होकर सुख, नीति और नि:श्रेयस् का विचार छोड़कर इनकी आनुभविक परीक्षा में प्रवृत्त होना चाहिए। दर्शन के सम्बन्ध में रसल की यह स्थापना आधुनिक अनुभववादी दर्शन की प्रतिनिधि स्थापना कही जा सकती है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि यह दर्शन-सम्प्रदाय अभीप्सा-शून्य है। इसकी अभीप्सा सत्य है जिसका मानदंड वैज्ञानिक ज्ञान है। किन्तु इस सम्प्रदाय के उप-संप्रदायों और इनके विभिन्न दार्शनिकों में अभीप्सा की दृष्टि से पर्याप्त अन्तर भी है। इनमें एक ओर मूर, रसल, हेयर आदि हैं तो दूसरी ओर कार्नप, न्यूराथ, श्लिक, राइल और स्टीवेंसन आदि हैं। इनमें प्रथम वर्ग के दार्शनिक उतने भौतिकवादी-वैज्ञानिकतावादी नहीं हैं जितने दूसरे वर्ग के किन्तु तब भी इनमें अन्तर मौलिक नहीं है। अधिकांश में भेद प्राविधिक ही है क्योंकि इन दोनों वर्गों के दार्शनिकों के लिए परमार्थ संवेद ग्राह्य ही है।

किन्तु इस दर्शन-सम्प्रदाय का उपर्युक्त पाँच सम्प्रदायों से अभीप्सा की दृष्टि से अन्तर यह नहीं है कि इसके लिए मनुष्य के परमार्थ का सन्धान अभीप्सित नहीं

है बल्कि यह है कि यह दर्शन इस परमार्थ का स्वरूप उपर्युक्त दर्शनों से भिन्न देखता है। उदाहरण के लिए, अपने लेख 'राजनीति और दर्शन'[७] में बट्रेण्ड रसल प्लेटो, हेगल आदि की आलोचना इस आधार पर करते हैं कि उनकी दर्शन-व्यवस्थाओं में मनुष्य और समाज का जो रूप उभरता है उसमें समाज व्यक्ति-स्वातंत्र्य की साधक-व्यवस्था के रूप में नहीं रहकर व्यक्ति के ऊपर एक स्वतंत्र और उससे अधिक मूल्यवान् व्यवस्था हो जाता है। दूसरे शब्दों में, रसल के अनुसार, प्लेटो और हेगल के दर्शन-सिद्धान्तों की असत्यापक कसौटी यह है कि इनके सिद्धान्त समाज और राजनीति की समग्रतावादी (*टोटेलिटेरियन*) व्यवस्था के उपकारक हैं और इसके विपरीत उसका सिद्धान्त सामाजिक व्यवस्था को व्यक्ति की अपनी इच्छाओं के साधक-उपकरण के रूप में रखता है। इस प्रकार, रसल के अनुसार, परमार्थ का अनुसंधान वास्तव में मनुष्य के परमार्थ से पृथक नहीं है और दर्शन के लिए उसी का अन्वेषण अभीप्सित है।[८]

यहाँ सन्देह हो सकता है कि कुछ दार्शनिक प्रयत्नों या कृतियों में यह अभीप्सा स्पष्ट दृष्टिगोचर नहीं होती, जैसे कार्नप, श्लिक या क्वाईन में, किन्तु इस आधार पर उनकी कृतियों को कम दार्शनिक नहीं कहा जा सकता। इसके उत्तर में हम कहना चाहेंगे कि कोई कृति दर्शन के रूप में परिभाषित अभीप्सा से नहीं होती बल्कि संरचना से होती है। उदाहरण के लिए, 'प्रतिज्ञप्ति क्या है' इस पर विचार दार्शनिक होगा किन्तु इस विचार का अभीप्सित उसमें प्रत्यक्ष लक्षित नहीं होगा। किन्तु ऐसी कृतियाँ तब पूर्ण दर्शन नहीं कही जा सकतीं, केवल दार्शनिक प्रयत्न का अंग ही कही जा सकती हैं। हमारे प्रतिपादन पर दूसरी आपत्ति यह हो सकती है कि 'दार्शनिक अभीप्सा मनुष्य के तत्त्व या परमार्थ का संधान नहीं होकर तत्त्वमात्र या परमार्थमात्र का संधान हो सकती है। प्रथम दार्शनिक विस्मय अपने अस्तित्व के साक्षात्कार पर नहीं, विराट् विश्व के साक्षात्कार पर हुआ होगा। प्लेटो ने तत्त्वमीमांसा को 'आत्मा द्वारा परात्पर ज्योति के साक्षात्कार के लिए आकुल उड़ान कहा है।' किन्तु यह आपत्ति उचित नहीं है। जैसाकि हम आगे देखेंगे, यह विस्मय तब तक दार्शनिक स्तर पर नहीं उठता जब तक विराट् पर विस्मय से अभिभूत आत्मा का साक्षात्कार लक्षित नहीं होता। कांट जब ऊपर तारांकित नभ की प्रशांत विराटता में अपने प्रातिभासिक अस्तित्व की नगण्यता से अभिभूत होता है तब उसका विस्मय तत्वमीमांसीय स्तर ग्रहण करता है। किन्तु तब वह केवल काव्यात्मक विस्मय ही रहता यदि वह अपने को विस्मय की अनुभूति तक ही सीमित रखता। इसके दार्शनिक विस्मय के स्तर पर उठने के लिए इसका आत्म-विषयक तटस्थ बोध में प्रतिष्ठित होना आवश्यक है।

अभीप्सा विषयक यह निष्कर्ष दार्शनिक संरचना से सम्बन्धित है जिसका वैशिष्ट्य इसे एक ओर ललित कलाओं से और दूसरी ओर विज्ञान से पृथक् करता है। दर्शन वास्तव में अपनी संरचना में ही नहीं अभीप्सा में भी इन दोनों से भिन्न है। वैज्ञानिक अभीप्सा द्विमुखीन है। अपने उदात्त रूप में यह विषयगत तत्त्व का अवगमन है और लौकिक रूप में, जो कि इसका आदिम रूप है, यह विषय का उपयोगात्मक नियोजन है, और कलाएँ रागात्मक विषयित्व का विमर्श-वृत्ति के माध्यम से उत्तानीकरण। दर्शन इनके विपरीत सब वृत्तियों को प्रेक्षकत्व में उपसंहृत कर इस प्रेक्षकत्व के अवगमन की अभीप्सा करता है। मानव के स्वरूपावगमन का यही अर्थ है। इस कथन की सत्यता इस बात से देखी जा सकती है कि दर्शन चेतना की अन्य सभी विधाओं का अपनी चर्या में अन्तर्भाव करता है। इस चर्या के अनुरूप ही इसकी आदिम संरचना है। यह आदिम संरचना है ज्ञान का आत्मोन्मुख (प्रत्यङ्मुख) उत्क्रमण। उदाहरण के लिए, तार्किक प्रत्यक्षवाद को लें, जिसके दार्शनिकों को प्रकटत: इस प्रकार के शब्दों से एलर्जी है। वे दर्शन का कार्य विज्ञान की प्रतिज्ञप्तियों का विश्लेषण-विवेचन मानते हैं। विट्गेन्स्टाइन के अनुसार दर्शन दार्शनिक प्रतिज्ञप्तियों का संकलन नहीं है[९] क्योंकि उनके अनुसार ऐसी कोई प्रतिज्ञप्तियाँ हैं ही नहीं। प्रतिज्ञप्तियाँ उनके अनुसार, विषय-जगत्-मूलक आख्यानों से सम्बन्धित हैं। दर्शन का कार्य केवल इन प्रतिज्ञप्तियों का स्पष्टीकरण करना है।[१०] कार्नप ने इसी दृष्टि को आगे भाषा के *मैटीरियल मोड* (विषयोन्मुख व्यवसाय) और *फॉर्मल मोड* (आकारोन्मुख व्यवसाय) में भेद के रूप में विकसित किया और दार्शनिक प्रतिपादनों को भाषा का आकारोन्मुख व्यवसाय कहा। भाषा के अतिक्रामी स्तरों (*लेयर्स ऑफ मैटा-लेंग्वेजेज़*) की अनन्त श्रृंखला-विषयक यह दृष्टि वास्तव में आत्मोन्मुख चैतन्य-परक दृष्टि ही है और कुछ नहीं; किन्तु विट्गेन्स्टाइन और प्रत्यक्षवादी इसे चैतन्य की बुद्धि-वृत्ति के रूप में नहीं देखकर भाषागत आकारों के रूप में ही देखते हैं। किन्तु यह केवल पूर्वाग्रह है। वास्तव में, इस प्रकार दर्शन की प्रत्यङ्मुख प्रकृति का निरुपण जितना स्पष्ट रूप से तार्किक प्रत्यक्षवादियों ने किया उतना अन्य किसी ने कम ही किया होगा। इसका एक कारण यह भी है कि दर्शन के स्वरूप पर पहले कभी इस आग्रह के साथ विचार नहीं किया गया (यद्यपि इसका कारण यह था कि ये लोग अपने भौतिक विज्ञानाग्रह के कारण दर्शन के कार्य के प्रति संदिग्ध-चित्त थे और इस क्रम में उन्होंने इसके लिए एक कार्य खोजा जो, उनके विचार में, विज्ञान की चाकरी का था)। जो भी हो, यहाँ हमारे लिए द्रष्टव्य यह है कि विभिन्न दार्शनिक प्रयत्नों के रूप और मुद्राएँ क्या वास्तव में इस संरचना की ओर अपने निदर्श (मॉडल) के रूप में संकेत करती हैं? इसके लिए हम हॉब्स के

इस कथन को कि 'पत्थर का अस्तित्व है या नहीं, यह उसे ठोकर मार कर देखा जा सकता है' और मूर के इस कथन कि 'यह मेरा दायाँ हाथ है और यह बायाँ हाथ, इसलिए यह सिद्ध है कि वाह्य विषयों का अस्तित्व है' को उदाहरण रूप में लेंगे। ये दार्शनिक प्रयत्न गोएटे के उन पौधों का स्मरण दिलाते हैं जिनके पत्ते या तने अपनी अभिवृद्धि के क्रम में बाधित होने से अपने आदर्श आकार को सिद्ध नहीं कर पाते। किन्तु ये कथन यदि दार्शनिक विचार के उदाहरण हैं तो इनमें उसी आधारभूत नियोजक दार्शनिक नियम को अवरूद्ध और विकृत होते दिखायी देना चाहिए जो प्लेटो या कांट में, अथवा नागार्जुन और वसुबन्धु में, स्वस्थ रूप में विकासमान दिखायी देता है। यह बहुत सरलता से देखा जा सकता है। हॉब्स और मूर की ये प्रतिज्ञप्तियाँ तर्कत: डेकार्ट की इस प्रतिज्ञप्ति के अनुरूप हैं कि 'मैं सन्देह कर रहा हूँ', यह असन्दिग्ध है, और इसी से, 'मैं हूँ' यह भी असंदिग्ध है। इन तीनों प्रस्थापनाओं में सत्ता का स्वरूप सन्देह-दृष्टि में सन्निविष्ट है और उसी दृष्टि के अन्तर्गत स्वप्रकाश-मूलक असन्दिग्धता के मार्ग से पुन: अधिगत है : हॉब्स को सन्देह है कि क्या वाह्य विषयों का अस्तित्व है ? इसके उत्तर के लिए वह वाह्य विषय की अवधारणा की ओर लौटता है और पाता है कि संवेदन-मूलक ज्ञान-वृत्ति अपने अस्तित्व के साथ अपने से लक्षित के अस्तित्व के लिए भी प्रमाण है। रसल बर्कले का अनुसरण करते हुए हॉब्स द्वारा संवेदन से संवेद्य के अस्तित्व को स्वत:प्रमाण मानने को अयुक्त कहता है। इनमें कौन युक्त है, या कोई भी युक्त है या नहीं, इस पर यहाँ विचार प्रासंगिक नहीं होगा, किन्तु रसल की इस आपत्ति से यह स्पष्ट है कि ये दोनों दार्शनिक पत्थर पर या पत्थर की भौतिक वस्तुता पर विचार नहीं करके ज्ञान के प्रामाण्य पर विचार कर रहे हैं और इसमें किसी असन्दिग्ध आधार को भी अस्पष्टत: स्वीकार कर रहे हैं। केवल हॉब्स और मूर यहाँ रसल की अपेक्षा इस सम्बन्ध में कम स्पष्ट हैं। इस प्रकार बोध की न्यूनता केवल इन दार्शनिकों में ही नहीं मिलती है, अन्य बहुत से दार्शनिकों में भी देखी जा सकती है। किन्तु जिन दार्शनिकों में इस प्रकार का भ्रम नहीं है उनमें भी अपनी दृष्टि के प्रकाश-पथ से स्खलन अनेक स्थलों पर देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए, डेकार्ट चैतन्य की प्रत्यङ्मुख साक्षात्कार-मूलक आत्म-प्रतिष्ठा को मनस्-द्रव्य के अस्तित्व का पर्याय समझ लेता है और तब भौतिक द्रव्य से उसके सम्बन्ध पर ऐसे विचार करता है मानो दोनों भौतिक वस्तुएँ हों, और इस तरह उन्हें *पीनियल ग्लैंड* में संपर्क में आते देखता है। वास्तव में, दार्शनिक विचार के लिए द्रव्य की कोटि ही अयुक्त है क्योंकि यह प्राय: ही अपारदर्शी ग्रन्थि का रूप लेने लगती है। इसी प्रकार सांख्य-दार्शनिक पुरूष को स्वरूप-विश्रान्त चैतन्य और प्रकृति को पुरुष-निमित्त जड़ क्रियात्मकता के रूप में

मानकर इस दृष्टि के अनुकूल पदावली का आविष्कार करने में असमर्थ रहकर रूपकात्मक भाषा का सहारा लेते हैं। किन्तु तब से वे बहुत बार यह भूलते दिखाई देते हैं कि वे रूपकों का प्रयोग कर रहे हैं।

संक्षेप में, दर्शन की आदिम आधार-संरचना विचारात्मक चैतन्य की प्रत्यङ्मुख वृत्ति है जो सामान्यतम प्रत्यय के माध्यम से अवधारण या ग्रहण करती है।

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि यह आदिम संरचना और अभीप्सा विभिन्न सम्प्रदायों में बहुत भिन्न-भिन्न रूपों में अभिव्यक्त हुई है और संरचनाओं के रूपों में ये भेद एक सीमा तक अभीप्सा के अवधारण में भेद के अनुगामी रहे हैं : कुछ सीमा तक अपनी दृष्टि के आशय के ग्रहण में भेद के और कुछ सीमा तक सांस्कृतिक स्वभाव-जन्य भेद के। उदाहरण के लिए, प्लेटो के *पार्मेनाइडीज़* और नागार्जुन की *विग्रह-व्यावर्तनी* दोनों में वस्तु-स्वभाव की द्वन्द्वात्मकता का बोध लक्षित होता है। इस प्रकार ये दो दार्शनिक अपनी संरचनात्मक दृष्टियों में एक बिन्दु पर पहुँचते प्रतीत होते हैं। किन्तु इनमें उपर्युक्त तीनों दृष्टियों से एक गंभीर अन्तर है जिससे इनकी कृतियों के रूप भी बहुत भिन्न हो गए हैं। यह रूप-भेद इस बात में नहीं है कि प्लेटो संवाद-रूप में और नागार्जुन कारिका-रूप में बात कहते हैं बल्कि यह है कि प्लेटो विकल्प-द्वन्द्व को भाव के दो पक्षों के रूप में देखते हैं और नागार्जुन विकल्प-द्वन्द्व को निःस्वभावता-सूचक देखते हैं। इसके अतिरिक्त कि इनके द्वारा तर्क, प्रमाण आदि उपकरणों के महत्व और इनकी प्रयोग-विधियों में अन्तर है। तुलनात्मक दार्शनिक अध्ययन का कार्य वास्तव में यही है कि वह देखे कि दो संस्कृतियों की दार्शनिक दृष्टियों अथवा दो संस्कृतियों के दार्शनिकों की दार्शनिक दृष्टियों में आदिम संरचना तथा आदिम अभीप्सा की अभिव्यक्तियाँ किस प्रकार परस्पर भिन्न हो रहीं हैं। इसके विपरीत, हमारे यहाँ जो तुलनात्मक अध्ययन किये गए हैं उनमें किसी भारतीय दार्शनिक को किसी पाश्चात्य दार्शनिक के अनुरूप देखने का प्रयत्न किया गया है, जिसका कोई अर्थ नहीं है। वास्तव में, दो संस्कृतियों में प्रतिष्ठित दो दार्शनिकों में बहुत गम्भीर अन्तर रहते हैं, जिसके कुछ उदाहरण हमने पीछे प्रस्तुत किये हैं। इस प्रकार का अध्ययन करने की सर्वोत्तम विधि दूसरी है और वह यह है कि एक संस्कृति में निष्णात् दार्शनिक दूसरी संस्कृति के दार्शनिक के मूल अवधारण (निरूपण), या कहें मूल प्रत्यय के अन्तर्गर्भ में अपने को प्रतिष्ठित कर उसको ग्रहण करें और उस ग्रहण के उन अन्य आयामों और अन्य संभावनाओं का अवगाहन करने का प्रयत्न करें जिनको अध्येय दार्शनिक अपने सांस्कृतिक और व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों के कारण देख नहीं पाया। इस प्रकार का अध्ययन विभिन्न संस्कृतियों में परस्पर संवाद की संभावनाओं का पथ भी प्रशस्त करेगा। इस

प्रकार का एक सहज उदाहरण बौद्ध दृष्टि के चीनी और जापानी अवधारणों में देखा जा सकता है। ये तीन रूप बहुत सीमा तक एक ही प्रत्यय या अवधारण के तीन विकार कहे जा सकते हैं। किन्तु यह तुलनात्मक अध्ययन नहीं होगा। तुलनात्मक अध्ययन इन तीन विकारों को एक ही मूल से उद्भूत और पृथक होते हुए देखने में होगा।

सन्दर्भ-ग्रंथ और टिप्पणियाँ

१. *ऑवर नॉलेज ऑफ द एक्स्टर्नल वर्ल्ड, पृ. १५ ।*

२. *द्रष्टव्य : यशदेव शल्य : इमैनुएल कांट, दयाकृष्ण (सं.), पाश्चात्य दर्शन का इतिहास, खंड २ ।*

३. *कोई कह सकता है कि डेकार्टीय चैतन्य 'भाव' नहीं होकर 'क्रिया' है : विचार-क्रिया: किन्तु यह द्रष्टव्य है कि विषय-सापेक्षता में यह क्रिया-रूप नहीं है, ज्ञान-रूप वस्तु ही है।*

४. *गोविन्दचन्द्र पाण्डे : बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, हिन्दी समिति, उ.प्र. लखनऊ, पृष्ठ, ३९० ।*

५. *वही, पृष्ठ ३९१ ।*

६. *सांख्यीय प्रकृति को मैं अपरमार्थ सत् इसलिए कह रहा हूँ कि जबकि सांख्य प्रकृति को पुरूष से पृथक् तत्त्व मानता है, वह इसे स्वाश्रयी नहीं मानकर पुरूषाश्रयी मानता है। देखिए : सांख्यकारिका, संघार्थ परार्थत्वात् कारिका १७।*

७. *बर्ट्रेण्ड रसल : फिलॉसोफी एंड पॉलिटिक्स', विलियम एबेंशन, (सं.), मॉडर्न पोलिटिकल थॉट, पृष्ठ, ८-२०, आक्सफर्ड एंड जे.डी.एच. पब्लिशिंग कं., नई दिल्ली ।*

८. *इस विचार को कॉर्ल पॉपर ने अपनी पुस्तक ओपेन सोसाइटी एंड इट्स एनिमीज़ में विस्तार किया है ।*

९. *लुडविग विट्गेन्स्टाइन : ट्रक्टेटस लॉजिको फिलॉसोफिकस, ४.११२ ।*

१०. *वही, ४.००३ ।*

तुलनात्मक दर्शन : एक समीक्षात्मक विश्लेषण

रेवतीरमण पाण्डेय

तुलनात्मक दर्शन से आपाततः यह बोध होता है कि दर्शन की जिस प्रकार अन्यान्य विधाएँ हैं, उसी प्रकार तुलनात्मक दर्शन भी एक दार्शनिक विधा अथवा निकाय है; किन्तु इस शब्द की अर्थ-गवेषणा से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हमारे विश्वविद्यालयों में अन्यान्य दार्शनिक विधाओं का अध्ययन-अध्यापन तो होता है किन्तु तुलनात्मक दर्शन का अध्ययन-अध्यापन नहीं होता है। तुलनात्मक धर्म का अध्ययन-अध्यापन कुछ इने-गिने विश्वविद्यालयों में प्रारम्भ हो गया है किन्तु तुलनात्मक दर्शन का अभी तक नहीं। निःसन्देह, युरोप में तुलनात्मक दर्शन को '*फेनोमेनॉलोजी ऑफ फिलॉसोफीज़*' के रूप में स्वीकारा गया है।[१]

भारतीय विश्वविद्यालयों का सारा प्रारूप ऑक्सफर्ड एवं केम्ब्रिज विश्वविद्यालयों को निष्कर्ष मानकर विलायत से आयातित किया गया है। बहुत लम्बे अर्से तक हम 'प्रतीची दर्शन' को दर्शन के रूप में पढ़ते रहे। युरोप में अभी भी दर्शन विभागों में मात्र पाश्चात्य दर्शन का पठन-पाठन होता है। भारतीय दर्शन अथवा एशिया के अन्य दर्शनों का अध्ययन-अध्यापन एशियन अथवा प्राच्य-विद्या विभागों, भारतीय-विद्या विभागों में होता है। भारतीय विश्वविद्यालयों में दर्शन-विभागों में इस शताब्दी के चौथे एवं पाँचवे दशक में भारतीय दर्शन ने धीरे-धीरे प्रवेश किया। किन्तु केन्द्र में ईसाई-धर्म-दर्शन ही रहा। इस शताब्दी के छठें दशक तक नव्य हेगेलवाद, विशेषतः ब्रेडले का निरपेक्षवाद, दर्शन की चरम निष्पत्ति के रूप में स्वीकार किया गया था। पाँचवे दशक से भारतीय दार्शनिकों का एक वर्ग भारतीय दर्शन को, विशेषतः शांकर वेदान्त को, केन्द्र में ले जाने का प्रयास किया। इस वर्ग के प्रथम भारतीय दार्शनिक आचार्य रामचन्द्र दत्तात्रेय राणाडे हैं, जिन्होंने पार्मेनाइडीज की व्याख्या शांकर वेदान्त के परिप्रेक्ष्य में की। आचार्य अनुकूल चन्द्र मुखर्जी ने काण्ट की व्याख्या शांकर वेदान्त के परिप्रेक्ष्य में की, तो राधाकृष्णन् ने ब्रेडले की, रमाकान्त त्रिपाठी ने स्पिनोजा की। क्या इसे हम 'तुलनात्मक दर्शन' की संज्ञा नहीं दे सकते ? दो शीर्षस्थ दार्शनिकों की तुलना क्या तुलनात्मक दर्शन नहीं है ? हम प्लेटो एवं अरस्तु की तुलना नहीं करते? दर्शन के दो ही प्रकार हो सकते हैं : प्लेटोवाद अथवा अरस्तुवाद ? हम तुलनात्मक संस्कृति का, तुलनात्मक भाषा विज्ञान का, तुलनात्मक राजनीतिशास्त्र का अध्ययन करते हैं, क्या उसी प्रकार का अध्ययन तुलनात्मक दर्शन नहीं है ? यह उसी प्रकार का तुलनात्मक अध्ययन नहीं है। यह इस शती की सर्वथा नवीन विधा है।

इस अध्ययन के द्वारा प्राची-प्रतीची के समन्वय एवं सम्मेलन पर बल दिया जाता है।[2] 'तुलनात्मक अध्ययन' केवल तुलनाएँ ही नहीं होतीं, वे समाजों, संस्कृतियों और सभ्यताओं के बीच तुलनाएँ होती हैं। उन सीमा-रेखाओं के जो 'हम' और 'उन' के द्वारा परिभाषित होती हैं, आर-पार विस्तृत तुलनात्मक अध्ययनों का संसार अनिवार्यत: 'उस अन्य यथार्थ' को देखने का फल होता है जो उस दृष्टि से देखा गया हो, वह अनिवार्यत: उस यथार्थ से बाह्य और इतर होती हैं।[3]

प्राची-प्रतीची, प्राच्य-पाश्चात्य शब्दों का क्या आशय है ? क्या यह विभाजन सर्वथा निरपेक्ष होगा? क्या इस्लाम-पूर्व फारस, यूनान एवं भारत के मध्य एक सेतु नहीं था ? क्या यूनान एवं चीन ईसा की प्रथम शताब्दी में सम्बद्ध नहीं हो चुके थे ? यदि यह मान भी लिया जाय कि पाश्चात्य धर्म-दर्शन एवं संस्कृति का प्रमुख उत्स युनानी-यहूदी एवं ईसाई विचार हैं, तथापि मिस्र का सांस्कृतिक अवदान पाश्चात्य धर्म-दर्शन एवं संस्कृति को क्या कम है ? इसराइल एवं युनान मिस्र के कितने ऋणी हैं, यह सर्वविदित तथ्य है। युनानियों को मिस्र एवं यहूदी संस्कृति का पर्याप्त ज्ञान था। क्या विश्व-संस्कृति को मेसोपोटामिया के योगदान को नकारा जा सकता है ? सागर की प्रशान्त गहराइयों में, गिरि-गह्वरों में विश्व के गहन कान्तारो में माया, अन्टेक, अजटेक आदि अनेक संस्कृतियाँ इतिहास के गर्भ में सोयी पड़ीं हैं। कभी आस्ट्रेलिया, अफ्रीका, दक्षिणी अमेरिका एवं भारतीय प्रायद्वीप परस्पर सम्बद्ध थे। अफ्रीका एवं आस्ट्रेलिया को हम प्राच्य मानते हैं या पाश्चात्य? रूस को किधर रखा जाय? प्राची-प्रतीची का, प्राच्य-पाश्चात्य का विभाजन सर्वथा सापेक्ष है। ट्वायम्बी ने विश्व-संस्कृतियों का इक्कीस प्रकारों में विभाजन किया है, तो नार्थ्रोप ने नौ प्रकारों में। इस प्रकार प्राची-प्रतीची का, प्राच्य-पाश्चात्य का विभाजन सर्वथा सापेक्ष है, तथापि व्यवहार में हम इनका धड़ल्ले से प्रयोग करते हैं। भारत एवं चीन को, अरब एवं इसराइल को प्राच्य माना जाता है, तो युनान एवं रोम को (युरोप) तथा अमेरिका को पाश्चात्य।[4]

इस प्रकार तुलनात्मक दर्शन में मात्र तुलना ही नहीं होती, अपितु दो परम्पराओं, समाजों, सभ्यताओं एवं संस्कृतियों की तुलना के माध्यम से उनमें समन्वय एवं ऐक्य स्थापित कराने का प्रयास होता है, यही तुलनात्मक दर्शन का परम लक्ष्य है। किन्तु हमें भ्रम में रखा गया है। इस प्रकार व्यवहारत: 'तुलनात्मक अध्ययनों' का अर्थ था - पाश्चात्य समाजों और संस्कृतियों द्वारा स्थापित मानदण्डों से दूसरे समाजों और संस्कृतियों को ज्ञान और ज्ञानेतर दोनों ही प्रकार के क्षेत्रों में परखना।

इन दूसरे समाजों और संस्कृतियों के विद्वानों ने भी पाश्चात्य समाजों को अपने दृष्टिकोण से देखने के बजाय पाश्चात्य विद्वानों द्वारा देखे गये मानदण्डों को ही स्वीकार कर लिया और यह सिद्ध करने के प्रयत्न में जुट गये कि उनकी अपनी संस्कृति ने विभिन्न क्षेत्रों में पाश्चात्य संस्कृतियों की उपलब्धियों से तुलनीय उपलब्धियाँ की हैं और वे किसी भी प्रकार से उनसे कम नहीं हैं। इस परिस्थिति ने ऐसे अध्ययनों के उद्भव को अवरूद्ध कर दिया जिन्हें 'तुल्य तुलनात्मक अध्ययन' कहा जा सकता है और जो इन क्षेत्रों में अधिक संतुलित अध्ययनों के आधार बन सकते थे।[५] इस प्रकार मात्र एक परम्परा रही, वह पाश्चात्य परम्परा रही, अन्य परम्परा की स्वीकृति ही नहीं हुई। नि:सन्देह आधुनिक विज्ञान एवं तकनीकी का विकास पश्चिम में हुआ, अत: पश्चिम ही समस्त ज्ञान-विज्ञान का निष्कर्ष माना गया। दर्शन के जो भी इतिहास लिखे गये, वे वस्तुत: पाश्चात्य दर्शन के इतिहास रहे। रसल पहले विचारक हैं जिन्होंने इस तथ्य को स्वीकार किया। व्यवहारत: सर्वाधिक प्रचलन ख्रिष्टीय सन् का है। हमारे स्वतन्त्र भारत के प्रशासनिक क्रिया-कलाप सन् से नियन्त्रित हैं, हमारी मानसिकता में यह संस्कार इतना गंभीर है कि हम चाहे या अनचाहे पहली जनवरी को ही वर्ष का प्रथम दिन मानते हैं, शुभ-कामनाओं का आदान-प्रदान करते हैं। ऐसा क्यों? ग्रीकाब्द क्यों नहीं ? रोमन सन् क्यों नहीं ? विक्रम संवत् क्यों नहीं ? क्या इसलिए कि ८ वीं शताब्दी पर्यन्त स्वयं अंग्रेज जंगली एवं बर्बर रहे। क्योंकि विगत तीन सौ से अधिक वर्षों तक पूरे विश्व में उनका साम्राज्य था, वह भी ऐसा विशाल साम्राज्य, जिसमें कभी सूर्यास्त नहीं होता था। समस्त ज्ञान-विज्ञान के वही आदर्श बन गये। *डेक्लाइन आफ द वेस्ट* में स्पेन्गलर ने अंग्रेजों के ऐतिहासिक बोध पर समीचीन टिप्पणी की है। अमेरिका का कुल इतिहास कितने वर्षों का है? किन्तु वह पूरे विश्व में ज्ञान-विज्ञान एवं तकनीकी का प्रमुख नियामक एवं व्यवस्थापक बन गया है। पाश्चात्य विचारकों का दावा है कि भारतीयों में ऐतिहासिक बोध ही नहीं है। वे ब्रह्मवादी हैं। उनका ब्रह्म महाकाल एवं अकाल है। क्या महाकाल एवं अकाल का भी इतिहास होता है? कितने राम, कितने कृष्ण, कितने बुद्ध आये, चले गये, एवं आते रहेंगे। कल्प-कल्पान्तर की काल-गणना करने वाले भारतीयों में ऐतिहासिक बोध हो भी कैसे ? हमारी मानसिकता में ईसाई संस्कृति घर कर गयी है। 'आक्सफर्ड', 'केम्ब्रिज' एवं अब 'हार्वर्ड' एवं 'कैलिफोर्निया' हमारी शैक्षिक एवं बौद्धिक ऊँचाई के मापदण्ड हैं। शिक्षा एवं शिक्षाविदों के ये मक्के-मदीने हैं, यह तो समझ में आता है किन्तु अब देश के प्रशासक भी नियमित रूप से इन विश्वविद्यालयों में प्रशिक्षण हेतु भेजे जा रहे हैं। देश की इससे बड़ी विडम्बना

और क्या हो सकती है? ऐसा क्यों? जहाँ तक इस्लामी दर्शन की बात है, वह सामी दर्शन के अन्तर्गत आ ही जाता है। पाश्चात्य दर्शन के ग्रन्थों में अरबी दर्शन पर एकाध अध्याय तो होता ही है। किन्तु उनमें चीनी दर्शन, जापानी दर्शन, अफ्रीकी दर्शन, भारतीय दर्शन का नामोनिशान नहीं। ऐसा भेद-भाव क्यों ? हम अन्यान्य दर्शनों के प्रति भले ही अनभिज्ञ हों किन्तु भारतीय दार्शनिक परम्पराओं का हमें बोध है। अतः तुलनात्मक दर्शन के सन्दर्भ में अपनी दार्शनिक परम्पराओं पर विचार करना एवं उन पर इस दृष्टि से प्रकाश डालना सर्वथा वांछनीय होगा। किन्तु इसके पूर्व पाश्चात्य दर्शन के परिप्रेक्ष्य में तुलनात्मक दर्शन पर कुछ और विचार कर लें।

१९२३ में फ्रेंच-प्राच्य-विद्याविद् पॉल मैसल ऑवरसील ने प्रथम पुस्तक *कॉम्परेटिव फिलॉसोफी* प्रकाशित की।[६] इसके बाद १९५३ में इण्डोनेशिया के प्राच्य-विद्याविद् क्ली स्वान लायट की पुस्तक *मेथड्स ऑफ कॉम्परेटिव फिलॉसोफी* प्रकाश में आयी।[७] इसके बाद अमेरिकन प्रो.एम.एस.सी. नार्थ्राप की कृति *द मीटिंग ऑफ ईस्ट एण्ड वेस्ट* प्रकाशित हुई। यह एक चर्चित रचना है। प्रो. नार्थ्राप के अनुसार प्राच्य अनुभूति-प्रज्ञा प्रधान हैं, तो पाश्चात्य बुद्धि प्रधान। वे प्राची-प्रतीची की अनुभूति एवं बुद्धि के समन्वय के हिमायती हैं। पॉल मैसल ऑवरसेल इस धारणा के प्रणेता माने जाते हैं। उन पर फ्रान्स के समाज-वैज्ञानिक और अनुभववादियों का भरपूर असर था।

पॉल मैसल ऑवरसेल के अनुसार दर्शन गोचर जगत् का अध्ययन है। कोई भी दार्शनिक अपने देश-काल का, परिवेश का अतिक्रमण नहीं कर सकता। यदि सुकरात अपने परिवेश से अभिभूत हैं तो कन्फ्युसियस अपने परिवेश से एवं बुद्ध अपने परिवेश से। इस प्रकार तुलनात्मक दर्शन किसी काल विशेष की विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं का परस्पर तुलनात्मक अनुभव-प्रधान अर्थ विवेचन है। यह एक महत्वपूर्ण अध्ययन है। किन्तु इसकी उपादेयता समाज वैज्ञानिक विषयों के लिए अधिक है। यह बात मात्र इस तथ्य पर प्रकाश डालती है कि कोई बड़ा मानव व्यक्तित्व सर्वथा अपने काल विशेष का प्रतिफल होता है। किन्तु दर्शन मात्र इतना ही नहीं है। इसका उद्देश्य काफी विशाल है। दर्शन मानव एवं जगत् के स्वरूप पर प्रकाश तो डालता ही है, इससे आगे बढ़कर इन दोनों की अर्थवत्ता एवं लक्ष्य पर भी प्रकाश डालता है। इस प्रकार दर्शन जीवन एवं जगत् के प्रति उदात्त दृष्टि देता है। तुलनात्मक दर्शन समग्र जीवन के प्रति समग्र दृष्टि है। यह अपनी दिव्यता का, पूर्णता का बोध है। किन्तु ऐसी दृष्टि *फेनोमेनॉलोजी* में कहाँ संभव है? इसी कारण प्रो. नार्थ्राप ने

तुलनात्मक दर्शन को *मेटा-फिलॉसोफी* की संज्ञा दी है क्योकि इसमें हम सभी दार्शनिक दृष्टियों का मूल्याँकन करते हैं।

'*फेनोमेनॉलोजी*' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम हेगेल ने किया - *द फेनोमेनॉलोजी ऑफ स्पिरिट* जिससे उन्होंने चेतना के विभिन्न स्तरों पर व्यक्ति एवं समाज के विकास-क्रम को दिखाकर उसके तत्त्वमीमांसीय एवं ज्ञानमीमांसीय अन्तर्निहितों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया। ब्रेन्टानों के *फेनोमेनॉलोजी* के विकास का एक लम्बा क्रम है, जो गोचर जगत् के वर्णनात्मक अध्ययन से प्रारम्भ होकर अन्त में दार्शनिकता के उस बिन्दु पर ले जाता है जो सभी प्रकार की पूर्वमान्यताओं, पूर्वाग्रहों एवं पक्षपातों से रहित हो, जो मनोवैज्ञानिक, प्राकृतिक एवं आदिम वस्तुवादी दृष्टिकोणों के दोषों से मुक्त हो। इस प्रकार *फेनोमेनॉलोजी,* दार्शनिक विद्या के साथ-साथ एक दार्शनिक विधि भी है। निःसन्देह हुसर्ल की *फेनोमेनॉलोजी फेनोमेनॉ* - गोचर जगत् - के वर्णनात्मक अध्ययन से अवश्य प्रारम्भ होती है; किन्तु इस गोचर जगत् की विषयी-चेतना, विषयापेक्षा का जो उत्स है, उसके स्वरूप एवं संरचना पर भी प्रकाश डालती है। पाश्चात्य दर्शन की यह अप्रतिम उपलब्धि है जो उसे तुलनात्मक दर्शन की अपेक्षाओं एवं उद्देश्य के समीप पहुँचा देती है।

मैक्समूलर आदि पाश्चात्य प्राच्य-विद्याविदों ने अपने गम्भीर अध्ययन एवं शोधों से यह प्रमाणित किया है कि युनानी, ईरानी एवं भारतीय संस्कृतियों का उत्स एक ही है। एथेन्स में सुकरात की मुलाकात भारतीय आचार्यों से हो चुकी थी।[८] पाणिनि ने अपनी *अष्टाध्यायी* में युनानी लिपि की चर्चा की है। उन्होंने युनानियों के लिए ही यवन शब्द का प्रयोग किया है। सभी धर्मों का उदय प्राच्य में हुआ। इसमें किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है। युरोप के पुर्नजागरण काल के पूर्व तक प्राच्य चिन्तन छाया था। इस्लाम के विकास ने अवरोध का काम किया किन्तु पुनः इस्लाम के अवरोध के बावजूद भारतीय-विद्या १९वीं शताब्दी में संस्कृत भाषा के माध्यम से युरोप के सर्वाधिक उर्वर स्थल जर्मनी में छा गयी। गोथे, फिक्टे, शेलिंग, हेगेल, शॉपेनआवर, मैक्समूलर एवं डायसन ने भारतीय-विद्या की भूरि-भूरि प्रशंसा ही नहीं की, इनमें से अधिकांश ने अपने सम्पूर्ण जीवन को भारतीय-विद्या के प्रति समर्पित किया। ये सभी हमारे लिए ऋषिवत् परमपूज्य हैं। इन्होंने भारती के गौरव एवं माहात्म्य का भरपूर प्रचार एवं प्रसार किया।

प्रतीची अपने प्राचीत्व को कैसे नकार सकता है? सारे धर्म प्राची में उत्पन्न हुए। इस प्रकार प्राची ने प्रतीची को धर्म एवं दर्शन दिया तो १६वीं शताब्दी से प्रतीची ने प्राची को विज्ञान एवं तकनीकी दिया क्योंकि इनका जन्म प्रतीची में हुआ।

ईसाई धर्म की उत्पत्ति एलेक्जेन्ड्रिया में हुई थी एवं वहीं से रोम के व्यवस्थित शासन तन्त्र ने इसे अपनाया, जो धीरे-धीरे युरोप एवं अमेरिका में छा गया। यही एलेक्जेन्ड्रिया प्राची-प्रतीची के प्रथम सम्मेलन का स्थल है।[९] एक दार्शनिक के अनुसार १९६४ में होनोलूलू में प्राची-प्रतीची के दार्शनिकों के सम्मेलन का निष्कर्ष यह रहा कि पाश्चात्य संस्कृति मुख्यतः बौद्धिक है, तो जापानी संस्कृति सौन्दर्यपरक, चीनी संस्कृति नैतिक है तो भारतीय तात्त्विक[१०], इन चारों के समन्वय को कौन नहीं चाहेगा ? किसी भी दार्शनिक का यह दायित्व है कि वह अपनी परम्परा के साथ-साथ अन्य दार्शनिक परम्पराओं का अध्ययन करे एवं उनकी अच्छाइयों का ग्रहण करे। प्राची एवं प्रतीची के मिलन से 'बसुधैवकुटुम्बकम्' के आदर्श का साक्षात्कार होगा।

प्राची के जिस आलोक से स्वयं प्रतीची आलोकित हुआ, उसी ने प्राची को बर्बर, जंगली एवं आदिम आदि विशेषणों से मण्डित किया। इससे बड़ी विडम्बना और क्या हो सकती है ?

अब हम प्राची की अपनी परम्परा पर थोड़ा सा प्रकाश डालें। भारतीय दर्शन पर यह आक्षेप था कि यह वैराग्यवाद, मोक्षवाद एवं परलोकवाद का हिमायती है, एवं इसका विश्वास तर्क तथा अनुभव से परे आप्तता, प्रातिभ साक्षात्कार अथवा प्रज्ञा में अधिक है। उनका जो आक्षेप है उसे ही हम अपनी पहचान मानते हैं। वही हमारा गौरव है। भारतीय दार्शनिक परम्पराओं में जैन, बौद्ध एवं वेदान्त पर मोक्षवाद, परलोकवाद एवं वैराग्यवाद का आक्षेप सर्वाधिक है। अन्य दार्शनिक विद्याएँ - सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, पूर्व-मीमांसा वस्तुवादी हैं। न्याय एवं मीमांसा प्रमाणशास्त्र के सशक्त हिमायती हैं। हरिभद्रसूरी ने *षड्दर्शनसमुच्चय* की रचना की। स्वयं जैनाचार्य होते हुये भी सभी भारतीय दार्शनिक परम्पराओं का सम्यक् विवेचन बिना किसी आग्रह के किया है। वही बात *सर्वदर्शनसंग्रहकार* में देखने को मिलती है। बौद्ध दर्शन ने असंग, बसुबन्धु, नागार्जुन, धर्मकीर्ति, चन्द्रकीर्ति एवं दिङनाग जैसे तर्क-विद्या के एक से एक धुरन्धर आचार्यों को उत्पन्न किया। ब्रह्म-जिज्ञासा का प्रथम साधन 'नित्यानित्यवस्तुविवेक' है, अर्थात् 'यथाभूत' के सत्य को समझने की अर्हता, योग्यता। *ब्रह्मसूत्र* प्रस्थानत्रयी का न्याय प्रस्थान है। आचार्य शंकर ने *तर्कपाद* में अन्य भारतीय दार्शनिक परम्पराओं का खण्डन श्रुति निरपेक्ष तार्किकता के निष्कर्ष पर किया है : 'इह तु वाक्यनिरपेक्षस्वतन्त्रस्तद्युक्तिप्रतिषेधः क्रियते'।[११] वादन्याय[१२] की परम्परा भारतीय परम्परा है। 'वादिप्रतिवादीभ्यां निर्णीतोऽर्थः वादः', अर्थात् वादी-प्रतिवादी द्वारा निर्णीत अर्थ ही वाद है। यह शास्त्रार्थ की वैज्ञानिक विधि है, प्रक्रिया है। वादन्याय

सत्यान्वेषण की सर्वथा वैज्ञानिक प्रक्रिया है। इसके बीज वेदों में विद्यमान हैं किन्तु उपनिषदों में इस प्रक्रिया का रूप सुस्पष्ट हो जाता है। वादन्याय सिद्धान्त के रूप में सर्वप्रथम गौतम के *न्यायसूत्र* में मिलता है। *न्यायसूत्र* के अनुसार यह प्रमाण और तर्क के आधार पर प्रतिपक्ष का खण्डन एवं सिद्धान्तपक्ष का मण्डन है। बाद में वात्स्यायन, उद्योतकर आदि ने इसे पल्लवित एवं पुष्पित किया। बौद्धाचार्य दिङ्नाग, शान्तरक्षित एवं धर्मकीर्ति नैयायिकों से पीछे नहीं रहे। इसी वादन्याय का परिष्कार आचार्य गंगेश के अवच्छेदकता-निरूपण की प्रक्रिया में किया गया है। समूचा भारतीय वाङ्मय-साहित्य, इतिहास, पुराण, दर्शन, आयुर्वेद यदि नव्य-न्याय की परिष्कार शैली में नहीं लिखा गया, तो उसे शास्त्र के रूप में स्वीकृति सादर प्राप्त नहीं होती थी। वादन्याय एवं परिष्कार की प्रक्रिया के फलस्वरूप भारतीय दार्शनिक परम्पराओं का विकास हुआ है। बौद्धों ने *प्रमाणवार्तिक* की रचना की, तो जैनों ने *स्याद्वादमंजरी* की, अद्वैतियों ने *खण्डनखण्डखाद्य* की, आचार्य रामानुज ने सप्तानुपपत्तियाँ उठायीं जिनका निखार *शतदूषणी* में हुआ। प्रत्युत्तर में *शतभूषणी* की संरचना की गयी।

प्रतीची, प्राची के आलोक से ही आलोकित हुआ किन्तु वह उसके समग्र आलोक को, प्रकाश को, सत्य को ग्रहण न कर सका। उसे उसने खण्डशः ग्रहण किया। यही कारण है कि सत्य जो अखण्ड, समग्र एवं पूर्ण है, सामी दृष्टि में खण्डित, अधूरा एवं अपूर्ण हो जाता है। सामी दृष्टि में प्रकृति अन्न है, भोग्या है, साधन है, अतः प्रकृति-जय, प्रकृति-दोहन वहाँ के मनुष्य का अधिकार है। सामी दृष्टि उपभोक्तावादी है। इस उपभोक्तावादी संस्कृति ने इस सीमा तक विकृति पैदा कर दी है कि सारा पर्यावरण दूषित हो गया है। जल, वायु, अन्न, फल,पृथ्वी, आकाश,समुद्र एवं अब अन्तरिक्ष भी दूषित हो गये हैं। वे अब हमारे लिए अभिशाप बनते जा रहे हैं। इसके विपरीत भारतीय सांस्कृतिक दृष्टि अर्थगवेषणा एवं आत्मपर्येषणा के सनातन इतिहास की सांकेतिक अभिव्यक्तियों का विश्व है। भारतीय दृष्टि तत्त्वतः 'एकं सत्' की दृष्टि है, 'अद्वैती' दृष्टि है, 'ईशावास्यमिदम्' की दृष्टि है, 'वासुदेवः सर्वम्' की दृष्टि है, 'रसो वै सः' की दृष्टि है, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' की दृष्टि है। वैदिक शान्तिपाठ कितना उदात्त एवं मंगलमय है :

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षः शान्तिः।
पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिः ब्रह्म शान्तिः।
सर्व शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सामा शान्तिरेधि।

शुक्लयजुर्वेदसंहिता, ३६/१७

समस्त अनेकता में एकता, समस्त भेदों में एक, अखण्ड अभेद – 'अविभक्तं विभक्तेषु', 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि आत्मनि', 'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्व च मयि पश्यति', सर्वत्र अखण्ड, अनन्त, पूर्ण, अद्वैत ही तो है, अत: सर्वरूपाय नमो नम:। 'प्रतिबोधविदितम्', अर्थात् प्रत्येक ज्ञान में उसी का बोध है। सभी मनुष्यों में ही नहीं, सभी प्राणियों में ही नहीं अपितु जगत् के कण-कण में एक ही अद्वैत तत्त्व का दर्शन है। इसीलिए *श्रीमद्भागवत्* का निम्न श्लोक कितना सार्थक है :

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च।
ज्योतींषि सन्त्वानि दिशां द्रुमादीन्।।
सरित्समुद्रांश्च हरे: शरीरं।
यत् किंच भूतं प्रणमेदनन्य:।।

श्रीमद्भागवत, ११/२/४१

अर्थात्, "आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्रादि, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष, नदियाँ और समुद्र, जो कुछ भी हैं, वे सब भगवान् हरि का शरीर ही हैं। अत: सबको अनन्यभाव से प्रणाम करें।"

तुलनात्मक दर्शन के आदर्श का साक्षात्कार अद्वैत की भावभूमि पर, प्रज्ञापारमिता की भावभूमि पर ही संभव है। उत्तरयोगी श्री अरविन्द का उद्घोष कितना समीचीन है : समग्रपूर्णता परम दिव्य से, सच्चिदानन्द से, परमात्मा से एकाकारता है। परमात्मा से एकाकारता सभी वस्तुओं एवं प्राणियों से एकाकारता है। समग्र दिव्यपूर्णता का यही सार है।[१३]

संदर्भ-ग्रंथ एवं टिप्पणियाँ

१. *पी.टी. राजू : लक्चर्स ऑन कॉम्परेटिव फिलॉसोफी, पूना विश्वविद्यालय, पूना, १९७०, पृ. ८।*

२. *वही पृ.२।*

३. *दयाकृष्ण : (प्र.स.), डायोजिनीज, संख्या ७, १९८६, पृ. ७७।*

४. *पी.टी. राजू : लेक्चर्स ऑन कॉम्परेटिव फिलॉसोफी, पृ. ४।*

५. *दयाकृष्ण : डायोजिनीज, संख्या ए ७, १९८६, पृ. ७८।*

६. *अंग्रेजी अनुवाद केगनपाल, लन्दन से प्रकाशित।*

७. *युनिवर्सिटी ऑफ लाइडेन प्रेस, लाइडेन।*

८. एस. राधाकृष्णन : ईस्टर्न रेलिजन्स एण्ड वेस्टर्न थाट, क्लैसेन्डन प्रेस ऑक्सफर्ड, १९३९, पृ. १५१।
९. पी.टी. राजू : लेक्चर्स ऑन कॉम्परेटिव फिलॉसोफी, पृ. ३१।
१०. वही, पृ.३५।
११. ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, तर्कपाद, २/२/१।
१२. रामचन्द्र पाण्डेय, राघवेन्द्र पाण्डेय, एवं मंजू : वादन्यायः वाद-प्रक्रिया का तार्किक विश्लेषण (गौतमीय एवं बौद्ध न्याय के सन्दर्भ में), ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, १९८८।
१३. श्री अरविन्द : दि सेन्थेसिस ऑफ योग, श्री अरविन्द आश्रम पांडिचेरी, सिक्स्थ प्रिंट, १९७१, पृ. ६७७ तथा लेखक का समग्र योग, पृ. १४३।

तुलनात्मक दर्शन : विमर्शात्मक चेतना में पुनर्विमर्श

अम्बिकादत्त शर्मा

सम्प्रति दार्शनिक जगत् में कोई भी व्यक्ति तुलनात्मक दर्शन के अभिनिवेशों से अपने आप को अछूता नहीं रख सकता है। तुलनात्मकता तो अवधारणात्मक चेतना में आरम्भ से ही अन्तर्निहित होती है। किसी विचार या ग्रन्थ को अन्य सन्दर्भों से अलग-थलग करके नहीं समझा जा सकता है। काण्ट [1] ने ठीक ही कहा है कि किसी लेखक के विचारों की तुलना अन्य (लेखकों के) विचारों से करना किसी भी तरीके से कोई असामान्य कृत्य नहीं है। हम तुलना के द्वारा उसे (उससे अधिक) बेहतर ढंग से समझ सकते हैं, जितना कि वह स्वयं अपने आप को समझता है। ऐतिहासिक दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन की शुरुआत को सत्रहवीं-अट्ठारहवीं शताब्दी में युरोपीय यात्रियों के अन्य देशों के समाज एवं संस्कृति के सम्पर्क में आने के साथ रेखांकित किया जा सकता है, लेकिन तुलनात्मक दर्शन एक परवर्ती प्रवृत्ति है। मुझे यह ज्ञात नहीं कि इसका आदि प्रवक्ता कौन रहा है। जो लोग यह मानते हैं कि तुलनात्मक दर्शन उतना ही पुराना है जितना पश्चिम में अरस्तु और भारत में जैन तथा आरम्भिक बौद्ध विचारक [2] वे किसी न किसी प्रकार की वाद-विधि को तुलनात्मक दर्शन समझने की भूल कर रहे होते हैं। दो दर्शनों के बीच खण्डन-मण्डन की परम्परा भले ही बहुत प्राचीन हो, लेकिन उसे तुलनात्मक दर्शन नहीं कहा जा सकता। भारत में तुलनात्मक दर्शन की शुरुआत चाहे जहाँ से मानी जाय, इतना तो निर्विवाद रूप से सत्य है कि बीसवीं सदी के भारतीय दर्शन में तुलनात्मकता की प्रवृत्ति आद्यन्त रूप से विद्यमान रही है । स्वाधीनता आन्दोलन के कुछ पहले एवं स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन में जिन आचार्यों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, जो भारतीय दर्शन की आधुनिक व्याख्या अथवा पाश्चात्य प्रभाव में नयी रचना करने का दावा कर सकते हैं, सभी के चिन्तन का विकास तुलनात्मक दर्शन की आधारभूमि पर ही विकसित हुआ प्रतीत होता है । बीसवीं सदी के भारतीय दर्शन का ऐसा प्रयास कई एक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है । इससे पूर्वी और पश्चिमी दर्शनों के बीच की दूरी कम हुई है। *फिलॉसोफी* और दर्शन के बीच अन्तःपदीय समझदारी बढ़ी है । भारतीय दर्शन की पहचान विश्व दर्शन मंच पर हुई है, बहुतेरे युरोपीय विद्वान् भारतीय दर्शन की ओर आकर्षित हुए हैं । यदि ह्यूम, हेगल, हाइडेगर और हुसर्ल आज जीवित होते तो शायद भारतीय दर्शन के प्रति अपनी टिप्पणियों में संशोधन करने के लिए तैयार हो सकते थे।

अवश्य ही उपर्युक्त सारी बातों से भारतीय दर्शन की एक वैश्विक पहचान बनी है, लेकिन तुलनात्मकता की इस होड़ में अन्दर से कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी खड़े किये

जा सकते हैं। क्या तुलनात्मक प्रयासों से भारतीय दर्शन का जो स्वरूप सामने आया है, वह भारतीय दर्शन की आत्म-स्मिता के अनुरूप है ? क्या औपनिवेशिक मनोवृत्ति और उस पर से विदेशी भाषा का प्रभुत्व तथा अंग्रेजों के द्वारा छोड़े गये सांस्कृतिक अनिश्चय और हादसे से उबरने के लिए यही सशक्त और समीचीन रास्ता था ? क्या यह सब कुछ युरोपीय अस्मिता के दर्पण में अपनी मुखाकृति देखना नहीं है । यदि तुलनात्मक दार्शनिक प्रयासों का उद्देश्य वैश्विक दार्शनिक परिप्रेक्ष्य को सामने लाना माना जाता है तो भी स्व-तंत्रमूलक वैश्विक समझदारी ही श्लाघ्य होती है, स्व-तंत्रोन्मूलक वैश्विक समझदारी नहीं । तुलनात्मक दर्शन के नाम पर युरोपीय पदावली में भारतीय दर्शन को समझने या भारतीय दर्शन की आधुनिक व्याख्या करने में स्व-तंत्रोन्मूलकता के खतरे को नकारा नहीं जा सकता है। पता नहीं ऐसी हीनभावना कहाँ से और कैसे घर कर गई कि हम एक-एक कर भारतीय दार्शनिकों की तुलना युरोपीय दार्शनिकों से करने लगे, जबकि कालक्रम को ध्यान में रखा जाए तो युरोपीय दार्शनिकों की तुलना भारतीय दार्शनिकों से की जानी चाहिए। मार्ले पोन्ती ने उचित ही कहा था कि भारतीय अपनी पहचान का दायित्व हम पर छोड़ जाते हैं। उन्हीं के शब्दों में, "मानव द्वारा निर्मित या संस्थापित सभी चीजों की तरह भारत और चीन भी बड़ी दिलचस्प संस्कृतियाँ हैं। पर सभी संस्थापनाओं की तरह वे अपने सही अर्थ की पहचान का काम हम पर छोड़ते हैं, वे स्वयं इसे पूरी तरह हमें नहीं देते। जो वे कहते हैं उसकी पूरी अवगति नहीं है। दार्शनिक चिन्तन की वास्तविक क्षमता के लिए उन्हें अपने आप को और अन्य सभी चीजों को समझने का प्रयत्न करना होगा।"[३]

वस्तुतः भारतीय दर्शन की बीसवीं सदी की तुलनात्मक प्रवृत्तियों के प्रति उपर्युक्त टिप्पणियों से हमारा अभिप्राय न तो तुलनात्मक चेष्टाओं का विरोध करना है और न ही किये गये तुलनात्मक प्रयत्नों की समीक्षा । यहाँ हम प्रस्तुत निबन्ध के माध्यम से तुलनात्मक दर्शन के अवधारणात्मक अभिनिवेश से सम्बन्धित कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं को सामने लाने का प्रयास करेंगे। यदि इस विवेचना से, भारत में हुए यथोपलब्ध न्याय से, तुलनात्मक दर्शन के प्रयासों पर परावर्तित प्रकाश पड़ता है तो हम इसे अहैतुक उपलब्धि ही समझेंगे।

१

तुलनात्मक दर्शन के अवधारणात्मक अभिनिवेश पर विचार करते हुए प्रथम दृष्ट्या यह प्रश्न उपस्थित होता है कि दर्शन एवं तुलनात्मक दर्शन में क्या सम्बन्ध है ? दूसरे शब्दों में, दर्शन पारिभाषिक तौर पर किस प्रकार तुलनात्मक दर्शन को प्रस्तावित करता है ? और, इस तरह प्रस्तावित होकर तुलनात्मक दर्शन किस प्रकार दर्शनों के ऊपर अपने को प्रतिस्थापित करता है ? तुलनात्मक दर्शन और दर्शन के बीच वैसा ही सम्बन्ध नहीं होता जैसा कि तुलनात्मक धर्म एवं धर्म के बीच होता है । अवधेय

है कि तुलनात्मक धर्म एक प्रकार का धर्म नहीं होता, जबकि सब कुछ के बावजूद, तुलनात्मक दर्शन एक प्रकार का दर्शन ही होता है । यह बात अलग है कि तुलनात्मक दर्शन एवं विशिष्ट दर्शनों को एक ही स्तर का दर्शन नहीं कहा जा सकता । अतएव तुलनात्मक धर्म एवं विशिष्ट धर्मों में वाह्य सम्बन्ध ही हो सकता है, जबकि तुलनात्मक दर्शन एवं विशिष्ट दर्शनों में सम्बन्ध आन्तरिक होता है। दर्शन एवं तुलनात्मक दर्शन के सम्बन्ध की आन्तरिकता एवं स्वयं दर्शन द्वारा तुलनात्मक दर्शन के प्रस्ताव को दर्शन की एक सामान्य परिभाषा के द्वारा समझा जा सकता है । यद्यपि दर्शनों के क्षेत्र, पद्धति एवं उद्देश्यों की बहुरंगीय विभिन्नता का सामान्यीकरण करते हुए दर्शनशास्त्र की एक सर्वमान्य परिभाषा को प्राप्त करना कठिन है, फिर भी ज्ञान की विभिन्न विधाओं के बीच दर्शनशास्त्र की किसी ऐसी विशिष्टता को अवश्य रेखांकित किया जा सकता है, जिसके कारण एक विशेष प्रकार के चिन्तन को ' दार्शनिक चिन्तन ' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। इस विशिष्टता को ऐसा होना चाहिए जो एक साथ विभिन्न दर्शनों पर लागू हो और साथ ही साथ उस विशिष्टता के आधार पर दर्शन को धर्म, विज्ञान इत्यादि विधाओं से अलग भी पहचाना जा सके। इस रूप में दर्शनशास्त्र को एक विशिष्ट 'विमर्शात्मक चिन्तन' के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। चेतना का विमर्शात्मक स्वरूप सदैव ही किसी वस्तुनिष्ठ चेतना के सापेक्ष घटित होता है। साधारणतया हमारी चेतना का प्रवाह और उसकी उन्मुखता वस्तु-जगत् की ओर होती है क्योंकि हमारा व्यावहारिक जीवन वस्तुनिष्ठ चेतना से ओत-प्रोत होता है। वस्तुनिष्ठ चेतना एक प्रकार की प्राक्विमर्शी चेतना है और चेतना का यह स्तर मानव एवं पाशव स्तर पर समान रूप से पाया जाता है । अतः इतना तो स्पष्ट ही है कि दार्शनिक चेतना कोई वस्तुनिष्ठ चेतना नहीं है और इसलिए दर्शन भी कोई विषय-मूलक व्यवस्था नहीं है। चेतना तो दार्शनिक चेतना के स्वरूप को तब अवाप्त करती है जब वह किसी वस्तुनिष्ठ चेतना अथवा उससे सम्बन्धित किसी विषय-मूलक व्यवस्था पर विमर्श कर रही होती है। अतएव दर्शन विशुद्ध रूप में एक प्रकार का मननात्मक, अनुव्यवसायात्मक व्यापार है जो किसी नवीन ज्ञान को उत्पन्न नहीं करता, बल्कि यह जाने हुए को ही पुनः जानना है। इस क्रिया में विमर्शात्मक चेतना वस्तुनिष्ठता का अतिक्रमण करती है और अपनी प्रत्येक गति में यह अपने मूल की ओर अभिक्रमण करती है । मानवीय ज्ञान की अधिकांश विधाओं (विज्ञान, धर्म, कला, इतिहास, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, विधिशास्त्र) को वस्तुनिष्ठ चेतना के स्तर पर विभिन्न प्रकार की विषय-मूलक व्यवस्थाओं के रूप में समझा जा सकता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि ये सभी ज्ञान-व्यवस्थायें अपने-अपने विषय के रूप और आकार से निर्धारित होती हैं। वस्तुनिष्ठ-चेतना के स्तर पर विभिन्न प्रकार की विषय-मूलक व्यवस्थाओं का स्वचेतन विमर्श (*सेल्फ कॉन्शस रिफ्लेक्शन*) ही विषय-मूलक व्यवस्थाओं का दर्शन, यथा -

विज्ञानदर्शन, समाजदर्शन, कलादर्शन, विधिदर्शन, भाषादर्शन इत्यादि का रूप ग्रहण कर लेता है। अतः दार्शनिक चेतना एक तरह से विषयनिष्ठ चेतना का स्थगन और प्रत्यङ्मुख चेतना में अवगमन है। यह प्रत्यङ्मुखता चेतना की स्वाभाविक अभिवृत्ति नहीं है बल्कि यह मानवीय स्तर पर असाधारण रूप से घटित होती है। भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन परम्परा में चेतना की प्रत्यङ्मुखता अथवा उसकी विमर्शात्मक अभिवृत्ति के हेतु को अनेक प्रकार से विवेचित किया गया है। यहाँ हम इसके विस्तार में न जाकर केवल इतना ही कहना चाहेंगे कि विषयोन्मुख चेतना का स्थगन और प्रत्यङ्मुख चेतना में अवगमन मानव जीवन का एक नव्य-परिच्छेद है। इसमें जीवन और जगत् के विषय में वैसे आधारभूत प्रश्नों को उठाया जाना सम्भव होता है जिसके लिए वस्तुनिष्ठ चेतना और विषय-मूलक व्यवस्थाओं के अन्तर्गत अवकाश ही नहीं होता।

२

अब यदि दार्शनिक चेतना का स्वरूप ऐसा ही है तब तुलनात्मक दर्शन किस प्रकार की दार्शनिक चेतना है ? क्या यह ज्ञान की विषय-मूलक विधाओं की तुलनात्मक चेतना है अथवा उन विधाओं पर विमर्श की प्रक्रिया में तंत्रबद्ध विधाओं के दर्शन की तुलनात्मक चेतना है ? दोनों ही स्थितियों में न्यूनाधिक रूप में तुलनात्मक चेतना की विमर्शात्मकता को स्वीकार करते हुए कुछ न कुछ अन्तर तो करना ही होगा । प्रथम अर्थ में तुलना जहाँ विषय-मूलक व्यवस्थाओं के विभिन्न वैकल्पिक प्रारूपों की तुलनात्मक चेतना होगी, वहीं दूसरे अर्थ में तुलना विषय-मूलक व्यवस्थाओं के दर्शन की तुलनात्मक चेतना होगी । इसमें प्रथम प्रकार की तुलना को तुलनात्मक अध्ययन के प्रचलित अर्थ में समझा जा सकता है, तुलनात्मक दर्शन के अर्थ में नहीं। तुलनात्मक दर्शन तो वास्तव में विषय-मूलक ज्ञान की विधाओं पर विमर्शात्मक चिन्तन की प्रक्रिया में व्यवस्थित, तंत्रबद्ध और आकारिक दार्शनिक निकायों का तुलनात्मक अध्ययन है। इसलिए तुलनात्मक अध्ययन और तुलनात्मक दर्शन की समस्यायें और प्रश्न भी अलग-अलग होते हैं, लेकिन तुलनात्मक दर्शन का संसार तुलनात्मक अध्ययन के संसार के सापेक्ष ही विकसित होता है। सभ्यता के विकास में विषय-मूलक व्यवस्थाओं का संसार जिस अनुपात में विकसित होता है, उसी के सापेक्ष तुलनात्मक दर्शन का आकाश भी विस्तृत होता जाता है। इसलिए पॉल मैसन ऑवरसेल [४] ने तुलनात्मक दर्शन को *'यूनीवर्सल हिस्ट्री ऑफ कॉस्माश'* कहा है ।

तुलनात्मक दर्शन को इस तरह व्याख्यायित करने पर यह आपत्ति हो सकती है कि दर्शन एवं तुलनात्मक दर्शन दोनों ही विमर्शात्मक चेतना के ही रूप विशेष हैं, और अवधेय है कि चेतना सदैव ही विमर्शात्मक स्वरूप को किसी वस्तुनिष्ठ चेतना की विषय-मूलक व्यवस्था के सापेक्ष अपनाती है। ऐसी स्थिति में तुलनात्मक दर्शन को यदि

दो दर्शनों का तुलनात्मक विमर्श माना जाता है तो हमें उन दर्शनों को वस्तुनिष्ठ चेतना के प्रकार अथवा विषय-मूलक व्यवस्था के रूप में ही पूर्वग्रहण करना होगा । यदि हम ऐसा पूर्वग्रहण नहीं करें तो तुलनात्मक दर्शन की सम्भावना के लिए विमर्शात्मक चिन्तन का ही पुनर्विमर्श स्वीकार करना होगा जो तार्किक दृष्टि से एक असंगत संकल्पना है। इस प्रसंग में यह बात एक विरोध प्रसंग जैसी प्रतीत होती है लेकिन यह भी एक ऐतिहासिक तथ्य है कि हम दो या दो से अधिक दर्शनों पर तुलनात्मक रूप से विचार करते हैं। वस्तुत: होता यह है कि जब दार्शनिक चेतना तंत्रबद्ध हो जाती है अथवा विमर्शात्मक चेतना तंत्रबद्ध होकर जब इतिहास का रूप धारण करती है तो वह विषय-मूलक व्यवस्थाओं की तरह वस्तुनिष्ठ आकार को ग्रहण कर लेती है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि वस्तुनिष्ठता चेतना की आदिम अभिवृत्ति है। इसे विमर्शात्मक चिन्तन के द्वारा बहुत लम्बे समय तक स्थगित नहीं रखा जा सकता। सम्भवत: इसीलिए हाइडेगर ने दार्शनिक चिन्तन को *अॅकेजनल्* और *एक्सीडेन्टल्* कहा है। वस्तुनिष्ठता, जो चेतना का अवचेतन आग्रह है, उसी के चलते दार्शनिक चिन्तन के इतिहास में दर्शनों के प्रति रुढ़िवादी प्रवृत्ति का उदय होता है। दर्शन, जो अपने स्वरूप में वस्तुनिष्ठ चेतना की विषय-मूलक व्यवस्था नहीं है, उसमें हमारा अभिनिवेश विषय-मूलक व्यवस्था की तरह होता है। विमर्शात्मक चेतना की शुद्धता की दृष्टि से यह दार्शनिक चेतना में उत्पन्न विकार है लेकिन यही विकार तुलनात्मक दर्शन की सम्भावना के लिए आवश्यक भी है। वस्तुत: दर्शनों के प्रति रुढ़िवादी दृष्टिकोण का होना ही तुलनात्मक दर्शन की प्रागपेक्षा है क्योंकि उसका विषय दर्शनों का तंत्रबद्ध इतिहास होता है जिसके प्रति हम सभी अपनी-अपनी रुचि-प्रवृत्ति तथा सांस्कृतिक संस्कारों के साथ प्रतिबद्ध होते हैं। यहाँ हम *'हिस्ट्री ऑफ फिलॉसोफी'* एवं *'हिस्ट्री ऑफ आइडियाज'* में भेद करते हुए अपनी बात को और अधिक स्पष्ट कर सकते हैं। बर्नार्ड विलियम [५] के अनुसार *'हिस्ट्री ऑफ आइडियाज'* का तात्पर्य दर्शन के पीछे के इतिहास से है। तुलनात्मक दर्शन उपर्युक्त दोनों ही पक्षों को लेकर दर्शनों के तंत्रबद्ध स्वरूप को अपने विचार का विषय बनाता है और उनके प्रकट-अप्रकट भेदों एवं समानताओं को उद्घाटित करता है ।

२

यहाँ पुन: तुलनात्मक दर्शन के द्वन्द्ववाद से सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न की विवेचना आवश्यक है। तुलनात्मक दर्शन के अवधारणात्मक अभिनिवेश की चर्चा में प्राय: इस प्रश्न को छोड़ दिया जाता है। अवधेय है कि दर्शनों के तंत्रबद्ध इतिहास के प्रति हमारी रुढ़िवादी प्रवृत्ति जहाँ एक ओर तुलनात्मक दर्शन की सम्भावना को प्रस्तुत करती है, वहीं दूसरी ओर यह द्वन्द्वात्मक दर्शन, वास्तव में, द्वन्द्ववाद के समानान्तर ही एक दार्शनिक प्रवृत्ति है। द्वन्द्ववाद को सामान्य तौर पर विरोध की

चेतना के रूप में परिभाषित किया जाता है। यह दो विरोधी दार्शनिक दृष्टियों की चेतना से आरम्भ होकर अन्ततः बुद्धि के अन्तर्विरोध में पर्यवसित हो जाता है। बुद्धि के अन्तर्विरोध की उपशांति या तो दृष्टिमात्र के निषेध में अथवा सभी दृष्टियों को एक सुसंगत व्यापक तंत्र में समायोजित करने से सम्भव है। इसमें प्रथम प्रकार की चेष्टा माध्यमिक दर्शन में देखने को मिलती है जबकि दूसरे प्रकार की चेष्टा का उदाहरण हेगल के दर्शन को बनाया जा सकता है। इसके समानान्तर तुलनात्मक दार्शनिक चेतना का जन्म वैकल्पिक दार्शनिक दृष्टियों एवं उनके प्रति प्रतिबद्धता के साथ होता है। वैकल्पिकता की चेतना में भी एक प्रकार का द्वन्द्व रहता ही है लेकिन वह विरुद्धों के बीच क्रियाशील न होकर समानान्तर वैकल्पिक दृष्टियों की तुलना में क्रियाशील होता है। विरोधी दृष्टियों के साथ आरम्भ होने वाले द्वन्द्ववाद में विरोध का समाधान विरोधी दृष्टियों के अतिक्रमण में ही सम्भव है। इस अतिक्रमण को हम चाहे माध्यमिकों की शून्यता के अर्थ में लें अथवा हेगेल के महान् समन्वय के अर्थ में, दोनों ही स्थितियों में दृष्टियों का निषेध किसी न किसी तरीके से अन्तर्विष्ट रहता है। वहीं दूसरी ओर, दो या दो से अधिक वैकल्पिक दृष्टियों की तुलना से आरम्भ होने वाले द्वन्द्ववाद में भी वैकल्पिकता के द्वन्द्व का उपशमन समानान्तर विकल्पों के अतिक्रमणपूर्वक ही होता है लेकिन इस अतिक्रमण में वैकल्पिक दृष्टियों का निषेध नहीं किया जाता, बल्कि एक आधारभूत दृष्टि में उन्हें प्रतिस्थापित किया जाता है – ऐसी आधारभूत दृष्टि जो उन विकल्पों का मूल लक्षण (*आर्केटाइप*) जैसा होता है और उन्हें धारण करता है। प्रो. कालिदास भट्टाचार्य [६] ने *अल्टरनेटिव स्टैंडप्वाइंट इन फिलॉसोफी* में इस बात को विकसित करने का प्रयास किया है कि प्रत्येक दार्शनिक दृष्टि अपने आप में एक अन्तिम और सम्पूर्ण विकल्प होती है। अतएव दार्शनिक दृष्टियों का कोई ऐसा परतर (*अल्टेरियर*) एकीकृत व्यापक आधार नहीं होता, जिसके सन्दर्भ में विभिन्न वैकल्पिक दृष्टियों को उसका विकल्प कहा जा सके। प्रो. भट्टाचार्य का यह प्रस्ताव वैकल्पिक दार्शनिक दृष्टियों की *'डिसजंक्टिव युनिटी'* के सन्दर्भ में उचित ही प्रतीत होता जो सभी प्रकार के *'कंजंक्टिव युनिटी'* का विरोध करता है लेकिन इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि वैकल्पिक दार्शनिक दृष्टियों में तुलना नहीं हो सकती। प्रो. भट्टाचार्य यह भूल जाते हैं कि दो वैकल्पिक दार्शनिक दृष्टियों में तुलना नहीं हो सकती क्योंकि यह स्थापना भी तुलना के पश्चात् ही निर्धारित होती है। यह बात सही है कि दो भिन्न और वैकल्पिक दृष्टियों को 'दृष्टि-व्यवस्था' (*क्लोज व्युप्वाइंट*) के परिप्रेक्ष्य में केवल आरोपित वर्गीकरण के माध्यम से एकीकृत नहीं किया जा सकता, लेकिन 'दृष्टि-सम्प्लव' (*ओपेन व्युप्वाइंट*) के परिप्रेक्ष्य में इस सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता कि वैकल्पिक दार्शनिक दृष्टियों का प्रकट भेद और अप्रकट समानता किसी एक ही मूल पर प्रतिष्ठित हैं। अतः तुलनात्मक दर्शन में वैकल्पिकता के द्वन्द्व

का उपशमन, वास्तव में, वैकल्पिक दृष्टियों के मूल में एकता के अतिक्रामी आधार के अन्वेषण में होता है। ऐसे आधार का अन्वेषण वैकल्पिक दार्शनिक दृष्टियों पर तुलनात्मक विमर्श के द्वारा ही सम्भव है। यद्यपि सभी प्रकार की तुलनाएँ भिन्न-भिन्न विकल्पों में किसी समानता के दर्शन से आरम्भ होती है, परन्तु सभी प्रकार की समानताएँ तुलना के लिए सार्थक आधार नहीं होती है। तुलनात्मक दर्शन की दृष्टि से केवल वही तुलनाएँ सार्थक होती हैं जिनकी प्रेरणा किसी ऐसे मूल लक्षण या आधार की संकल्पना के साथ होती है, जो भिन्न-भिन्न वैकल्पिक दृष्टियों के प्रकट भेदों के मूल में रहते हुए उनको धारण करता है। इस प्रकार की तुलना के लिए दो या दो से अधिक तुलनीय दर्शनों की निजी अभीप्साओं एवं उनकी तार्किक संरचनाओं की सम्यक् जानकारी बहुत आवश्यक है। अन्यथा, तुलना किसी भ्रान्त आधार के आक्षेप से भी संचालित हो सकती है। कभी-कभी दो दर्शनों की निजी अभीप्साओं में पर्याप्त भेद होते हुए भी उनकी तार्किक संरचना में अद्‌भुद समानता होती है। इसी तरह दो दर्शनों में अभीप्सा-मूलक समानता होते हुए भी उनकी तार्किक संरचनाओं में पर्याप्त भेद हो सकता है। उदाहरण के लिए, वसुबन्धु और बर्कले दोनों के दर्शन में बाह्यार्थ निषेध की तार्किक संरचना में पर्याप्त समानता देखी जा सकती है लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि दोनों के अभीप्सा-मूलक अभिनिवेश में भी उतनी ही समानता हो। वास्तव में, तुलनात्मक दर्शन एक प्रौढ़ दार्शनिक कृत्य है । यह दर्शनों के दर्शन के रूप में विमर्शात्मक चेतना में पुनर्विमर्श है।

स्वातन्त्र्योत्तर युग के भारतीय दार्शनिकों में यशदेव शल्य[७] ने तुलनात्मक दर्शन के अभिनिवेश को गोएटे के मूल वानस्पतिक आकृति (*आर्केटाइप*), नोम चोम्स्की के मूल व्याकरण (*डीप ग्रामर*) और रुडोल्फ कार्नप के तार्किक वाक्य रचना (*लॉजिकल सिंटेक्स*) तथा भर्तृहरि के परावाक् का जो निहितार्थ है, उससे जोड़ने का प्रयास किया है । वास्तव में उपर्युक्त सिद्धान्तों के अभिनिवेशों के अनुरूप ही तुलनात्मक दर्शन के अभिनिवेश को समझा जाना चाहिए। इस आधार पर उनका यह कहना अत्यन्त ही समीचीन है कि "तुलनात्मक दर्शन का कार्य विभिन्न दार्शनिक प्रत्यत्नों और स्थापनाओं में तुलना के माध्यम से उस आधार तत्त्व का सन्धान करना होना चाहिए जो इन प्रयत्नों की भिन्नता को धारण करता है"[८]

४

इस प्रकार हम देखते हैं कि वास्तव में तुलनात्मक दर्शन का अवधारणात्मक अभिनिवेश विमर्शात्मक चिन्तन के पुनर्विमर्श में होता है। दर्शन, जो अपने आप में विमर्शात्मक होने से स्वचेतन व्यापार है, हमारे अवचेतन आग्रह का ग्रास बनकर विषय-मूलक व्यवस्थाओं के इतिहास में रूपान्तरित हो जाता है। यही दर्शनों के प्रतिबद्ध

बनने का ऐतिहासिक रहस्य है। तुलनात्मक दर्शन, दर्शनों के इतिहास के ऐसे ही अवचेतन आग्रह के पुनर्विमर्श के द्वारा उन्हें स्वचेतन के प्रकाश से प्रकाशित करता है। स्वचेतना के प्रकाश में फिर से प्रकाशित दर्शनों का इतिहास एक आधार दर्शन की चेतना में अवगमन है जो पुनः वस्तुनिष्ठता के हमारे अवचेतन आग्रह का ग्रास होकर एक दृष्टि का रूप धारण नहीं करता। अतएव तुलनात्मक दर्शन ही सही अर्थों में शुद्ध दर्शन है। इसका विमर्शात्मक स्वरूप कभी विकृत नहीं होता। इस ' दर्शनों का दर्शन ' - एक आधार दर्शन - का सन्धान किसी वैकल्पिक दार्शनिक दृष्टि को फिर से प्रभावित करना नहीं है। यह अपने विशुद्ध स्वरूप में अधिदर्शनात्मक विमर्श, तुलनात्मक दर्शन का अतिक्रामी आदर्श है।

सन्दर्भ-ग्रंथ और टिप्पणियाँ

१. *इमैनुएल काण्ट : क्रिटीक ऑफ प्योर रीजन, एन.के. स्मिथ, (अनु.), लन्दन, मैकमिलन, १९२९, पृ. ३१० ।*

२. *प्रतापचन्द्र : कॉम्परेटिव फिलॉसोफी ......, आन्वीक्षिकी, अंक (१)२, १९८७, दर्शन एवं धर्म विभाग, बी.एच.यू., पृ. १९५ ।*

३. *उद्धृत् - जे.एल. मेहता : कविकर्म और चिन्तन, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, पृ. ३१ ।*

४. *उद्धृत् - पी.टी. राजू : इन्ट्रोडक्शन टू कॉम्परेटिव फिलॉसोफी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ. २८३ ।*

५. *डेकार्त : द प्रोजेक्ट ऑफ प्योर इनक्वायरी, पेंग्विन बुक्स, १९५८, पृ. ९ ।*

६. *दयाकृष्ण, (सं.) : द फिलॉसोफी ऑफ कालिदास भट्टाचार्य, आई.पी.क्यू. पब्लिकेशन, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे, पृ. १७० ।*

७. *यशदेव शल्य : चिद्विमर्श, दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर, पृ. ११० ।*

८. *वही, पृ. १११ ।*

तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा एवं पद्धति विमर्श का ऐतिहासिक सन्दर्भ

रजनीश कुमार शुक्ल

तुलना करना तथा चुनना मनुष्य का स्वभाव है, सामान्यतः तुलना चुनाव के सन्दर्भ में ही होती है अथवा यह कहा जा सकता है कि मनुष्य जब कुछ चुनता है तो वस्तुतः वह तुलना कर रहा होता है। किन्तु यह तुलनात्मक अध्ययन के सन्दर्भ में उस प्रकार लागू होने वाले तथ्य नहीं हैं जैसा कि अन्य मानवीय व्यवहार के सम्बन्ध ा में। विविध विद्या-स्थानों के तुलनात्मक अध्ययन अत्यन्त स्वाभाविक हैं। प्राकृतिक विज्ञानों अथवा विधायक विज्ञानों में तुलनात्मक अध्ययन अत्यन्त सरल है क्योंकि एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ से भेद और साम्यता का निर्धारण मात्र ही इस प्रकार की तुलना का हेतु होने के कारण अधिक कठिनाई वाला हो ही नहीं सकता है। इसी तरह जीवन विज्ञान अथवा जैव विज्ञान के सम्बन्ध में भी इस प्रकार का अध्ययन जीवों के बीच पारस्परिक भेद, साम्य तथा जैव विकास के निर्धारण में सहायक है किन्तु इसमें भी प्रेक्षक की तटस्थता या निर्लिप्तता के कारण अध्ययन कार्य सरल है। किन्तु सांस्कृतिक विज्ञानों के सन्दर्भ में यह अत्यन्त क्लिष्ट कार्य है क्योंकि अध्ययन की सामग्री सांस्कृतिक, सामाजिक परिवेश से निर्मित और प्रभावित होती है तथा अध्ययनकर्ता भी इससे अछूता तथा व्यतिषङ्ग नहीं रह सकता। व्यतिषक्त अध्येता से निरपेक्ष तुलनात्मक अध्ययनों की अपेक्षा नहीं की जा सकती है, फलतः सांस्कृतिक विद्याओं के सन्दर्भ में विशिष्ट अध्ययन पद्धति का विकास मानव स्वभाव के कारण होने वाला आवश्यक एवं ऐतिहासिक परिणाम है। दर्शन के सन्दर्भ में यह कठिनाई और अधिक हो जाती है। यह कठिनाई तब और बढ़ी हुई दिखाई देती है जब ध्यान में आता है कि तुलनात्मक दर्शन मात्र एक प्रविधि अथवा उपकरण ही नहीं है जो अपनी उत्पत्ति की दृष्टि से परिवेश से असम्बद्ध है तथा किसी मशीन की भाँति इतिहास विहीन। यह एक ऐसी चिन्तन प्रणाली है जो विविध सांस्कृतिक एवं वैचारिक समूहों के पारस्परिक संघात् एवं संवाद से विकसित होती है। अतः इसका एक क्रमबद्ध इतिहास लिखा जा सकता है और इस दिशा में प्रयास होने भी चाहिए। तुलनात्मक दर्शन विचारों की तुलना है, अतः इसमें सहभागपूर्वक तटस्थता, इस विचार करने की विधि की अपेक्षा है। अतः ऐसे संभावित दृष्टिकोणों पर विचार आवश्यक एवं अपेक्षित है।

वस्तुत: पद्धतिगत तुलनात्मक अध्ययन एक प्रकार की युरोपीय अवधारणा है जो कि पश्चिम में दो अन्य तुलनात्मक अध्ययनों - तुलनात्मक भाषा विज्ञान एवं तुलनात्मक धर्म - की उत्तरवर्ती है। तुलनात्मक दर्शन की सरंचना, विधि, लक्ष्य एवं उपलब्धियों के वास्तविक स्पष्टीकरण के लिये इनके पारस्परिक सम्बन्धों और निर्भरताओं को भी स्पष्ट करना आवश्यक है। इन तीनों ही का उदय भारतीय भाषाओं, सभ्यता, धर्म और दर्शन का पश्चिमी तरीके से अध्ययन के प्रयासों का स्वाभाविक परिणाम है। अत: इस पर विचार करते हुए भारतीय सन्दर्भों एवं भारतीय चित्त, मानस एवं काल की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती है ।

जहाँ तक तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का प्रश्न है, यह मुख्यत: संस्कृत को युरोपीय परिवार की भाषा के रूप में समझने के लिये हुए अध्ययनों का स्वाभाविक विकास है। भाषा के क्षेत्र में वस्तुनिष्ठ मानकों की उपलब्धता के कारण इस प्रकार के निर्णय दिये जाने संभव हैं जिन्हें 'वस्तुनिष्ठ सत्य' के रूप में स्वीकृत करने में कोई विवाद नहीं रहता है।

भाषा विज्ञान के समान ही तुलनात्मक धर्म का अभ्युदय भी भारतीय एवं युरोपीय धर्मों के बीच हुए युरोपीय अध्ययनों का विकास है। किन्तु तुलनात्मक भाषा विज्ञान से उलट इसकी अध्ययन सामग्री ऐसी है जो कि अपने-अपने धर्मों के अनुयायियों के लिये पूर्णतया सत्य होती है। इस प्रकार के अध्ययन में तटस्थता की संभावनायें अत्यन्त कठिन हो जाती हैं। इसी प्रकार तुलनात्मक धर्म के क्षेत्र में सत्य की समस्या खड़ी होती है जो कि आपातत: तुलनात्मक धर्म के अध्ययन को आत्मनिष्ठता के दोष से ग्रस्त कर देती है। तुलनात्मक दर्शन के क्षेत्र में कठिनाइयाँ और गम्भीर हैं। क्योंकि तुलनात्मक भाषा विज्ञान अथवा तुलनात्मक धर्म में स्वयं के भाषा अथवा धर्म होने की कोई संभावना नहीं है। इसके विपरीत तुलनात्मक दर्शन में दर्शन पद इस बात की बाध्यता उत्पन्न करता है कि यह दर्शन के प्रत्ययों पर ही आधारित हो। दर्शन पद की अवधारणात्मक संरचना ही स्वयं दर्शन नामक विद्या-स्थान की सर्वाधिक गंभीर समस्या है। परिणामत: यह और अधिक कठिनाई से युक्त हो जाता है। यदि इस बात का निषेध कर दिया जाये कि तुलनात्मक दर्शन, दर्शन का कोई आयाम अथवा अंश है तो स्थिति सरलीकृत हो जाती है। किन्तु ऐसे अध्ययन की इयत्ता ही प्रश्न युक्त हो जायेगी। अतएव, अचेतन पूर्वाग्रहों के प्रभाव के अनिवार्य खतरे के होते हुए भी तुलनात्मक दर्शन के महत्व का प्रश्न, इस प्रकार के निरूद्देश्य एवं निर्जीव अध्ययन से, पूरा नहीं हो सकता। यह, समस्या पर दार्शनिक ढंग से विचार करने तथा अवधारणीकृत करने के लिये बाध्य करता है।

यद्यपि तुलनात्मक दर्शन के सम्बन्ध में अब तक उपलब्ध साहित्य इसके महत्व को दर्शाता तो है किन्तु यह भी सत्य है कि तुलनात्मक दर्शन में सत्य के स्वरूप एवं स्थान के सम्बन्ध में इस प्रकार के प्रश्न सामान्यत: न तो उठाये गये हैं और न ही पूछे गये हैं। किन्तु मैं अपनी विचार चर्चा के प्रारम्भिक भाग में ही यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि यदि तुलनात्मक दर्शन सत्य मूल्य को हटा कर मात्र प्राकृतिक विज्ञानों के समान तुलना की विधि है तो इसका कोई अर्थ नहीं है और यह पूर्णत: निरर्थक क्रिया है।

यदि यह स्वीकार किया जाये कि तुलनात्मक दर्शन भी दर्शन है, इसमें सभी सत् सम्बन्धी प्रश्न अपनी समस्त रहस्यात्मकता के साथ उसी प्रकार उत्पन्न होते हैं जिस प्रकार अन्य दर्शनों में, तो इस पर चर्चा की जा सकती है। वह इसलिये कि ऐसी ही स्थिति में तुलनात्मक दर्शन, तुलनात्मक धर्म अथवा तुलनात्मक भाषा विज्ञान की अपेक्षा विशिष्ट स्थिति प्राप्त करता है। जहाँ भाषा विज्ञान में सत् मूल्य के प्रश्न खड़े ही नहीं होते वहीं धर्म के क्षेत्र में तुलनात्मक अध्ययन की कठिनाई अध्येता कीं अपने धर्म के प्रति बद्धमूल धारणायें हैं। दर्शन के क्षेत्र में ऐसा नहीं है। यहाँ पर किसी प्रकार की बद्धमूल धारणा का प्रश्न खड़ा नहीं होता है। इसके विपरीत उदारता तथा स्वातन्त्र्य ही दार्शनिक चिन्तन के धरातल का निर्माण करता है। अत: दर्शन के रूप में तुलनात्मक दर्शन के उपपादनों पर विचार सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं।

इस प्रश्न पर भारतीय दिशा सन्दर्भो के आलोक में विचार अपेक्षित है क्योंकि पहले ही स्पष्ट कर चुका हूँ कि तुलनात्मक दर्शन का विकास पश्चिम और भारत के सम्मिलन का परिणाम है। किन्तु दर्शन के सांस्कृतिक विद्या होने के कारण इससे सांस्कृतिक परिवेश-निरपेक्षता संभव नहीं होती, यद्यपि युक्तियुक्तता, तटस्थता एवं निरपेक्षता दार्शनिक चिन्तन की स्वाभाविक माँग है। यही कारण है कि भारत में तुलनात्मक दर्शन के सम्बन्ध में लगभग १६० वर्षो का स्पष्ट इतिहास प्राप्त होने के बाद भी इसकी विधि पर व्यापक चर्चा नहीं दिखायी देती है। फलत: कई प्रकार की तुलनात्मक पद्धतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। और इन सब पर व्यापक विचार भी अपेक्षित है। वस्तुत: १८३५ के बाद कलकत्ता, इलाहाबाद और बनारस में भारतीय दर्शनों का पश्चिमी तौर-तरीको से अध्ययन का एक क्रम प्रारंभ हुआ। इस काल खण्ड में प्रो. गफ, प्रो. जी. थीबो, प्रो. वैलेण्टाइन आदि विचारको ने इस कार्य की शुरूआत की। इसका निदर्श प्रो. जे. आर. वैलेण्टाइन के *न्याय कौमुदी* के प्रारंभिक श्लोक में देखा जा सकता है, जहाँ वे कहते हैं कि हम ब्रिटिश एवं गौतम के विचारों की तुलनात्मक विवेचना कर रहे हैं।

यन्मतमिण्लैण्डीयानां मतं यद् गौतमस्य च।
तयोः साम्य विरोधश्च विषयेऽत्र विविच्यते।।

किन्तु यह भी सत्य है कि तुलनात्मक दर्शन का अध्ययन १९वीं शताब्दी में हुए ब्रिटिश पार्लियामेंट की बहस १८१३ के आलोक में ही केन्द्रित रहा और वस्तुतः यह दो संस्कृतियों के बीच में आपसी समझ को बढ़ाने अथवा तुलनात्मक दर्शन के अध्ययन के माध्यम से सार्वभौमिक इतिहास अथवा ब्रह्माण्ड के प्रति एक सार्वभौमिक दृष्टि का निर्माण तो कत्तई नहीं था, जैसा कि तुलनात्मक दर्शन पर पश्चिम में लिखी गई प्रथम पुस्तक *द फिलॉसोफी कॉम्पेयर* में पॉल मैसन ऑवरसेल ने आकांक्षा प्रकट की थी। इसके विपरीत भारत में पश्चिमी लोगों के द्वारा प्रवर्तित यह अध्ययन धारा युरोपीय श्रेष्ठता के प्रतिपादन का एक माध्यम बनी।

शायद यह भी कारण हो सकता है कि तुलनात्मक दर्शन की जो युरोपीय धारा इस देश में विकसित हुई वह अपनी सांस्कृतिक बाध्यताओं या अपने दर्शन की अवधारणात्मक योजना के कारण भारतीय दर्शन की स्पष्ट समझ बना सकने में असफल रही। क्योंकि भारतीय विचार के सन्दर्भ में केन्द्रित होकर सोचा जाय तो यह स्पष्ट रूप से ध्यान में आयेगा कि युरोपीय परिवेश में दर्शन और धर्म के सम्बन्ध में जिस प्रकार की परिभाषाओं का निर्माण हुआ है वे भारतीय दर्शन एवं धर्म की वैचारिक योजना के साथ सफलतापूर्वक संवाद नहीं स्थापित कर सकता है। यही कारण है कि १९वीं शताब्दी में पश्चिम के द्वारा तुलनात्मक अध्ययनों के पश्चात् भारतीय दर्शन पर जो प्रश्न उठाये गये थे अथवा जो आरोप लगाये गये उनका बीसवीं शताब्दी में भारतीय दार्शनिकों के द्वारा प्रत्युत्तर का प्रयास किया गया और यह समग्र प्रत्युत्तर पश्चिम को समझाने की दृष्टि से पश्चिमी पदावली में ही दिया गया।

जैसा कि पूर्व में ही स्पष्ट करने का प्रयास कर चुका हूँ कि दर्शन में तुलनात्मक अध्ययन भौतिक शास्त्र के क्षेत्र में किये जाने वाले तुलनात्मक अध्ययन की तरह साधारण कार्य नहीं है। क्योंकि किन्हीं दो भौतिक शास्त्रियों के बीच सहमति, असहमति, समानता, असमानता का स्तर वही नहीं होता है जो दो दार्शनिकों के बीच होता है। वह इसलिये है क्योंकि भौतिकशास्त्री अथवा समस्त विधायक विज्ञानवेत्ता एकीकृत सार्वभौमिक भाषा का प्रयोग करते हैं और उनके ऊपर सांस्कृतिक परिवेश की बाध्यतायें लागू नहीं होती, जबकि दर्शन के क्षेत्र में सांस्कृतिक परिवेश से मुक्ति पाना सरल नहीं होता है।

अतः यह स्वीकार करना होगा कि तुलनात्मक दर्शन का उद्देश्य दो सांस्कृतिक

समूहों के बीच समझ को बढ़ाना है न कि दोनों के बीच किसी किस्म का एकीकरण करना है। दर्शन के क्षेत्र में इस प्रकार की कल्पना करना कि किसी ऐसी विधि का निर्माण किया जा सकता है जिसके द्वारा दार्शनिक अवधारणाओं पर संस्कृति मुक्त, वस्तुनिष्ठ विचार किया जा सकेगा उसी प्रकार निरर्थक होगा जिस प्रकार विधायक विज्ञानों के क्षेत्र में तुलनात्मक विज्ञान। वह इसलिये है क्योंकि इस प्रकार का दर्शन जो कि अपनी प्रविध्यात्मक योजना से विज्ञान हो जायेगा - एक ही प्रकार का आदर्श - पारस्परिक समझ को एक-रस बना देगा। अर्थात् तुलनात्मक दर्शन का अस्तित्व विविध प्रकार के दार्शनिक दृष्टिकोणों और मतवादों के होने पर ही सार्थक है। अथवा मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि जब तक पूरब-पूरब तथा पश्चिम-पश्चिम के रूप में अलग-अलग हैं तभी तक तुलनात्मक दर्शन संभव है। यह भी कहा जा सकता है कि अभी तक का तुलनात्मक दर्शन का इतिहास यदि कोई है तो वह युरोपीय लोगों के द्वारा किये गये अध्ययनों का ही इतिहास है, इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि तुलनात्मक दर्शन बीसवीं शताब्दी के युरोपीय दर्शन की एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है। यही कारण है कि तुलनात्मक दर्शन की प्रणाली स्वभावतया आधुनिक युरोपीय दर्शन से प्रकट-अप्रकट रूप से जुड़ी हुई है और स्पष्टत: कोई भी व्यक्ति तुलनात्मक अध्ययन के क्षेत्र में स्वच्छन्दता के साथ कुछ भी चुनने तथा किसी प्रकार से अध्ययन करने के लिये स्वतन्त्र नहीं हैं। अपितु अभी तक के समस्त अध्ययन युरोप के द्वारा प्रस्तावित दार्शनिक आयामों, प्रकारों अथवा अवधारणाओं के आलोक में ही समझने की बाध्यता प्रस्तुत करते हैं।

इसके परिणाम वैश्विक स्तर पर अत्यन्त गम्भीर भी रहे हैं। आज अफ्रीकी दर्शनों का अस्तित्त्व समाप्त हो गया है। भारतीय दर्शन को, आज भी, युरोपीय दार्शनिक अनेक प्रतिबन्धों के साथ ही दर्शन स्वीकार करते हैं। शायद ऐसा इसलिये है क्योंकि तुलनात्मक अध्ययन के क्षेत्र में भाषा एक सशक्त माध्यम है। दर्शन में प्रयुक्त होने वाले भाषायी प्रतीक मात्र तथ्यों या वस्तुओं को संकेतित नहीं करते हैं अपितु इनके माध्यम से सांस्कृतिक चेतना भी संकेतित होती है। इसके साथ ही यह बात भी ध्यान रखने की है कि कभी दार्शनिक अध्ययन इतिहास मुक्त नहीं होता है। क्योंकि विचार, शून्य से नहीं इतिहास के समेकित अनुभव से नि:सृत होते हैं। युरोपीय प्रभुत्व का परिणाम ही है कि एशियाई एवं अफ्रीकी दार्शनिक प्रस्थानों को इस बात के लिये लम्बी जद्दोजहद करनी पड़ी है कि युरोपीय दर्शन से प्रकारात्मक भिन्नता के होते हुए भी वे सभी दर्शन नामक विद्या-स्थान के ही भाग हैं।

इसी सन्दर्भ में, दर्शन के क्षेत्र में, तुलनात्मक अध्ययन का महत्व स्पष्ट होता है। अत: हमें तुलनात्मक दर्शन पर विचार करते समय इसका प्राच्य सन्दर्भ हमेशा ध्यान में रखना चाहिए। यह प्राच्य सन्दर्भ सामान्यतया चार बिन्दुओं के आलोक में समझा जा सकता है : तुलनात्मक मान चेतना, अस्तित्वात्मक प्रवृत्ति, ऐतिहासिक वैशिष्ट्य, वृत्यात्मक पद्धति। किन्तु क्या तुलना के सन्दर्भ में मानक चेतना की आवश्यकता है ? इसी कारण दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में कठिनाई आती है क्योंकि किसी तृतीय दर्शन को मानक चेतना के रूप में स्वीकृत नहीं किया जा सकता, और प्रथम या द्वितीय को मानक स्वीकार करने पर किसी एक के प्रभुत्व को स्वीकार करना अवश्यंभावी हो जाता है। वस्तुत: यह इसलिये है क्योंकि तुलनात्मक दर्शन का मॉडल १९वीं शताब्दी के मध्य में अंग्रेजो के द्वारा निर्मित किया गया है और इसका निर्माण ही सोद्देश्य हुआ था। बाद के भारतीय विचारकों ने जीवन का, सभ्यता का और दार्शनिक चिन्तन का वही मॉडल सार्वभौम एवं अन्तिम मान करके स्वीकार किया। परिणामत: उससे छुटकारे की कल्पना भी कठिन लगी।

जबकि सत्य यह है कि मानव जाति विविधतापूर्ण ही है और उसके इतिहास एवं स्वरूप पर अनुसंधान का कार्य भी अनवरत चलने वाली घटना है। प्रत्येक सांस्कृतिक समूह या सभ्यता अपनी ऐतिहासिक स्मृति एवं विशिष्टताओं को अपने ढंग से जीवित रखना चाहता है। इस स्मृति का बने रहना ही किसी विचार को अधिप्रमाणित करता है। स्मृति रहित चिन्तन अधिप्रामाण्य रहित कथन या चिन्तन हो जाता है। इसके साथ ही सभ्यताओं में एक प्रकार की वृत्यात्मक गति भी पाई जाती है। जिससे उनमें पारस्परिक आदान-प्रदान संभव हो पाता है - प्रभाव ग्रहण करना और सम्प्रेषित करना ये निरन्तर चलने वाली घटनाएँ हैं। इसका तात्पर्य यह है कि सभ्यताओं में अपने अस्तित्व के सरंक्षण की जो प्रवृत्ति है उसका अपलाप करके पश्चिमी विचारों के आलोक में विविध दार्शनिक परंपराओं को नहीं समझा जा सकता है।

इस प्रकार तुलनात्मक दर्शन के क्षेत्र में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ हैं। प्रारंभिक दिनों में इन कठिनाइयों को दूर करने के रास्ते तलाशने की दिशा में प्रयास हुए थे और उन प्रयासों का भी अपना महत्व है। इसको इस उदाहरण के साथ समझा जा सकता है कि वैलेण्टाइन, गफ प्रभृति विद्वानों ने यदि भारतीय दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन पश्चिम के दार्शनिक चिन्तन के आलोक में करने के प्रयास किए तो दूसरी ओर भारतीय दर्शन की अध्ययन विधि, विशेषत: पण्डितों के अध्ययन-अध्यापन की विधि, को पश्चिम के लोगों के लिये प्रस्तुत करने के प्रयास भी किये गये। इस प्रकार

दर्शन के क्षेत्र में तुलनात्मक अध्ययन को आगे बढ़ाने के लिये अपने प्रयास के अनुरूप सहायक सामग्री भी विकसित करने के प्रयास भी किये गये। किन्तु आज विविध प्रकार के विद्या-स्थानों के विकास के परिणाम स्वरूप जितनी प्रकार की सूचनाएँ उपलब्ध हैं उनको संकेतिक करते हुए दर्शन के क्षेत्र में तुलनात्मक अध्ययन को विकसित करने का कोई प्रयास होता नहीं दिखाई दे रहा है।

वस्तुत: भारतीय दर्शन के क्षेत्र में तुलनात्मक अध्ययन को ठीक दिशा में चलाने के लिये *'इण्डोलॉजी'* (भारतीय-विद्या) की संज्ञा से भी मुक्ति पानी होगी। यहाँ यह कहना विषय से कतई भटकना नहीं होगा कि तुलनात्मक अध्ययन के क्षेत्र में *रायल बंगाल एशियाटिक सोसाइटी* जैसी संस्थाओं का महनीय योगदान माना जाता है। इसी से जुड़े एक विद्वान राजेन्द्रलाल मित्र भारत को इग्लैण्ड जैसा तथा भारतीयों को अंग्रेजों जैसा बनाये जाने के लिये फिक्रमन्द होकर पाश्चात्य चिन्तन के आलोक में भारतीय विचारों का अध्ययन कर रहे थे। यह किसी प्रकार का दोषारोपण नहीं है किन्तु भारत के तत्कालीन बौद्धिक वर्ग की मनोदशा एवं परिवेश के प्रतिनिधि रूपों को संकेतित करना मात्र है।

वस्तुत: तुलनात्मक अध्ययनों का भारतीय इतिहास पराजित भारतीय चिन्तन का इतिहास है। इसे दूर करते हुए तथा यह स्वीकार करने के साथ कि ऐतिहासिक अध्ययन दृष्टिकोण मुक्त नहीं होते, नयी गौरव-दृष्टि के साथ अध्ययन की शुरूआत करना, इस कालखण्ड की आवश्यकता है।

तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा

सजीवन प्रसाद

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की कार्यकारिणी समिति के पदाधिकारियों के प्रति मैं आभार व्यक्त करना चाहूँगा जिन्होंने परिषद् के अधिवेशन पचमढ़ी के लिए प्रणवानन्द तुलनात्मक दर्शन व्याख्यान-माला हेतु एक वक्ता के रूप में मेरा चयन किया। इस व्याख्यान में मैंने तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा का विश्लेषण अपने ढंग से करने का प्रयास किया है जिसमें तुलनात्मक दर्शन का स्वरूप, संभावना एवं आवश्यकता का वर्णन करने का लक्ष्य बनाया गया है।

तुलनात्मक दर्शन का शाब्दिक अर्थ कोई भी दार्शनिक क्रिया या बौद्धिक प्रयास लगाया जा सकता है। फिर, ऐसा दर्शन जिसका उदय या विकास अन्य दर्शनों की तुलना द्वारा होता है उसे तुलनात्मक दर्शन कहा जाता है। यहाँ पर दोनों ही अर्थों में, तुलना किये गये दर्शन एक ही परम्परा के दो दर्शन हो सकते हैं या उस परम्परा के एक ही अवधि के दो दर्शन हो सकते हैं। उदाहरण स्वरूप, कांट और हेगेल के दर्शनों, मूर एवं रसल के दर्शनों, प्राच्य एवं पाश्चात्य दर्शनों की तुलना की जा सकती है। यद्यपि इस प्रकार दो दर्शनों की तुलना की जाती है फिर भी इस दार्शनिक क्रिया को तुलनात्मक दर्शन कहने में अनेक समस्याएँ आती हैं क्योंकि यह तुलनात्मक दर्शन का वृहत् अर्थ है। अतः तुलनात्मक दर्शन के वास्तविक अर्थ, स्वरूप, संभावना एवं आवश्यकता को स्पष्ट करने हेतु इसे सीमाबद्ध करने की आवश्यकता पड़ती है। इस सन्दर्भ में तुलनात्मक दर्शन को दार्शनिक अनुशासन माना जा सकता है जिसके अन्दर रहकर प्राच्य और पाश्चात्य दर्शनों की तुलना की जाती है। प्राच्य और पाश्चात्य दर्शन एक दूसरे के समीप आने की आकांक्षा रखते हैं क्योंकि दोनों दर्शनों का लक्ष्य मानव, विश्व और विश्व में मानव की व्याख्या करना है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि तुलनात्मक दर्शन क्या नहीं है। यहाँ पर संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि तुलनात्मक दर्शन तुलनात्मक पुराण-विद्या नहीं है, तुलनात्मक संस्कृति नहीं है, तुलनात्मक भाषा-विषयक नहीं है, तुलनात्मक राजनीति नहीं है। यद्यपि कि ऊपर वर्णित तुलनाओं से तुलनात्मक दर्शन प्रेरणा लेता है परन्तु उक्त तुलनात्मक प्रयासों में तुलनात्मक दर्शन एक नहीं है। तुलनात्मक दर्शन एक विशिष्ट प्रकार का अनुशासन है और प्रमुख रूप से इसका संबंध विभिन्न दार्शनिक संप्रत्ययों तथा सिद्धान्तों से है।

तुलनात्मक दर्शन का उदय मुख्य रूप से २०वीं शताब्दी में माना जाता है जब जर्मनी में उत्तर-कांट के प्रत्ययवादी विचारों की तुलना वेदान्त के विचारों से की गयी

और तकनीकी रूप में तुलनात्मक दर्शन का अर्थ प्राच्य और पाश्चात्य दर्शनों की तुलना ही निर्धारित किया गया। विश्लेषण करने पर यह पाया गया कि प्राच्य और पाश्चात्य की भिन्नता एकांगिकता की सूचक है। अतः दोनों दर्शनों के बीच समन्वय या सामन्जस्य की आवश्यकता महसूस हुई।

तुलनात्मक दर्शन की आवश्यकता स्पष्ट करने के सन्दर्भ में इस दर्शन के अस्तित्व के ही संबन्ध में शंकाएं उठायी गयीं हैं जिसके फलस्वरूप यह विचार मस्तिष्क में आने लगता है कि क्या तुलनात्मक दर्शन संभव है ? प्राच्य और पाश्चात्य दोनों दार्शनिकों द्वारा तुलनात्मक दर्शन की आवश्यकता महसूस किए जाने के कारण इस दर्शन की संभावना बनती है। फिर भी, यहाँ पर उपर्युक्त शंकाओं को देखना समीचीन हो जाता है।

प्रायः यह कहा जाता है कि तुलनात्मक दर्शन में सम्बद्धता का अभाव है। ऐसा कहने का अभिप्रायः यह होता है कि तुलनात्मक दर्शन की कोई प्रणाली नहीं है या जो तुलनात्मक दर्शन की बात करते हैं उनका दृष्टिकोण सम्बद्ध नहीं होता है या उन्होंने एक सामान्य पद्धति को विकसित नहीं किया है या उन्होंने इसके सामान्य उद्देश्य को परिलक्षित नहीं किया है। परन्तु यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि यद्यपि तुलनात्मक दर्शन, अरस्तु के दर्शन की भाँति, दर्शन की एक प्रणाली नहीं है, फिर भी इसे दर्शन की एक प्रणाली प्राप्त करने की ओर अग्रसर माना गया है और इस आधार पर तुलनात्मक दार्शनिकों ने प्राच्य और पाश्चात्य दृष्टिकोणों पर विचार करना प्रारम्भ किया। फिर भी यह कहा जा सकता है कि कोई भी प्रणाली तुलनात्मक दर्शन नहीं हो सकती है क्योंकि प्रणाली को तुलनात्मक दर्शन का एक प्रतिफल माना गया है। यह भी सत्य है कि जो तुलनात्मक दर्शन कर रहे हैं उनके बीच तुलनात्मक दर्शन के दृष्टिकोणों, पद्धतियों एवं उद्देश्यों को लेकर मतैक्य नहीं देखा जाता है, फिर भी, चूँकि प्राच्य और पाश्चात्य दार्शनिक विचारों के लिए परस्पर समझ, और मतैक्य की आवश्यकता को व्यक्ति, राष्ट्र एवं दार्शनिकों द्वारा महसूस किया गया, इसलिए प्राच्य और पाश्चात्य दार्शनिकों ने दोनों दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन में अपनी-अपनी अभिरूचि दिखाना प्रारम्भ किया। उनकी यह अभिरूचि मात्र शैक्षणिक न होकर व्यावहारिक हो गयी। जिसका परिणाम यह देखा गया कि धार्मिक मानव, राजनीतिज्ञ, कूटनीतिज्ञ एवं राज्यदर्शी तुलनात्मक दर्शन की व्याख्या अपनी-अपनी अभिरूचि के अनुसार अपने-अपने ढंग से करने लगे। इस अभिरूचि का मुख्य आधार मानव तथा मानवतावाद बना। यहाँ पर प्राच्य एवं पाश्चात्य दार्शनिकों में अपने एवं दूसरे से सम्बन्धित सत्य को समझने और जानने की इच्छा जागृत हुई। इससे यह स्पष्ट होता

है कि तुलनात्मक दर्शन संभव है क्योंकि इसकी आवश्यकता मानव के लिए निर्धारित की गयी है। फिर भी कुछ महत्वपूर्ण शंकाओं एवं उनके समाधान के संबंध में विचार किया जा सकता है।

होनोलुलु, हवाई में १९३९ में प्राच्य और पाश्चात्य दार्शनिकों का एक सम्मेलन हुआ जिसकी कार्यवाही पुस्तिका में यह टिप्पणी दर्ज की गयी कि तुलनात्मक दर्शन न तो संभव है और न वांछनीय है, जिसका कारण बताया गया कि प्राच्य दर्शन, जैसे भारतीय दर्शन, आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक हैं जबकि पाश्चात्य दर्शन बौद्धिक एवं ऐहलौकिक है, अत: दोनों के बीच तुलना करना संभव नहीं है। यह भी कहा गया कि अगर इस असंभाव्यता को संभव दिखाया जाता है तो भी तुलनात्मक दर्शन वांछनीय नहीं है क्योंकि दर्शनशास्त्र का संबंध संप्रत्ययों से है और संप्रत्ययों का एक दूसरे से तुलना करने का अर्थ होता है कि एक संप्रत्यय दूसरे संप्रत्यय के अधीनस्थ हो जाता है, एक सिद्धान्त दूसरे सिद्धान्त के अधीनस्थ हो जाता है और इस प्रकार एक दर्शन दूसरे दर्शन के अधीनस्थ हो जाता है। इस प्रकार की शंका विशेषकर भारतीय दार्शनिकों में उत्पन्न हुई क्योंकि पाश्चात्य दार्शनिक भारतीय दर्शन को दर्शनशास्त्र कहने में संकोच कर रहे थे। परन्तु, यहाँ पर अभी इतना ही कह कर इस शंका का समाधान पाया जा सकता है कि अगर प्राच्य और पाश्चात्य दर्शनों की तुलना करने में समन्वयात्मक विचारों को मूल आधार माना जाता है तो वहाँ पर अधीनस्थता का प्रश्न नहीं उठता है।

पुन:, यह कहा जाता है कि जहाँ पर भारतीय दर्शन व्यावहारिक है वहाँ पर पाश्चात्य दर्शन सैद्धान्तिक है। परन्तु ऐसा कहना अतिश्योक्ति होगी। कारण, पाश्चात्य दर्शन कम व्यावहारिक नहीं है। सुकरात, प्लेटो, हेगेल, अरस्तु, कांट का दर्शन एवं अस्तित्ववादी दर्शन व्यवहार-पूरक हैं क्योंकि वहाँ पर क्रमश: नैतिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं मनुष्य के अस्तित्व संबंधी पहलुओं पर बल दिया गया है। इसी प्रकार, भारतीय दर्शन के सर्वोच्च सत्ता का प्रत्यक्ष साक्षात्कार और पाश्चात्य दर्शन के ज्ञान के प्रति अनुराग को हटाकर दोनों के बीच तुलनात्मक अध्ययन को अस्वीकार किया जाता है। परन्तु यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि 'दर्शन' शब्द दृश्य धातु से उद्भूत है जिसका मुख्य अर्थ 'देखना' है परन्तु देखने का अन्य अर्थ भी होता है। यहाँ पर देखने का अर्थ 'समझना' भी होता है। जब हम न्याय-दर्शन और सांख्य-दर्शन की बात करते हैं तो हम यहाँ पर मात्र चक्षु-प्रत्यक्ष और अन्त:प्रज्ञा की बात नहीं करते बल्कि एक दृष्टिकोण या एक प्रणाली की भी बात करते हैं जिसे दार्शनिक दृष्टिकोण या दार्शनिक प्रणाली कहा जाता है। कोई भी दर्शन मात्र एक मध्यस्थताहीन प्रत्यक्ष

नहीं होता बल्कि यह एक दृष्टिकोण, विचार एवं प्रणाली होता है। पाश्चात्य दर्शन को भी सिर्फ ज्ञान के प्रति अनुराग तक सीमित नहीं किया जा सकता। प्लेटो ने अपने दार्शनिक चिंतन में सिर्फ ज्ञान के प्रति अनुराग को ही विकसित नहीं किया बल्कि उन्होंने सिद्धान्तों के समूह को भी विकसित किया। अगर ज्ञान के प्रति अनुराग एक प्रवृत्ति के रूप में पाश्चात्य दर्शन में है तो यह प्रवृत्ति भारतीय दर्शन में भी विद्यमान है। अतः भारतीय दर्शन को सिर्फ दर्शन मानना और पाश्चात्य दर्शन को सिर्फ ज्ञान के प्रति अनुराग मानना एक प्रकार के दोष को जन्म देना होगा जिसे व्युत्पत्ति-विषयक दुष्प्रयोग का दोष कहा जा सकता है।

पुनः, भारतीय दर्शन को मात्र आध्यात्मिक और पाश्चात्य दर्शन को मात्र ऐहलौकिक मानना उचित नहीं होगा क्योंकि चार्वाक दर्शन आध्यात्मिक न हो कर भौतिकवादी है और न्याय, वैशेषिक एवं मीमांसा दर्शन ऐहलौकिक या दुनियावी है। व्यावहारिक स्तर पर मानव जीवन न तो मात्र आध्यात्मिक होता है और न मात्र ऐहलौकिक या दुनियावी होता है, बल्कि यह दोनों होता है, और इस प्रकार आध्यात्मिक और ऐहलौकिक दोनों दार्शनिकों या विचारकों को यह स्मरण दिलाया जाता है कि मानव जीवन की सफलता आध्यात्मिक और ऐहलौकिकता दोनों में निहित है। वास्तव में, आध्यात्मिकता और ऐहलौकिकता मानव जीवन के दो पहलू हैं और दोनों में एक दूसरे का प्रवेश देखा जाता है।

यहाँ पर आवश्यकता इस बात की है कि जब तुलनात्मक दार्शनिक दो संप्रत्ययों या सिद्धान्तों या दर्शनों की समानताओं और असमानताओं को दिखाता है तो ऐसा दिखाते समय उसके मस्तिष्क में एक आधार भी होना चाहिए। कभी-कभी यह आधार दोनों दर्शनों, संप्रत्ययों एवं सिद्धान्तों में भी अन्तर्निहित रहता है। तुलनात्मक दार्शनिक इस अन्तर्निहित आधार को सुव्यक्त करता है। इस क्रिया के द्वारा तुलनात्मक दार्शनिक एक सिद्धान्त को दूसरे सिद्धान्त के, एक संप्रत्यय को दूसरे संप्रत्यय के तथा एक दर्शन को दूसरे दर्शन के अधीनस्थ नहीं दिखाता बल्कि एक दूसरे के बीच वह समन्वय दिखाता है। यहाँ पर अधीनस्थ दिखाना और समन्वय करना दोनों भिन्न क्रियाएँ हो जाती हैं।

दो दर्शनों के बीच तुलनात्मक अध्ययन को और भी सबल और अनिवार्य दिखाने के लिए 'समन्वय' शब्द के स्थान पर 'पूरक' (*कॉम्प्लीमेंटरी*) शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। जैसे, अगर हम कहते हैं कि 'क' 'ख' का पूरक है तो इसका यह अर्थ होता है कि 'क' को पूर्ण होने के लिए 'ख' की आवश्यकता पड़ती है। इसी प्रकार जब यह कहा जाता है कि 'ख' 'क' का पूरक है तो इसका अर्थ यह होता है कि 'ख'

को पूर्ण होने के लिए 'क' की आवश्यकता पड़ती है। इसका यह अर्थ होता है कि 'क' और 'ख' स्वयं में पूर्ण नहीं हैं बल्कि दोनों एक व्यापक संपूर्णता (*होलनेस*) के अंग हैं और 'क' और 'ख' उसी व्यापक संपूर्णता पर आधारित हैं। अब, जब 'क' और 'ख' दोनों एक दूसरे के पूरक हो जाते हैं, क्योंकि दोनों को एक दूसरे की अपेक्षा है, तो इसका यह अर्थ होता है कि 'क' सिर्फ 'क' नहीं रह जाता और 'ख' सिर्फ 'ख' नहीं रह जाता बल्कि 'क' और 'ख' एक व्यापक संपूर्णता 'ग' हो जाता है। अब, तुलनात्मक दार्शनिक इस व्यापक संपूर्णता को दिखाकर यह दिखाने का प्रयास करता है कि प्राच्य और पाश्चात्य दर्शन दोनों एक दूसरे के पूरक हैं क्योंकि दोनों को पूर्ण कहलाने के लिए दोनों को एक दूसरे की आवश्यकता पड़ती है और इस प्रकार दोनों ही एक व्यापक संपूर्णता बन जाते हैं। इस व्यापक संपूर्णता द्वारा ही मानव, विश्व और विश्व में मानव की यथोचित व्याख्या की जा सकती है और तभी प्राच्य और पाश्चात्य दर्शन उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

यहाँ पर यह भी कहा जा सकता है कि अगर समन्वय के अर्थ को सही रूप में लिया जाता है तो इसमें जिस प्रक्रिया को अपनाया जाता है वह प्रक्रिया पूरकता की ओर ही अग्रसर होती है, और अगर दो दर्शनों के बीच एक व्यापक संपूर्णता नहीं होती तो वहाँ पर कोई भी समन्वय संभव नहीं होता है। अतः अगर हम कहते हैं कि दो सम्प्रत्ययों या सिद्धान्तों के बीच समन्वय संभव है तो हम यह भी कह सकते हैं कि प्राच्य और पाश्चात्य दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन संभव है। वास्तव में, समन्वय मात्र एक सरल दार्शनिक क्रिया नहीं है बल्कि इसका आधार पूर्वमान्यताएँ होती हैं तथा उनमें अभिप्रेत अर्थों के बीच एक व्यापक संवाद भी देखा जाता है। ऐसा इसलिए कि जो खोजा गया उसकी समीक्षात्मक परीक्षा होती है। जो असत्य दिखता है उसे अस्वीकृत किया जाता है तथा जो सत्य दिखता है उसे स्वीकृत किया जाता है। अब, यहाँ पर तुलनात्मक दार्शनिक का उद्देश्य मनुष्य और उसके विश्व के सम्बंध में एक व्यापक समझ या बोध या स्वीकृति को प्राप्त करना हो जाता है। यह व्यापक समझ तभी संभव होती है जब प्राच्य और पाश्चात्य दर्शनों के संप्रत्ययों एवं सिद्धान्तों का एक साथ समीक्षात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है, उनकी पूर्वमान्यताओं एवं विभिन्नताओं को प्रकाश में लाया जाता है, अपनी-अपनी भाषा में ही संप्रत्ययों एवं सिद्धान्तों के बीच समन्वय स्थापित किया जाता है, एक दूसरे की प्रशंसा की जाती है तथा दोनों के बीच में संवाद स्थापित किया जाता है।

इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि तुलनात्मक दर्शन की संभावना और अनिवार्यता दोनों स्पष्ट है। अगर दो दर्शनों की तुलना सिर्फ एक-बिन्दु (आध्यात्मिक

या ऐतिहासिक) मानकर की जाती है तो फिर दोनों का मिलना कभी संभव नहीं होगा। वास्तविक आधार दो दर्शनों (प्राच्य और पाश्चात्य) का मानव, विश्व और विश्व में मानव है, और दोनों ही मानव, विश्व और विश्व में मानव की व्याख्या करते हैं। अत: दोनों दर्शनों का मिलन न केवल संभव है बल्कि दोनों का मिलन अनिवार्य एवं उपयोगी भी है। फिर, प्राच्य और पाश्चात्य दर्शनों की तुलना द्वारा दोनों को एक दूसरे के संबंध में समझ स्थापित करने का अवसर मिलता है। अगर दोनों एक दूसरे को समझने का प्रयास नहीं करते तो दोनों एक दूसरे के लिए हमेशा के लिए अंधकार में रह जाते या दोनों एक दूसरे के लिए परान्ध रह जाते। वास्तव में, जब एक भारतीय दार्शनिक यह कहता है कि पाश्चात्य दर्शन बौद्धिक है तो इसका यह अर्थ होता है कि उसने पाश्चात्य दर्शन को समझा है। यहाँ पर पाश्चात्य दर्शन को समझने का अर्थ है कि पाश्चात्य दर्शन का संप्रत्ययात्मक प्रारूप या चिंतन प्रारूप भारतीय संप्रत्ययात्मक प्रारूप द्वारा ग्रहण किया जाता है। अब, इस समझ में भी दोनों दर्शनों की तुलना हो जाती है। अत: प्राच्य और पाश्चात्य दर्शनों की तुलना में परस्पर समझ एक महत्वपूर्ण कड़ी बन जाती है। और, इसी परस्पर समझ के आधार पर आज प्राच्य और पाश्चात्य दर्शनों के संप्रत्ययों एवं सिद्धान्तों की तुलनात्मक व्याख्या बिना किसी शंका एवं भय से की जा रही है।

धार्मिक परम्पराएँ एवं मानववादी नैतिकता

धमेन्द्र गोयल

आमुख

मैं सर्वप्रथम अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के तदर्थ पदाधिकारियों को धन्यवाद देना जरूरी समझता हूँ जिन्होंने आज मुझे ' स्वामी प्रणवानन्द तुलनात्मक दर्शन ' व्याख्यान देने के लिए यहाँ आमन्त्रित किया है ।

'धर्म दर्शन' और 'तुलनात्मक दर्शन' विषय की स्पष्ट परिभाषा यदि पहले जुटा पाऊँ तो अपने उद्घोषित विषय 'धार्मिक परम्पराएँ और मानववादी नैतिकता' के सम्बन्ध में विचारने की सार्थकता एवं उपयोगिता को भी समझना चाहूँगा। किन्तु इन सभी बौद्धिक परामर्शों से पहले जो बात विचारणीय है वह यह है कि स्वयं 'धर्म' संज्ञा से क्या तात्पर्य ध्वनित होता है ।

'धर्म' के वातायन निजी व्यक्तिगत आस्था, पूजा, उपासना, विश्वास, अनुभूति, संकल्प से शुरु होकर वर्ग, समाज, कार्य, संस्थान, धार्मिक ग्रंथ, निश्चित धार्मिक बोध, कथन, मन्त्र, रीति-रिवाज, संगठन, व्यवस्था, शिक्षा तक फैले हैं । धर्म में व्यक्ति भी हैं, संस्था भी, वर्ग भी, पुरोहित और मसीहा भी, और कहीं न कहीं 'परमेश्वर' भी। धर्म इस भारी फैले वैविध्य को एकरूपता, सुबोध परख दे सकने वाली अवधारणा एवं अमूर्त सत्ता का नाम है । इस व्याख्यान में, मैं 'धर्म' को मानवीय कृति ही मानकर चलना चाहूँगा, वैसे धर्म-दर्शन में 'धर्म' को देवत्व अथवा सत् का भी सहज प्रकाश मानने का आग्रह प्राय: हुआ है, पर वह बाद में।

विश्लेषण

धर्म अमूर्त प्रत्यय है। पर, क्या यह मानव-विहीन जगत में उपलब्ध था ? या कभी हो सकेगा ? क्या वह पत्थर जो स्वयं पत्थर की बनी मूर्ति में है या बादलों की गड़गड़ाहट स्वयं में अवतरित देवत्व को पहचान पाते हैं.? शायद नहीं। मानव चित्त और मानसिकता निजी अनुभूति, सहचारी संयोगों और वियोगों की सतत् संरचना करने के लिए बाध्य हैं ही । यह मानव नियति है कि इस स्थूल से स्थूल मूर्त स्थितियों से लेकर सूक्ष्म से सूक्ष्म परिभाषाओं, व्याख्याओं और अवधारणाओं को मानव मनोग्राह्य करता है । फिर मानवीय मनीषा के किसी एक चरण में अवतरित ऐसी अनेकों बौद्धिक धारणाएँ, क्रिया-प्रतिक्रिया, प्रसार-संकल्प, संकुचन-खण्डन द्वारा निरन्तर नए आसमानों में विकसित होकर अर्थों के नए आयाम उपलब्ध करतीं हैं। मानव की आदिम प्रवृत्ति और प्रकृति के नियन्त्रण से छूट पाने की सुलभ स्थिति पैदा होकर सृष्टि से मुक्त एक

आदर्श परम्परा का उद्घाटन मात्र ही तो है। द्रष्टा, कर्त्ता, स्रष्टा सभी तो अतीत हो जाते हैं, रह जाती है उनकी रूचियाँ, कहानियाँ, कविताएँ, शब्द, कृति, कला-वस्तुएँ, महल, प्रतीक, मन्त्र और इनकी परम्पराएँ। इन्हीं को ठोक-पीटकर, घिसकर, घोल मिलाकर परावर्ती कवि, विचारक, व्याख्याकार, सामाजिक, नीतिज्ञ धर्म और साहित्य की नई विधायें रचते हैं। यही संस्कृति के चरण हैं, धर्म की गौरव गाथाएँ, मानव के विकास और उन्नयन के सातत्त्य के मूर्त्त आधार हैं।

ऐसे अनेक व्यक्ति निरपेक्ष संस्थानों में से, जिन्हें संस्कृति जड़ प्रकृति पर मानव मनीषा की अपनी विजय का प्रतीक एवं सम्बल बनाती है, निम्न तीन को मैं यहाँ विचार के लिए निवेदित करना चाहूँगा : (१) धर्म (२) विज्ञान (३) नैतिकता । ये तीनों मानवीय उपलब्धियाँ, अपनी पैनी विभिन्नताओं के होते हुए भी, इस एक स्तर पर समाज-धर्मी हैं कि तीनों व्यापक सार्वभौमिकता और सभी मानवों द्वारा पुरस्कृत और मान्यता प्राप्त कर सकने के लक्ष्य से अनुप्राणित होती हैं। मानव संस्कृति का जिया इतिहास स्पष्ट करता है कि तीनों ही निरपेक्ष एवं आत्यंतिक मूल्यों की अपरिहार्य कसौटियाँ भी हैं। और, यदि मानव इन तीनों, तीन भिन्न, कसौटियों के आधार पर अपने जीवन को ढालने के लिए, मानव होने के नाते बाध्य हो तो, कई उलझनों और असमंजसकारी भ्रमों में फँसता है। दर्शन, विशेषतया धर्म-दर्शन, यहीं पैदा होता है। इस प्रकार, इन विभिन्न अभीप्सित परामर्शों, वैकल्पिक संरचनाओं और उनकी अवधारणात्मक योजनाओं के संघर्ष मानवीय संस्कृति की बौद्धिक धरोहर हैं, स्वयं जीवन के ही पर्याय हैं। मनुष्य के समूचे आचरण, बोध, सम्प्रेषण, अस्मिता एवं संसार को इन तीनों संस्थानों की सत्ता और निर्देशन सदा किसी न किसी स्तर तक शिरोधार्य करने होते हैं। सर्वांगीण तो यह अवधारणात्मक प्रारूप तीनों हैं ही, इसके अपने द्वारा सम्पादित किसी भी परामर्श की अवहेलना इनको अरुचिकर ही नहीं बल्कि काटने दौड़ती है। हम सभी धर्मांधता के बारे में जानते हैं, न्यूटन की कहानी भी जानी मानी है कि प्रसिद्ध मिल्टन के काव्य *पैराडाइज़ लॉस्ट* को अपनी अंधकारमयी जीवन- संध्या में सुनने पर, वैज्ञानिक अन्वेषण की जिज्ञासा की पराकाष्ठा का पक्का प्रमाण देते हुए, उन्होंने अपनी पौत्री से पूछा था, 'पर यह कवि क्या सिद्ध करना चाहता है'। इसी प्रकार इमैनुल कांट ने किसी जहाज के कप्तान को विषम परिस्थितियों में किसी अनधिकृत व्यक्ति द्वारा कुछ सेबों की पेटियों (जो दुर्घटनाग्रस्त जहाज में वैसे भी सड़ जानी थीं) के अनुचित हथियाकर और बाँटकर खा जाने की अवहेलना करने के लिए नैतिक नियम भंग करने का दोषी ठहराया। आज के प्रगतिशील विचारक सम्भवतः कांट को सम्पत्ति का पोषक ठहराएँ। कांट, जाहिर है कि किसी आपद् धर्म को नहीं मानता। नैतिक आदेश, असंदिग्ध, अपवाद शून्य, निर्विवाद एवं युक्तिशः अकाट्य समझे

जाने चाहिए। धर्मांधता के जुनून ने कितनों की जानें लीं और कितनों ने अपनी जानें दीं हैं। हिन्दुस्तानी जीवन के लम्बे इतिहास से परिचित हम दर्शन के विद्यार्थी इस बात को भली प्रकार जानते हैं ।

मैं समझता हूँ कि इन आत्यंतिक दावेदारियों की विवेचना, जैसी कि 'विज्ञान' 'नैतिकता' और 'धर्म' के अद्वितीय, सर्वोच्च एवं प्राथमिक विचार को लेकर प्रायः इनकी व्याख्या की जाती है, समकालीन दर्शन और विशेष रूप से 'धर्म-दर्शन' के लिए वैचारिक चुनौती होनी चाहिए। क्या दार्शनिक 'धर्म' के सांस्कृतिक स्वरूप की व्याख्या और रेखांकन करके उसे नैतिकता के सार्वभौम मानदण्डों और आग्रहों और विज्ञान की शांत एवं अमिट युक्तिशीलता से समन्वित कर सकेगा ?

'धर्म' प्रत्यय का निरूपण भी, मानव संस्कृति में आदि से रहने के बावजूद, तटस्थ एवं निरपेक्ष दृष्टि से नहीं हो सकता है। 'धर्म' की सामूहिक और रागात्मक अन्तःरचना, उसके प्रति वैज्ञानिक भंगिमा अपनाने में, संस्कृति के विश्लेषक, सामाजिक विज्ञान के अध्येता और स्वयं तत्त्व-वैज्ञानिक के लिए प्रायः बाधक होती पाई जाती है। आक्रोश एवं पक्षधरता सहज ही धर्मानुयायी, धर्मावलम्बी को धर्महठी और धर्मध्वजी धर्म प्रचारक तक बना देते हैं। दर्शन जैसी शुद्ध, तीक्ष्ण परन्तु तटस्थ युक्ति के व्यापक प्रयोग में रुचि रखने वाला दर्शन का विद्यार्थी यदि इन रागात्मक आस्थाओं में अवरूद्ध न होना चाहे तो उसकी यह आन्तरिक प्रवृत्ति उसकी रूचि से पूर्व-निर्धारित है। किन्तु दर्शन 'व्यक्ति' के स्वरूप की पूर्ण एवं निरन्तर परिचर्चा करता है। 'व्यक्ति' में अपने और पराये व्यक्ति और प्रकृति के सम्बन्धों को समझना स्वयं व्यक्ति को निरूपण करने का ही भाग माना जायेगा। ऐसी स्थिति में 'दैवीय', 'परम सत्य', 'परमेश्वर', किसी न किसी रूप में, मानव की सम्यक् परिकल्पना की विवेचना करते, दर्शन के विद्यार्थी के सिर चढ़ेंगे ही। धर्म इसी परम-तत्त्व का बोध एवं निर्धारण है।

इस समूचे तर्क का मूल केवल यह है कि धर्म एक सांस्कृतिक संयोग मात्र नहीं है। वह मानव की मूलभूत दृष्टि का अपरिहार्य अंग, या कम से कम धार्मिक आस्था के भीतर जो एक जरूरी दृष्टि निहित होती है, वह है। यद्यपि कभी-कभी यान्त्रिक अथवा धार्मिक अनुष्ठानों में यह दृष्टि धूमिल भी हो जाती है, या प्रभावशाली मात्रा में आकारबद्ध न की जा सकी हो, फिर भी, 'धर्म' में यह दृष्टि आस्था का मूल स्रोत है। धर्म दर्शन और धर्मों के सांस्कृतिक इतिहास, धार्मिक जीवन की सहानुभूतिशील समीक्षा एवं परीक्षण के द्वारा, धर्म के विभिन्न पहलुओं को निम्न प्रारूप में एक सुनियोज्य संगति देंगे:

(क) मानव प्रतिभा
(ख) मानव-मानव के सम्बन्ध
(ग) मानव-प्रकृति के सम्बन्ध, और

(घ) दृष्टि, जो इन तीनों स्वरों के आस्थाओं की एक विराट प्रत्यय-योजना गढ़कर, समाहित करके, इनकी सम्यक् व्याख्या दे सके। यह मूल स्थिति प्रत्यय-योजना (दृष्टि) स्वयं में अपरिहार्य नहीं होगी। इसके विकल्प सम्भव हैं। ऐसे विकल्प ही विभिन्न ऐतिहासिक धर्मों के वैशिष्ट्य के आधार हैं ।

धर्म-दर्शन अपनी पैनी समीक्षा द्वारा 'धर्म' के सम्बन्ध में बनी समकालीन मनस् में पल रही कुण्ठा को समझेगा, शायद दूर भी करेगा, कम से कम उन्हें समीक्षा के द्वारा स्पष्ट करेगा, तो दूसरी ओर स्वयं विशेष धर्मानुयायिओं, मतावलम्बियों और अनुप्रमाणित आस्तिकों के लिए स्वयं की अधिकतर असम्बद्ध प्रतिक्रियाओं और अनर्गल भाव-खण्डों को एक रूपात्मक निरूपण देने में सहायक होगा । वैसे 'धर्म-दर्शन' और 'धर्म-दृष्टि' की अवधारणाएँ भी एक स्तरीय नहीं हैं । धर्म-दर्शन इन विभिन्न दृष्टियों में 'सामान्यों' और उनके 'विशेषों' की निरख-परख है, और उनकी उपादेयता यथेष्टता आदि मानकों द्वारा एक सफल 'धर्म-दृष्टि' का प्रतिपादन भी है। इस अन्तिम लक्ष्य में रत होकर धर्म दर्शन सरंचनात्मक हो सकेगा; साधारणतया वह व्याख्यात्मक होता है। धर्म दर्शन धार्मिक दृष्टि के विशेषों को सार्वभौम मानवीय ऐतिहासिक अनुभव एवं वैज्ञानिक अवधारणात्मक योजना के साथ संगत मेल बैठा पायेगा, या उसे ऐसा समन्वय का मार्ग देने की सूझ मिलेगी।

यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार के 'धर्म-धर्म' के बीच पूर्व-चर्चित विविध दृष्टियों के रहते हुए प्राच्य-परम्परा और वैज्ञानिक बोध अथवा आस्तिक मानव दायित्व एवं मानववादी (जैसे मार्क्सवादी, उपयोगितावाद अस्तित्ववादी या मूल्यवादी) नैतिकता में सवांद क्यों आवश्यक है ? क्यों न प्रत्येक व्यक्ति निजी युक्तिहीन या युक्तिशील आस्थाओं पर अड़ा रहे ? ऐसा व्यक्ति जो सापेक्ष दृष्टियों के परस्पर वितण्डा से बचे रहता है, क्या वह मानववादी सदाशयता एवं विनयशीलता की अच्छी मिसाल नहीं है ? मैं ऐसा नहीं मानता। मानसिकता मनुष्य की लाचारी है। इस संदर्भ में गाँधी जी द्वारा भारतीय साम्प्रदायिकता एवं धार्मिक विद्वेषों से विषाक्त परिवेश के लिए जिस किस्म की 'सर्व-धर्म-समभाव' की सिफारिश हुई, वह उनकी शुद्ध मानवीय हितों एवं मूल्यों की रक्षा एवं चिन्ता के सदिच्छापूर्ण बोध की अच्छी अभिव्यक्ति होते हुए भी, 'धर्म-दृष्टियों' के प्रति पूरी निष्ठा एवं उपादेयता पर प्रश्न चिन्ह लगाए बिना भी नहीं रहती। यहाँ मेरा कहना है कि 'धार्मिक दृष्टि' से इंगित जिस उदात्त प्रत्यय का आभास होता है या होना चाहिए उसे घिसी-पिटी सतही जातिगत मान्यताओं से घपलाना 'धर्म-दृष्टि' के उदात्त स्तर को ही गिराना मात्र है। ऐसी नंगी कठमुल्लई और काहिली को 'धर्म-दृष्टि' से कुछ लेना देना नहीं होता। इसे न पकड़ पाना निरा हास्यास्पद मजाक है।

तदनुसार, किसी भी विवेकशील और धर्मनिष्ठ व्यक्ति का अपनी धर्मतत्त्व सम्बन्धी धारणा को इतना कच्चा या ढुलमुल पाना कि वे अपने से भिन्न परम्पराओं को सहज ही स्वीकार कर लें, सहिष्णु रूप से सत्य ठहराएँ, कुछ अव्यवहारिक एवं असंगत लगता है। गहराई से प्रसूत गाम्भीर्य और अस्तित्त्व की अंदरूनी परतों तक रची बिंधी आस्थाएँ किसी अन्य की आस्था को कैसे सहेंगी ? गाँधी जी इतिहास के छिपे अभिषायों का निराकरण नवीन सामाजिक वरीयताओं को संतुलित करके करना चाहते थे। उनकी धर्मों के परस्पर सद्भाव की वकालत से भला किसे क्या आपत्ति हो सकती है। पर, उसे प्राप्त करने के लिए 'धर्म-दृष्टि' की 'मौलिक-स्वायत्तता' को नकारना न जरूरी है और न ही गांधी जी ने कोई सम्भव तात्त्विक तर्क इसे सिद्ध करने के लिए दिये हैं। जो कुछ उन्होंने इस संदर्भ में लिखा या सिखाया था, वह ऐतिहासिक और सामाजिक तथ्यों पर आश्रित है।

उदाहरण हमारी समस्या को सम्भवतया अधिक स्पष्ट करेगा। क्या नरभक्षी कबीलों के धर्माचार्य, माँ टेरेसा की करुणामयी मानव-पीड़ा-कातर ईसाईयत, और अधिनूतन गाँजा फूँकने वाले तथा परामंथन (*ट्रांसेन्डेंटल मेडीटेशन*) का गुरु मन्त्र देने वाले अभिनव योगियों को श्री अरविन्द की द्राविड़ प्राणमयी परा-चेतनोन्मुखता से घुला मिला दिया जा सकता है ? और फिर, क्या ये विभिन्न दृष्टिकोण ऐसी प्रतिश्रुत विश्वास तालिकाएँ हैं जिन्हें सुतर्क के लाघव नियमों से पिरोकर एक सुचारु सिद्धान्त गूँथा जा सके ? नहीं, धर्म-दृष्टि मूलतया प्राक्कथनात्मक नहीं होती। इन विश्वासों की कसौटी सहज तर्क, तथ्य, प्रयोग, सूचना, साक्ष्य न होकर व्यक्ति की आन्तरिक स्वानुभूति एवं विश्वसनीयता होती है। उसका वस्तुनिष्ठ मापदण्ड चाहना निरी मृगमरीचिका होगी। संवेदना और सहानुभूति 'दूसरे मन' को अपरिहार्यता का संकेत ही कर पाती हैं। 'दूसरा' स्वयं 'मैं' क्या कभी बना है ? नहीं। यदि ऐसा हो सके तो न फिर धर्म होंगे, न व्यक्ति। हमारा बनाया सारा संसार ही बिखर जायेगा, सारे भ्रम आच्छादित कोटर, घरौंदे, एक परम-ब्रह्म अनन्तता में गल जायेंगे।

जब तक 'मैं' हूँ मेरे द्वारा उद्भूत मेरा जगत् भी रहेगा, मेरी निजी आस्थाएँ, अनिवार्यताएँ, स्थित विश्वास मुखरित होंगे। वे एक साधारणकृत झूठ में ही समाहित 'नाम-रूपी' झण्डा प्रतीक से लैस होकर किसी विशेष ऐतिहासिक धार्मिक-प्रतिष्ठान जैसे हिन्दू परम्परा, बुद्ध-संघ, इस्लामी मकीदा अथवा यीशू में आस्था जैसी किसी मूर्त्त दृष्टि में स्थित होंगे। लेकिन ऐसे सामाजिक झूठों पर ही तो इतिहास गढ़ा जाता है, संसार टिका है। इन स्थूल, मूर्त्त और व्यक्त धार्मिक अनुष्ठानों से पृथक किसी सार्वभौम धार्मिक चेतना की पूर्ण रूप से उदात्त अनैतिहासिक परिकल्पना करना बौद्धिक विनोद से ज्यादा सार्थक अवधारणा नहीं है। धर्म दर्शन का अध्येयता नया धर्मगुरु (कम से

कम समकालीन चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में) नहीं बनना चाहेगा। हर ऐसे झूठ को दूसरे झूठों से टकराना होगा, इनकी यही स्थिति है। तुलनात्मक धर्म-दर्शन एवं धर्म का इतिहास ऐसी धर्म-दृष्टियों की कथा-गाथा है, मतगणना खातापूरी और अन्य संकलनात्मक बौद्धिक प्रक्रियाओं का नाम है। साधारणतया जब तुलनात्मक धर्म-दर्शन की बात चलती है तब सहज ही पूर्व-चर्चित 'झूठों' और व्यापक रूपकों में बिखरी एक सूत्रता या विविधा का बयान करके छुट्टी पा ली जाती है।

मुझे न यह करना है और न मैं इस प्रकार के अध्ययन की योग्यता या रुचि रखता हूँ, फिर भी, प्रसंगवश पुर्नजन्म का विचार किसी सीमा तक जैन, बौद्ध, सिक्ख और विभिन्न हिन्दू धार्मिक परम्पराओं में उपस्थित है। इसके विपरीत 'एक निश्चित आखिरी दिन परमेश्वर के सामने हर प्राणी को अपने सम्पूर्ण जीवन वृत्त का देना' ईसाईयत, ईस्लाम, यहूदी धार्मिक परम्परा में सहज उपलब्ध विश्वास हैं। इन दोनों परस्पर विरोधी धार्मिक मिथकों को न मिलाया जा सकता है और न मिलाया जाना चाहिए। क्योंकि इन दोनों ही विश्वास तालिकाओं में इनको स्वयंसिद्ध पूर्वमान्यता माना जाता है, जिन्हें किसी तथ्य द्वारा प्रमाणित करने की कोई जरूरत कम से कम धर्म-दृष्टि को महसूस नहीं होती। जबकि इन आस्थाओं को बुनियादी तौर पर स्वीकार करने के पश्चात् (क) मानव-मानव (ख) मानव-प्रकृति और (ग) मानव-परमात्मा के बारे में कई मार्मिक आदेश, आचरण के नियम, उपासना विधि आदि लागू हो जाते हैं। दर्शन, धर्म की व्याख्या करना चाहता है। वस्तुत: 'धर्म-दृष्टि' 'ईश्वर', 'जीवन', 'नैतिकता', 'मृत्योपरान्त जीवन', 'पुनर्जन्म' और 'शिव' के बारे में तटस्थ एवं सार्थक स्थापनाएँ संकेत मात्र न होकर परम्परागत आस्था एवं विश्वासों की आत्मानुभूति से अनुप्राणित संगात्मक अभिव्यक्ति से भी संस्कारित होती हैं। इस दृष्टि के पीछे सामूहिक जीवन, मिथक, कथानक, रूपक बरबस लगे रहते हैं और इसमें घुल-मिलकर इसे अधिक सम्पन्न बनाते रहते हैं। सूचना और विश्वास सामग्री विविधा को लेकर चलते भी 'धार्मिक-दृष्टि', 'युग-धर्म' के अपरिहार्य प्रभावों से संस्कारित होती हुई अपने आन्तरिक नैरन्तर्य एवं स्थायीत्व को इतिहास के सतत् परिवर्धित विकल्पों में अक्षुण्ण रख पाती है। 'धर्म-दृष्टि' की अपनी सुस्पष्ट मूल-प्रेरणा होती है, जो इसकी अपनी अन्तरंग निजता का वैशिष्ट्य अभिव्यक्त करती है। यह वैशिष्ट्य, मिथक (प्रतीक) एवं आस्था पर आश्रित हो सकता है। या फिर किसी ऐतिहासिक घटना-संरचना, मूलमन्त्र अथवा उपनिषदों द्वारा केन्द्रित हो सकता है। उदाहरणार्थ, बौद्धों के आर्य-सत्य अथवा उपनिषदों द्वारा प्रतिपाद्य 'आत्मा' ऐसे विश्वास हैं जो 'धर्म-दृष्टि' की अच्छी मिसालें हैं क्योंकि इनको धुरी ठहराकर एक पूरे युग की सामाजिक, नैतिक एवं कर्मकाण्ड की व्याख्यायें एवं परम्परायें बनाई जा सकीं ।

दृष्टि के अन्तर्गत मौलिक सत्यों के साथ-साथ विभिन्न अन्य तत्त्व, जैसे, 'संकल्प', 'उपासना', 'दायित्व', 'अनुष्ठान', 'समुदाय की पारस्परिकता', 'नेतृत्व-शिष्यत्व', 'यजमान-पुरोहित' आदि अनेकों सहचारी वैचारिक निमित्त क्रियाशील होते हैं। परम्परा के पूर्ण विकास को एकतरफा सैद्धान्तिक पटल तक संकुचित रखना उसके बहुरुपी स्वभाव के साथ न्याय नहीं कहा जा सकता है। सिद्धान्त के भीतर 'द्रष्टा' अधिक मुखर होता है, 'दृष्टि' में 'भोक्ता' और 'कर्ता' को भी स्पष्ट आँका जाना चाहिए। अस्तु, धर्म-दृष्टि को कुछ ध्रुव विषयों, जैसे, ईश्वर, मूल्य, परम्परा, इतिहास, व्यक्ति और समाज पर व्यक्त सत्य और असत्य कथनों का एक वर्गमात्र नहीं ठहराया जा सकता। धार्मिक विश्वास सत्य को जेल में कैद नहीं रखते। वैसे इन विश्वासों में भी एक आन्तरिक योजना, संगति एवं सुघड़ता आदि तार्किक गुण देखे जा सकते हैं। यह अन्योन्याश्रित तो होते ही हैं। इनकी उपलब्धि मानवोचित संवेदना का संस्कार करती है। जीवन के रागात्मक पटल, मार्ग-निर्देशन और व्यक्तिगत संकल्प सहज निर्धारित हो जाते हैं ।

धर्म दर्शन प्राय: इस विवेक को, कि धर्म परम्परा में विश्वास प्रदत्त तालिका के आधार पर समूचे धार्मिक अनुभव को उक्त तालिका द्वारा व्याख्यायित नहीं किया जा सकता, भूल जाता है। वास्तव में, व्याख्या के संदर्भ में जो स्पष्टीकरण दिये जाते हैं उनके आधार पर धर्म की परम्परा के विश्वास स्वत: सिद्ध जैसे थे, वैसे हैं। वे अनावृत्त नहीं होते। हम अपने कौतूहल को शांत करके एक धर्म के वृत्त में पड़ने वाले विभिन्न तत्त्वों को एक सूत्रता देकर परम्परा की अवधारणा का निर्धारण करते हैं। कलाकृति, जैसे, चित्रपट पर गोचर वस्तुओं की अनुकृति करके ही कला उद्देश्य उपलब्ध नहीं करती बल्कि मनोकामनाओं और मनोदशाओं की कल्पित भंगिमाओं में रूपबद्ध करके यथोचित सुगम अभिव्यक्ति देकर अपने को चरितार्थ करती है। कुछ वैसी ही स्थिति 'धर्म-दृष्टि' की विज्ञान सम्मत 'वस्तुज्ञान' से होती है । बहुत ही सतही और अनगढ़ स्तर पर ही 'धर्म-दृष्टि' आनुभाविक सत्यों अथवा उसके स्वरूप को व्यक्त करने वाले सिद्धान्तों से टकराती है। वास्तव में, धर्म द्वारा प्रतिपाद्य अवधारणाएँ स्थूल वस्तुपूरक तत्त्वों के बारे में न होकर उनमें अन्तर्व्याप्त सम्पूर्ण ज्ञान के लक्ष्य, प्रणाली और पूर्णता को चाहे अभिव्यक्त करती हों, पर वे विशेष तथ्यमूलक कथनों से न तो नि:सृत हैं, न ये उनकी प्रामाणिकता पर कोई सन्देह उपजा सकती हैं। सम्भवत: यही बात प्रकृति के बारे में रची गई अभिधामूलक आनुभविक स्थापनाओं एवं उनसे सम्बन्धित सार्वभौम नियमों के बारे में भी ठीक बैठती है ।

संसार, वस्तु, घटना, तथ्य हैं। इनको अर्थ संधान में पिरोना परम्परा द्वारा होता है। प्रश्न उठता है कि क्या इस परम्परा में पूर्वमनोनीत संकल्पनात्मक योजना

जैसा कोई तत्त्व नहीं है ? व्याख्या और विश्लेषण की कहानी इस विषय पर एक लम्बी बहस से गुजरी है। क्या ये पूर्वमान्यताएँ विज्ञान के आनुभविक साधारणीकरण द्वारा ऐतिहासिक क्रम से शनैः शनैः एकत्रित की गई थीं, जिनमें तत्पश्चात रूपात्मक ऐक्य खोजा गया था ?

आज यह अनुभववादी भी स्वीकार करता है कि अवधारणात्मक प्रसंग और प्रत्ययमूलक मान्यताओं के कथन परानुभविक होते हैं। मूर्त्त अनुभूति, प्रदत्त एवं अनगढ़ संवेदों का सार्थक नियोजन इन अस्थिर एवं क्षणिक तंतुओं द्वारा न गुना जा सकता है और न रूपात्मक नियमों में व्याख्यांकित किया जा सकता है। इन व्याख्याओं में रूपात्मक आरोपण के द्वारा ही प्राप्त विषय-वस्तु का निर्धारण सम्भव होता है। इस प्रकार के अवधारणात्मक संस्थान जो केवल आनुभविक साक्ष्यों पर आधारित होते हैं, अनिर्णीत रह जाते हैं। यह विश्लेषण के पक्षधर भी आज स्पष्ट रूप से मानने लगे हैं। मूर्त, अनुभूत, प्रदत्त एवं वांछित के इस समूचे परिप्रेक्ष्य में समकालीन धर्म-दर्शन केवल अबूझे परानुभविक तत्त्व के बारे में ही नहीं है, अपितु विज्ञान में अवधारणात्मक स्वायत्तता की पृष्ठभूमि को आधार बनाकर धर्म-दृष्टि की स्वतन्त्र प्रमाणिकता स्थापित करने में भी सक्रिय है। उसका तर्क है कि ऐसी सांसारिक मान्यताओं का रूपांकन एक समूचे जीवन-वृत्त में अवस्थित होता है जिसका विविध सिद्धान्तों और साधारणीकृत खण्ड-सत्यों के परस्पर सम्पादन से निर्धारण अथवा निःसरण नहीं किया जाता है। विज्ञान एक समूची 'जीवन-दृष्टि' का अन्वेषण है जो केवल विभिन्न सांसारिक, तथ्यमूलक, साधारणीकृत मन्तव्यों का पर्याय नहीं है। क्योंकि, वैज्ञानिक पद्धति अपने द्वारा संकलित आनुभविक तथ्यों की परख, विषदीकरण एवं नियमन जिन आदर्श प्रारूपों में प्रस्तुत करती है, वे न तो केवल तार्किक अवधारणाएँ हैं और न वे संवेगों में रचे बिंधे परामर्शों अथवा संख्यात्मक प्रत्ययों के प्रतिपाद्य। इन विशेष प्रारूपों में अन्तर्व्याप्त एक सहज पूर्व-योजना होती है, जिसको हम कई गणितीय विकल्पों में रेखांकित करके समाहित कर सकने में सक्षम हैं। यह पूरे विचार-तन्त्र कभी-कभी पूर्ण उपलब्ध ज्ञान की परस्पर वैकल्पिक योजनाएँ हो सकती हैं जिनकी अर्थवत्ता समानान्तर होते हुए भी, सारी विभिन्नताओं के रहते हुए भी, परस्पर विरोधी नहीं है। इन विचार तंत्रों में परस्पर समान सार्थकता रहने के कारण किसी विशेषण का चयन तथ्यों अथवा उनके नियमों से संगति द्वारा निर्णीत न होकर विज्ञानेतर सुविधामूलक रूचि-सापेक्षता से बाधित होगा। 'धर्म-दृष्टि' का स्तर वैज्ञानिक पद्धति में ऐसी अवधारणात्मक योजना से ही तुलनीय है। दोनों योजनाएँ व्यापक रूप से विचारों को सौष्ठत्व एवं रूपात्मक संगठन देती हैं। कहना यहाँ यह है कि विज्ञान सर्व-विधायक न होकर आज अपनी उपलब्धियों का भी संस्करण, पूर्व-प्राप्त अवधारणात्मक संरचना द्वारा रचता है और

ऐसी पूर्व-स्थिति व्यवहार सिद्ध दृष्टि का ही प्रकारान्तर से प्रस्तुतीकरण 'धर्म-दृष्टि' भी करती है। इस परस्पर समानान्तर दृष्टियों की तुलनीयता को समझ कर धर्म और 'विज्ञान' के अविरोधी एवं पूरक होने का सहज ज्ञान हमें मिलता है।

इस नतीजे पर पहुँचने पर, प्रायः जो १९वीं सदी की एक मुखर वैज्ञानिक आस्था थी कि धर्म मानव की आदिम चिंतन प्रक्रिया का अवशेष मात्र है, जिसे शीघ्र से शीघ्र छोड़ देना मानव विकास एवं कल्याण की कड़ी है, तथा बौद्धिक दृष्टि से सामाजिक विज्ञान की प्रतिपाद्य दृष्टि मनुष्य के लिए हर संभव पटल पर पर्याप्त है, आज सन्देह की शिकार है। मानव की मानसिकता विशिष्ट स्तर भेदों की परस्पर स्वायत्तता का आज कहीं पैने तौर पर अनुभव कर रही है। शल्य चिकित्सक और रोगी के द्वारा वर्णित परस्पर अनमिल ब्यौरे एक दूसरे को काट नहीं सकते, अपने संदर्भ में वे दोनों स्वतः प्रामाण्य हैं। इसी प्रकार व्यावहारिक दृष्टि में जो पूर्वमान्यताएँ लेकर हम नैतिक पटल बनाते हैं उनकी प्रामाणिकता संवेगमूलक रुचियों या जैविक तत्त्वों के बारे में सिद्ध कथनों द्वारा परिभाषित नहीं की जा सकतीं। उदाहरणार्थ, मानव नियतिवाद की सत्यता वैयक्तिक स्वतन्त्रता एवं नैतिक संकल्प में व्यक्त मानव-स्वायत्तता को वर्जित नहीं कर पायेगी।

जैसा कि हम अत्यन्त संक्षेप में विचार कर चुके हैं, यह दर्शन, समीक्षात्मक गहराई में पहुँच सकने के फलस्वरूप, विज्ञान की पद्धति का यह वस्तुनिष्ठ विवेचन दिखला सका है कि विज्ञान के दैनिंदन प्रयोग एवं कार्य कुछ ऐसी अनिर्णीत परिकल्पनाओं पर सदा आश्रित होते हैं जिन आधार पूर्वमान्यताओं को सत्य मानकर ही अन्य वैज्ञानिक ज्ञान के तन्त्र को प्रमाणित किया जा सकता है। स्वयं विज्ञान इन पूवपिक्षाओं की चर्चा का कोई सन्तोषजनक आधार युक्तिशास्त्र ढूँढ सकने में अक्षम हैं। साधारणतया, तर्कशास्त्र, गणित और विज्ञान सुस्पष्ट प्रमेयों और सिद्धान्तों को रेखांकित कर सकने का दावा करते हैं, किन्तु गणितीय चिन्तन की निकट से की गई परख उसकी प्रभावशाली गरिमामय स्थापनाओं के पीछे निश्चित पूर्वकल्पनाओं का संकेत करने में आज बिल्कुल स्पष्ट है। इन गणितीय पद्धतियों द्वारा विश्लेषित विज्ञान के द्वारा अनावृत्त सिद्धान्त एवं नियमों से जो आनुभविक जगत् की व्याख्याएँ बनती हैं उनके द्वारा ऐसी पूवपिक्षाओं का कोई निदान नहीं मिलता, स्वरूपांकन अथवा औचित्य सामने नहीं उभर सकता। 'मूल प्रतिज्ञा' तथ्यों का निर्धारण करती हैं, न कि तथ्यों द्वारा मूल प्रतिज्ञाओं का निर्धारण होता है।

निष्कर्ष

आज स्वयं वैज्ञानिक अपनी सर्वज्ञता की दावेदारी से ऊब चुका है, उससे ज्यादा मोहभंग विज्ञान के आधार पर मनस मूल्य, ईश्वर के प्रत्ययों का विवेचन करने वाले

दर्शन-शास्त्री का हुआ है। उसके सहज यौक्तिक विश्वासों पर कई स्तर पर प्रश्नचिन्ह आज लग रहे हैं। यहाँ तक कि यह भी प्रश्न सार्थक लगने लगा है कि क्या आत्यंतिक सिद्धान्त रूप से यह उचित है कि पूर्ण रूप से तटस्थ, निरपेक्ष, पूर्वापेक्ष संस्थान मुक्त कोई 'प्रत्यय' कभी सम्भव हो सकता है ? क्या इन वैचारिक क्रान्तियों के संदर्भ में यह कहना ठीक होगा कि निरपेक्ष दृष्टि का आज ह्रास हुआ है ? क्या हमारा सारा ज्ञान संकलन करने का दावा केवल हमारी पूर्वापेक्षाओं के दम्भ की अभिव्यक्ति है या सभी हमारे पूर्व-स्थित पूर्वाग्रहों को ही प्रभावोत्पादक तर्कों से पुनः पुन आरोपित करके हमें भ्रमजाल में फँसाते हैं ? क्या प्रामाणिकता, चरितार्थता, सत्यापन अथवा व्याख्या की कोई भी कसौटी संस्कृति, परम्परा, धर्म और दृष्टि के पूर्वाग्रहों से अछूती या निरपेक्ष नहीं होती ? क्या 'वस्तुनिष्ठ ज्ञान' मृगमरीचिका है ?

मेरा निजी मत है कि विश्लेषणात्मक प्रयोजन व्यर्थ नहीं हैं। मानव प्रयत्नों से संस्कृति एवं समीक्षा द्वारा निष्पक्ष, तटस्थ एवं सार्थक प्रबुद्धता प्राप्त की जा सकती है। स्वयं 'धर्म-दर्शन' भी 'शिवत्व', 'साक्षात्कार', 'आस्था' एवं 'धार्मिक विश्वास' के स्व-रूपांकन का यत्न है । यदि 'धर्म' सामूहिक परम्पराओं को वहन कर सकता है तो न केवल आकस्मिक वाह्य कारणों के आधार पर यह तर्क मानना पड़ेगा कि इसको अन्तर्निहित दृष्टि में भी एक पुष्ट विचारतन्त्र, जो इस प्रकार के सामूहिक अन्तरालों के रहते हुए भी पुनः मानक स्वरूप में निर्धारित होकर विशेष तत्त्वों को अपने में समाहित करते हुए अपने सम-सामयिक जीवन की संस्कृति को मूल्य-निर्देशन दे सके, रचना होगा, बल्कि धर्म-दर्शन के लिए यह चुनौती होनी चाहिए। 'धार्मिक परम्पराओं' एवं उसके ऐतिहासिक उद्बोधन की गरिमा एवं अर्थवत्ता इस प्रकार सामाजिक विकास की दिशाबोध की जिम्मेदारी निभाने में ही तो है।

प्रायः धर्म के अनुयायी स्तब्ध-चित्त होते हैं, एवं अप्रगतिशील विश्लेषण की अपनी दृष्टि के स्व-रूपांकन को अधिक महत्व देते हैं। उनकी मानसिकता विशेष 'अनुभूति', 'मन्त्र-शक्ति', 'उपासना', 'दीक्षा', 'आस्था' को सर्वोपरि एवं आत्यंतिक कसौटी ठहराने से प्रभावित होती है। यह धर्म की दावेदारी का एक पहलू है, किन्तु इस निस्संग 'परमार्थ' के प्रति समर्पित होकर भी प्रत्येक 'धार्मिक परम्परा' को वैविध्यपूर्ण सांस्कृतिक संस्थान में, इस कालजयी अनुभूति के अनुकूल ऐतिहासिक और मानवीय जिजीविषा के प्रतिफलक, अनेकों विशेष निर्धारण भी करने पड़ते हैं। उदाहरणार्थ, क्या 'सती' को जलाना या 'विधवा विवाह', 'वर्णाश्रम व्यवस्था' या 'महाकरुणा' द्वारा प्रसूत वैष्णव पर-दुःख-कातरता हिन्दू धर्म सम्मत 'अहिंसा' से अधिक संगत एवं समर्पित है ? तुलनीय विडम्बनाएँ ईसाईयत, इस्लाम एवं यहूदियत को भी अपनी दृष्टियों के ऐतिहासिक निरूपण में भोगनी पड़ी हैं – जबकि उनकी अपनी आस्था को अनुमोदित न करने वाले अपने अज्ञान अथवा दृष्टिदोष के फलस्वरूप

'परम-प्रभु' की दैविक अनुकम्पा से वंचित रह जाते हैं। तो क्या उन्हें हिंसा, ताड़ना, युद्ध, शासन अथवा भय से इस दैवी प्रसाद से लाभान्वित करना चाहिए या क्या उन्हें इस असीम दैवत्व के लाभकारी दर्शन केवल अबाध्य सेवा, प्रेम, करुणा की सुधा द्वारा कराना ही अधिक सार्थक है ? विकल्प है : *क्रूसेड* या आत्मसमर्पित पर-दुःख-कातर दिव्या-लोक का प्रसार ? क्या यहाँ स्पष्ट है कि सहज धर्म-दृष्टि एवं मानववादी एक दूसरे के परस्पर विरोधी नहीं हो जाते ? जहाँ मानव की अपनी वरीयताओं की सहज अभिव्यक्ति को अबाध स्वतन्त्रता मिलनी ही चाहिए, वे वरीयताएँ निजी धार्मिक आस्तिकता को आत्यंतिक निर्बाध निश्चयात्मकता के आधार पर किसी भिन्न व्यक्ति या समाज के मत, दृष्टि, जीवन मूल्य, स्वतन्त्रता या आस्थाओं की अपेक्षा करने को अपनी स्वतन्त्रता या स्वायतत्ता का अंग मान सकती हैं ? इन प्रश्नों का विडम्बनापूर्ण उत्तर 'हाँ', प्रायः विभिन्न युगों में धर्म के इतिहास में मुखर रहा है, जिससे खिन्न और क्षुब्ध होकर समकालीन वैज्ञानिक, यौक्तिक विचारक एवं मानववादी नीतिविद् 'धर्म' को प्रत्येक विशेष व्यक्ति की निजी आस्था के क्षेत्र तक मर्यादित करना चाहते रहे हैं और स्वयं द्वारा दिये हुए आदेशों को सहज यौक्तिक एवं मानववादी नैतिक बोध से अनुशासित करना चाहेंगे। ऐसी शंका एवं नियन्त्रण की आवश्यकता की अनुभूति इसीलिए भी होती है कि धर्म के इतिहास में युद्धों, धार्मिक उत्पीड़न, विरोधी मतावलम्बियों पर हिंसा की मिसालें काफी भारी संख्या में दिखलाई पड़ती हैं। इनको न समझना धर्म की वस्तुनिष्ठ भूमिका को ही नकारना होगा। जहाँ एक ओर सामाजिक होड़ एवं व्यक्तिगत अहमन्यता को धार्मिक-दृष्टि ने मर्यादित किया है, यह भी भुलाया नहीं जाना चाहिए और न भुलाया जा सकता है कि धार्मिक आस्था का सर्वोपरि दुर्गुण असहिष्णुता एवं निष्कलंक सहनशीलता (जो मानवीय स्वातन्त्र्य की अपरिहार्य पूर्वापेक्षा है) का अभाव है। ब्रूनो, सुकरात, गैलीलियो और स्वयं ईसा भी उसी अनुदार धार्मिक प्रवृत्ति के उत्पीड़न के शिकार हुए थे जो अपनी आस्था, फिर वह जैसी भी हो, को पूर्ण रूप से अपरिवर्तनीय मानने की कठ मुल्लई से ग्रसित पोपवादी दृष्टि थी।

इस घातक भ्रान्ति का मानववादी निराकरण एवं उन्मूलन अनिवार्य और सम्भव है, यह मेरा मत है, किन्तु धर्म के वस्तुनिष्ठ विश्लेषण के समकालीन प्रसंग में इसे केवल विभिन्न धर्मों के बीच संवाद द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। मानववादी मूल्यापेक्षाओं को सभी धर्म-दृष्टियों द्वारा स्वीकार किया जाना ऐसे संवाद की सार्थकता की पूर्वमान्यता है।

आज जबकि संसार विनाशक तनावों के बीच खड़ा हैं, जहाँ बीसवीं सदी के अन्त तक न जाने कितने नये पुराने धार्मिक संस्थान पनप चुके हैं, और वे सभी अहिंसक शान्तिवादी भी नहीं हैं, विशेष परम्पराओं का एकतरफा प्रचार दर्शन के अनुसार धर्म का भी वांछनीय लक्ष्य नहीं ठहराया जा सकता। विभिन्न परम्पराओं के अनुयायिओं को परस्पर विराट समालोचना एवं संवाद की सहनशीलता का आयाम

ढूँढने की मौलिक एवं प्रासंगिक अनिवार्यता है। ऐसी सदाशयता की बातें यान्त्रिक साम्राज्यवादी युद्ध और व्यापारिक, आर्थिक, वैज्ञानिक सम्प्रेषण एवं संचार माध्यमों की क्रान्तियों के बाद अधिनूतन बीसवीं सदी के धर्म नेताओं और धर्म-दार्शनिकों द्वारा प्राय: की जाती हैं, की जा रही हैं। किन्तु यह केवल आणविक विस्फोट एवं युद्ध की भयावह पाशविकता की विभीषिका से प्रताणित चीत्कार मात्र नहीं होनी चाहिए। यह भी नहीं है कि ऐसे मानव उत्पीड़न की सम्भावना पर चिन्तन धार्मिक एवं नैतिक चिंतन को परस्पर पास लाने की कड़ी नहीं बन सकती। पर, यह भी तथ्य है कि इस परम विभीषिका एवं भविष्य की दुश्चिंता से भी मानव और प्रकृति के परस्पर निर्धारणों का प्रभाव - समकालीन विज्ञान (आनुवांशिकी, कम्प्युटर, मनोचिकित्सा) - व्यक्ति की निजी स्वायतत्ता पर आक्रामक रूप से हावी हो रहा है तथा हमारी समकालीन नगरीय जीवन-शैली में मानव-मानव के बीच जो न मिटने वाला अपरिचय का खोट और टूट की व्यथा मुखर कर रही है, वे धर्म पर पुन: विचार की माँग कर रहे हैं। आत्मनिर्वसनता की न पटने वाली खाई पट चुकी है, सामाजिकता की आज प्राय: अर्थी निकल चुकी है। स्वयं 'जीवन' में 'जीने की सार्थकता' पर जिस प्रकार के संशय आज के समकालीन बोध, साहित्य, कला एवं मनोरंजन के अथक विज्ञापित साधनों द्वारा उठाए जा रहे हैं, इस बात की ओर संकेत करते हैं कि आज प्रश्न किसी एक 'धर्म' की श्रेष्ठता को दूसरे से अवर ठहराने का नहीं रह गया है, बल्कि यह है कि क्या हमारा कोई सार्थक धार्मिक परम्पराओं का परस्पर संवाद, किसी पटल पर, मानव की अपनी सहज स्वायत्त नैतिक प्रतिबद्धता देने की दृष्टि जुटा पायेगा ? जबकि हमारे काल में दु:ख, संशय, दुविधा, अनास्था और मनोविकार को ही मौलिकता बताया जा रहा है, क्या धर्म दर्शन मानव की सार्थक प्रतिमा उकेरते, उसे अपने अतीत से प्रेरणा, अपने वर्तमान में इस उत्कृष्ट मानव-प्रतिमा के प्रति प्रतिबद्धता और भविष्य के लिए आश्वासन दे सकेगा ? इसके लिए मानव अस्मिता का निरीक्षण ज़रुरी होगा। केवल औपचारिक ढर्रे पर विभिन्न परम्परागत धार्मिक विश्वासों की व्याख्या या विलयन बहुत सहायक कार्यवाही नहीं होगी।

यहाँ दार्शनिक एवं विचारक शायद सार्थक हों; वह बतला सकेंगे कि मानव क्या है ? व्यक्तिनिष्ठ मानव के पराए संसार से (जो भी बहुआयामी है) अन्य या दूसरे आदमी, एवं वस्तुओं से सही रिश्ते क्या हैं ? और, फिर इन सभी रिश्तों के बीच 'मूल्य' और 'परमेश्वर' कहाँ से घुसपैठ कर बैठते हैं ? फिर, क्या इन्हें एक पूर्ण वैचारिक योजना में अभिव्यक्त किया जा सकता है जिसके आधार पर समूची मानवता की रचनाएँ, कृतियाँ एवं संस्कृति विवेचित हो जायें ?

खण्ड : दो

भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शनों की तुलना

रहस्यानुभूतिगत उदात्त भावना (पूर्वार्द्ध)

रामचन्द्र दत्तात्रेय राणाडे

आदरणीय राष्ट्रपति जी, आपने आज सायंकाल यहाँ भाषण देने के लिए मुझे बुलाकर जो उल्लेखनीय सम्मान प्रदान किया है उसके लिए मैं आपका बहुत कृतज्ञ हूँ। भाषण का विषय मैंने चुना है आध्यात्मिक अनुभूति अथवा तत्त्वोपलब्धि का आलोचन। आलोचन का प्रयोग यहाँ काण्ट के आलोचन (*क्रिटीक*) के अर्थ में है। इसका अर्थ आलोचना या खण्डन नहीं। इसका अर्थ प्रत्याख्यान नहीं। इसका अर्थ किसी भी दार्शनिक समस्या का बहुत ही सावधान अध्ययन, विवेचन तथा अभिव्यंजन है। काण्ट सम्भवतः यूरोपीय श्रेष्ठ दार्शनिकों में से हैं। उसकी तीन कृतियाँ बहुत उल्लेखनीय हैं : 'विशुद्ध बुद्धि का आलोचन' (*द क्रिटीक ऑफ प्योर रीजन*) 'प्रायोगिक बुद्धि का आलोचन' (*द क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीजन*) और 'निर्णय का आलोचन' (*द क्रिटीक ऑफ जजमेंट*) जिनमें से परवर्ती कृतियाँ पूर्ववर्ती कृतियों के मूर्धन्य पर आधारित हैं। जब मैं तरुण विद्यार्थी था तो वे मुझे दर्शन-ग्रन्थ की भाँति लगती थीं, अब वे मुझे काव्य-ग्रन्थ के सदृश प्रतीत होती हैं। जब काण्ट जैसा विचारक इन तीन आलोचनों में विचार तथा अनुभूति के प्रत्येक विषय पर अपना अत्यन्त गम्भीर ज्ञान प्रकट करता है तो किसी साधारण अथवा दार्शनिक व्यक्ति के लिए इन तीन आलोचनों के अतिरिक्त योजनाओं का निर्माण करना बहुत कठिन कार्य है। पर तो भी जिन लोगों ने समसामयिक दर्शन पढ़ा है और जिन्होंने भारतीय तथा पाश्चात्य विचार का आध्यात्मिक दृष्टिकोण से अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि काण्ट में एक वस्तु का अभाव है, वह है प्रातिभ ज्ञान का तत्त्व। हाँ, उसके ग्रन्थों के अंग्रेजी अनुवादकों ने प्रातिभ का प्रयोग प्रत्यक्ष के अर्थ में किया है। जिस अर्थ में मैं इस शब्द का प्रयोग करने जा रहा हूँ और जिस अर्थ में यह सम-सामयिक विचार में प्रयुक्त होता है वह अतीन्द्रिय शक्ति (*सुपर सेन्सुअस फैकल्टी*) है जो बुद्धि (*रीजन*) के परे जाती है और हमें बुद्धि के अगम्य वस्तुओं का ज्ञान कराती है। जिस शक्ति के द्वारा हम आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश कर सकते हैं, वह प्रातिभ है, इसी को शंकराचार्य अनुभूति कहते हैं। अस्तु, मैं काण्ट के विशुद्ध बुद्धि, प्रायोगिक बुद्धि और निर्णय के तीनों आलोचनों को एक नए, आलोचन, अर्थात् प्रातिभ का आलोचन अथवा आध्यात्मिक अनुभूति का आलोचन, के द्वारा परिपूर्ण करने की आवश्यकता सोचता हूँ। *भगवद्गीता* के अध्ययन में मुझे वह

अनु. हरिमाधव शरण

ज्ञान प्राप्त हुआ। १९२८ में नागपुर विश्वविद्यालय में मैंने *भगवद्गीता* पर कई भाषण दिए। तब से लेकर बहुत दिनों तक उक्त विषय पर मैं विचार करता रहा। पर नाना प्रकार के पूर्व व्यवसायों और समयाभाव ने अब तक उन भाषणों को प्रकाशित न होने दिया। उस समय मैंने तीन मुख्य विषयों पर विचार किया था : (१) अध्यात्मशास्त्र का द्वन्द्व (*एन्टीनोमीज़ ऑफ मेटाफिजिक्स*) (२) अहैतुक आदेश (*कैटेगोरिकल इम्परेटिव*) और (३) आत्मानुभूति में उदात्त की भावना। यही तीन विषय काण्ट-दर्शन के मुख्य विषय हैं और क्रमशः 'विशुद्ध बुद्धि का आलोचन', 'प्रायोगिक बुद्धि का आलोचन' तथा 'निर्णय का आलोचन' में व्यवहृत हैं। प्रस्तुत कृति पर यदि कोई आपाततः भी दृष्टिपात करेगा तो उसे विदित हो जाएगा कि ये ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्याएँ हैं जिनसे प्रस्तुत कृति का सम्बन्ध है।

काण्ट के 'विशुद्ध बुद्धि का आलोचन' में द्वन्द्वों के ऊपर जो सुप्रसिद्ध अध्याय है उसके द्वारा मैं इस विषय में प्रवेश करने को लालायित हुआ। सचमुच वह विशुद्ध बुद्धि के आलोचन का सार और बीज है। उसके बाद काण्ट ने इधर उधर देखना आरम्भ किया, आगे-पीछे अनेक अधिकरणों को जोड़ दिया और इस प्रकार अपनी कृति 'विशुद्ध बुद्धि का आलोचन' पूर्ण किया। यदि आप द्वन्द्वों की रचना पर दृष्टिपात करें तो विदित होगा कि उनमें चार समस्याएँ हैं : जगत् की समस्या, आत्मा की समस्या, स्वातन्त्र्य की समस्या और ईश्वर की समस्या। हमें और क्या चाहिए ? द्वन्द्वों में इन सब पर विचार किया गया है। काण्ट चूँकि अपनी नैसर्गिक तार्किक रीति से अपने दार्शनिक पर्यवेक्षणों का एक प्रकार की तार्किक प्रणाली से समर्थन करना चाहता था इसीलिए उसने हमें एक ओर हेत्वाभासों (*पारलोजिज्म*) और आदर्शों (*आइडियल्स*) को दिया तो दूसरी ओर पदार्थों (*कैटेगोरीज*) और आत्म-प्रत्यक्ष (*एपरसेप्शन*) की एकता को। किन्तु जहाँ तक विशुद्ध बुद्धि की बात है, काण्ट के दर्शन का सार द्वन्द्व है। काण्ट के तर्कवाक्य ये हैं : द्वन्द्व का अर्थ है एक नियम का दूसरे के विरोध में तुल्य बल होना। दर्शन में यह शाश्वत होता है। काण्ट के अनुसार इस प्रकार के उपर्युक्त चार द्वन्द्व हैं, अर्थात् बद्ध-अबद्ध का द्वन्द्व, साधारण तथा मिश्र का द्वन्द्व, स्वातन्त्र्य तथा कार्यकारणवाद का द्वन्द्व, और अनिवार्य तथा संभाव्य सत्ता का द्वन्द्व। काण्ट ने इन द्वन्द्वों का समाधान भी किया था। *भगवद्गीता* भी इसी प्रकार के द्वन्द्वों को उठाती है। पहला द्वन्द्व है : ईश्वर सशरीर है अथवा अशरीर, दूसरा है : ईश्वर कर्त्ता है या द्रष्टा, तीसरा है : ईश्वर सर्वातीत है अथवा सर्वान्तर, चौथा है : जगत सत्य है अथवा असत्य और पाँचवाँ है : क्रम-मुक्ति है या सद्यः-मुक्ति। इस प्रकार *गीता* के आध्यात्मिक अधि

ाकरण में ये समस्याएँ वर्णित हैं, जिनकी प्रायः उपेक्षा की गई है। हम अपने विमर्श में देखेंगे कि गीता ने इन द्वन्द्वों का कैसे समाधान किया है।

मगर आज मेरी प्रधान समस्या द्वन्द्व और उनके समाधान अथवा अहैतुक आदेश और उसके प्रकार नहीं हैं। मेरी समस्या दूसरी है, उस पर शीघ्र ही विचार करेंगे, उस समस्या पर हम विशेष ध्यान देंगे।

द्वन्द्वों पर विचार कीजिए। (१) पहले पौरुषेय (सशरीर) और अपौरुषेय (अशरीर) के द्वन्द्व के सम्बन्ध में हमें *भगवद्गीता* में इन दोनों सिद्धान्तों की समर्थक उक्तियाँ मिलती हैं। 'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि' में पौरुषेय परक प्रत्यय है। 'अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः', यहाँ अपौरुषेय परक प्रत्यय है। 'पितामहस्य जगतो ...... प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्', यह ऊपर के दोनों कथनों का समन्वय करता है। अतः हम कह सकते हैं कि पौरुषेय तथा अपौरुषेय दोनों प्रत्ययों का तथाकथित अति-पौरुषेय में समन्वय है। मैं विस्तार में नहीं जाना चाहता, फिर भी मैं आपके समक्ष इन निष्कर्षों को रखना चाहता हूँ।

(२) दूसरा द्वन्द्व है : ईश्वर कर्ता है या द्रष्टा ? जो लोग समझते हैं कि ईश्वर सब कुछ करता है वे भूले हुए हैं क्योंकि वह प्रकृति है जो सब कुछ करती है। जो ईश्वर को कर्ता मानता है वह कुछ नहीं समझता :

तत्रैवं सति कर्त्तारं आत्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः।।

इसके विपरीत प्रकृति सर्वशक्ति सम्पन्न है। पर इस सिद्धान्त के प्रतिकूल *भगवद्गीता* में ही हमें दूसरा सिद्धान्त मिलता है।

ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारुढ़ानि मायया।।

गेटे की आत्मा की भाँति, यह बतलाता है कि ईश्वर अपनी अंगुलियों के चारों ओर अखिल जगत को घुमाता है। समाधान क्या है ? कर्तृत्व-द्रष्टत्त्व द्वन्द्व का समाधान है कि ईश्वर प्रकृति में निवास करता है और उसकी उपस्थिति के कारण ही प्रकृति घूमती है :

'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

इस सिद्धान्त को हम निःसरणवाद (*इमैनेशेनिज्म*) कह सकते हैं।

(३) तीसरा द्वन्द्व सर्वातीतत्त्व और सर्वान्तरत्व का है। क्या ईश्वर सम्पूर्णतया संसार में सर्वान्तर ही है, अथवा वह संसार के बाहर भी है ?

'समाविष्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा' - यह सर्वान्तरीय सिद्धान्त है। इसके प्रतिकूल, यथा 'प्रकाशयति एक: कृत्स्नं लोकमिमं रवि:' में सर्वातीतीय सिद्धान्त है। जैसे, सूर्य अथवा आकाश निर्लिप्त रहते हैं, अर्थात् जैसे सूर्य और आकाश सर्वातीत हैं वैसे ईश्वर भी। इस द्वन्द्व का समाधान दो प्रकार से हो सकता है। एक तो जैसा अर्वाचीन ईश्वरवादी मानते हैं, ईश्वर को सर्वगतातीत मानने से द्वन्द्व का समाधान हो जाता है। अवतार का प्रत्यय वस्तुत: यह है कि जो सर्वातीत है वह सर्वान्तर होता है। अत: अवतारवाद, जो हिन्दू और ईसाई धर्म की अनोखी विशेषता है, सर्वान्तरत्व के द्वन्द्व का समाधान करता है।

(४) जगत् की सत्यता और असत्यता नामक चौथे द्वन्द्व के सम्बन्ध में *भगवद्गीता* में एक स्थल पर हमें सभी तत्त्वों की सत्यता बताई जाती है :

भूमिरापोऽनलो वायु: खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।

दूसरी जगह हमें माया तथा अज्ञान के विषय में बताया जाता है। आगे अश्वत्थ वृक्ष का वर्णन मिलता है जो स्केन्डेनेविया के कथा साहित्य में इग्ड्रैसिल वृक्ष के नाम से प्रसिद्ध है। अश्वत्थ की परिभाषा है : 'न श्वोपि तिष्ठति इति अश्वत्थ:'। इसीलिए यह असत् का प्रतीक है। अब *उपनिषद्* और *भगवद्गीता* में एक भेद है, *उपनिषद्* अश्वत्थ की सत्ता घोषित करते हैं : 'एषोऽश्वत्थ: सनातन:'। इसके विपरीत *भगवद्गीता* में हमें बताया जाता है कि जो अश्वत्थ वृक्ष को काटता नहीं है वह अपना जीवन व्यर्थ में बिताता है। अत: जहाँ तक *भगवद्गीता* का विचार है, अश्वत्थ का प्रत्यय असत् का प्रत्यय है। इसका समन्वय श्रीकृष्ण ने स्वयं 'व्यक्त मध्य' के सिद्धान्त में दिया है :

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।।

कारलाइल भी कहता है : थोड़ा पहले तुम नहीं थे, थोड़ा बाद तुम नहीं रहोगे। तुम केवल सुप्रतीयमान वर्तमान में ही हो। यही *भगवद्गीता* के 'व्यक्त मध्य' का भी सिद्धान्त है। इस प्रकार हम देखते हैं कि क्षणभंगुरवाद का सिद्धान्त सदसद् द्वन्द्व को समन्वित करता है।

(५) अन्तत: अन्तिम द्वन्द्व आता है। यह द्वन्द्व वेदान्त साहित्य में सर्व प्रसिद्ध और समादृत है। क्या मनुष्य मृत्यु के क्षण ही मुक्त हो जाता है ? अथवा वह मोक्ष-समीपतर अनेकों जीवनों के द्वारा मुक्त होता है ?

'अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्' में प्रथम उक्ति की अभिव्यक्ति

है और 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' में दूसरे की। इन दोनों विकल्पों का समन्वय जीवनमुक्ति, अर्थात् यहीं और इसी समय मुक्ति में है। जीवन-मुक्ति को ही *भगवद्गीता* 'ब्राह्मीस्थिति' कहती है : 'एषा ब्राह्मीस्थितिः पार्थ'। यहाँ तक मैंने आपको काण्ट के द्वन्द्वों और समाधानों की शैली में गीतोक्त द्वन्द्व और उनके समाधान का यत्किञ्चित् परिचय दिया।

अहैतुक आदेश के विषय पर भी 'प्रायोगिक बुद्धि का आलोचन' और *भगवद्गीता* में बहुत समानान्तर वर्णन है। *भगवद्गीता* अवश्य काण्ट से प्राचीनतर है, और काण्ट न तो भगवद्गीता को जानता था और न जान ही सकता था, तो भी काण्ट महान पुरुष था, और सभी महापुरुषों के विचार में सादृश्य रहता ही है। जिन्होंने काण्ट के नीतिशास्त्र का अध्ययन किया है वे जानते हैं कि काण्ट का उच्चतम सिद्धान्त उसका अहैतुक आदेश है। उसी सूक्ति के अनुसार कार्य कीजिए जिसे आप विश्वजनीन नियम होने का संकल्प कर सकें, यह अहैतुक आदेश का सामान्य सूत्रीकरण है। काण्ट ने बाद में तीन सुविविक्त और क्रमिक सूत्रीकरणों की रचना की। काण्ट का कहना है कि सामान्य सूक्ति में जो सार्वभौमिक निहित है उसे अवश्य प्रकृति के नियम का रूप धारण करना चाहिए। अन्ततः इसे साध्यों के उस राज्य की सहायता करनी चाहिए जिसमें प्रत्येक मनुष्य को सदा साध्य समझा जाए और कभी साधन न माना जाए और जिसमें प्रत्येक मानव प्राणी की इच्छा-शक्ति, बुद्धिपरता की हैसियत से, समस्त मानवता के लिए विधान बना सके। यही काण्ट के नीति दर्शन की विस्तृत बातें हैं जिनमें इस समय मैं पड़ना नहीं चाहता हूँ। मैंने आपके समक्ष केवल वह विधि रखी है जिसमें अहैतुक आदेश का सामान्य सूत्रीकरण तीन उपसूत्रों में विशिष्ट बन जाता है।

ठीक उपर्युक्त रीति में ही *भगवद्गीता* भी अहैतुक आदेश की सामान्य सूक्ति हमें देती है :

'कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं कुरुतेऽर्जुन'।

अर्थात् 'तुम्हें अपना कर्त्तव्य करना चाहिए। कारण, यह तुम्हारा कर्त्तव्य है और कोई बात नहीं।' यह सामान्य सिद्धान्त है जो काण्ट के अहैतुक आदेश की सामान्य सूक्ति से भली-भाँति मिलता जुलता है। बाद में *भगवद्गीता* इसके तीन क्रमिक विशेषीकरणों का उल्लेख करती है। पहला है : 'संगं त्यक्त्वा फलं च', अर्थात् जब तुम कार्य कर रहे हो उस समय तुम्हें न तो लिप्त होना चाहिए और न तो कार्य के फल की परवाह करनी चाहिए। दूसरा विशेषीकरण है : तुम्हें समदृष्टिपूर्वक और कारीगर

की भाँति कार्य करना चाहिए, जैसे कि महात्मा गाँधी स्वयं को सत्याग्रह का कारीगर कहते थे : 'समत्वं योग उच्यते' और 'योग: कर्मतु कौशलम्' । और, अन्तत: सर्वश्रेष्ठ विषयीकरण है कि यज्ञ की भावना से कार्य करना चाहिए :

'यज्ञायाचरत: कर्म समग्रं प्रविलीयते' ।

अर्थात् यज्ञ का अर्थ पशुवध अथवा घृत, तण्डुल और तिल की आहुति नहीं है। यह ईश्वर के लिए सभी स्वत्वों का बलिदान या त्याग है। यही यज्ञ का अर्थ है। संक्षेप में, *भगवद्गीता* के अनुसार जो लोग अपना कर्त्तव्य करने के लिए अपने आध्यात्मिक संतोष के निमित्त कार्य करते हैं वे उच्चतम सिद्धान्त के अनुसार कार्य करते हैं। काण्ट के अनुसार यदि आप कार्य करते समय आनन्द व भोग करते हैं तो आप अपना कर्त्तव्य बिल्कुल नहीं कर रहे हैं। जब हम अपना कर्त्तव्य करें तो सुख या दु:ख का विचार मात्र भी न लावें। किसी कवि ने काण्ट का उपहास यह कह कर किया है कि यदि हमारे माँ बाप मर रहे हैं तो काण्ट हमें परामर्श देते हैं कि उनके पर्यंक के पास हमें एक बूँद भी आँसू नहीं गिराना चाहिए। तुम्हें अपना कर्त्तव्य इसलिए करना चाहिए कि यह तुम्हारा कर्त्तव्य है। अत: संवेग की अभिव्यक्ति काण्ट के मत से सर्वथा नीति क्षेत्र से बाहर है।

यदि हम *भगवद्गीता* पर पुन: विचार करें तो ज्ञात होगा कि इसमें विविध यज्ञों का वर्णन है। सचमुच यह जानकर आश्चर्य होता है कि कृष्ण स्वयं समाजवादी सिद्धान्त द्रव्य यज्ञ से आरम्भ करते हैं। *गीता* कहती है कि हमें कार्य-कुसुमों को ईश्वर-शरीर पर रखना चाहिए। अत: हमें अपने कार्यो से ईश्वर को विभूषित करना चाहिए और अन्ततोगत्वा उन्हें ईश्वर के पास सुरक्षित रख छोड़ना चाहिए :

'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि' ।

इस प्रकार जहाँ तक अहैतुक आदेश का सम्बन्ध है, *गीता* के ये ही विचार हैं। आप देखेंगे कि काण्ट और *गीता* एक ही प्रकार से सोचते हैं, यद्यपि न तो काण्ट *गीता* को जानता था और न *गीता* काण्ट-दर्शन का हीं प्राक्-चिन्तन कर सकी।

आखिर में हमें औदात्त्य पर विचार करना है। यही आज का मेरा प्रस्तुत विषय है। *भगवद्गीता* में विशेषत: ११वें अध्याय में इस विषय पर सुन्दर विचार किया गया है। मैं समझता हूँ कि काण्ट ने औदात्त्य पदार्थ को निर्णय के आलोचन में सौन्दर्य तथा साध्यता संबन्धी (*द टेलियोलॉजिकल*) पदार्थों के मध्यस्थ मानकर बड़ी भूल की है। यह किंचित् शास्त्रीय विषय है। काण्ट कहता है कि स्वादु और औदात्त्य दोनों सौन्दर्य शास्त्रीय निर्णय के अन्तर्गत हैं। मेरा इससे मतभेद है। मैं समझता हूँ कि औदात्त्य, स्वादु

और साध्यता (*टेलियोलॉजी*) का समन्वय है, अतः औदात्त्य को स्वादु तथा साध्यता के मध्य स्थापित करने के बजाय काण्ट को साध्यता को सौन्दर्य तथा औदात्त्य के मध्य रखना चाहिए था। इतने पर भी काण्ट कृत औदात्त्य वर्णन आश्चर्यजनक है। मुझे इस विषय को ग्रहण करने को जिस वस्तु ने उत्सुक किया वह इसी प्रकार का औदात्त्य है जो काव्य, कला, मानव जीवन तथा आध्यात्मिक अनुभव में होता है। ताजमहल एक सुन्दर भवन हो सकता है, पर राष्ट्रपति भवन तक ३ मील आयत मार्ग तथा संसद के सदन उदात्त हैं। काण्ट के अनुसार सौन्दर्य तथा औदात्त्य में यह भेद है : सौन्दर्य का लक्ष्य क्रम (*ऑर्डर*), सन्तुलन या सममिति (*सिमेट्री*), समरसता (*हारमोनी*) है और सौन्दर्य में दर्शक का मन दृश्य विषय से अनुप्राणित और अनुस्यूत हो जाता है। औदात्त्य में मन दृश्य विषय द्वारा जीत लिया जाता है। जब भूचाल आता है तो क्या होता है ? तूफान में, अग्निकाण्ड में, युद्ध में, महामारियों और प्रचण्ड बाढ़ों में मनुष्य के मन को प्रकृति जीत लेती है। अतः यहाँ उदात्त की भावना आ जाती है। इतने पर भी काण्ट कहता है कि मनुष्य का मन इतना विशाल है कि उसे इन वस्तुओं द्वारा अपने मन को पराजित नहीं होने देना चाहिए। सम्भव है कि ये शक्तियाँ किसी मनुष्य को क्षण भर गतिशून्य कर दें, पर मनुष्य जानता है कि उसकी आन्तरिक आत्मा प्रकृति की इन सकल शक्तियों से विशाल है, और आन्तरिक विजय प्रकृति की विजय से कहीं उच्चतर है।

रुडोल्फ ओटो जैसे विश्रुत विद्वान् लेखक ने हाल ही में काण्ट की उदात्त भावना के सामान्तर (विचार) 'शुचिता का विचार' (*आइडिया ऑफ द होली*) में दिया है। यदि आप ओटो की पुस्तक 'शुचिता का विचार' पढ़ें तो आपको यह अद्‌भुत ग्रन्थ लगेगा। १९२७ में पूना में उनसे मिलकर मैं अपने को भाग्यशाली समझता हूँ। मैंने उनकी पुस्तक पढ़ी थी और उन्होंने *उपनिषदों* पर लिखी मेरी पुस्तक पढ़ी थी। उन्होंने मुझे सन्देश भेजा था कि वे मुझसे आकर मिलेंगें। मैंने कहा कि महाशय, आप अति वृद्ध हैं, आपको मेरे यहाँ आने की आवश्यकता नहीं है, मैं स्वयं आपके दर्शन हेतु आपके यहाँ आऊँगा। मैं डॉ० मैकनियल और डॉ० बेल्वल्कर के साथ उनके पास गया। मैं क्या बताऊँ कि वह कितने अद्‌भुत पुरुष थे। वे जर्मन थे पर अंग्रेजी सुन्दर ढंग से बोलते थे। जब मैं उनसे विदा हुआ तो कहा, 'महाशय आप सच्चे आचार्य हैं'। मैंने ओटो जैसा दूसरा ईसाई नहीं देखा जो अन्तःकरण का शुद्ध हो और दूसरे धर्म के ग्रन्थों को बहुमूल्य निधि समझता हो। ओटो ने *गीता* के ११वें अध्याय का पद्यमय अनुवाद किया है और अपनी पुस्तक 'शुचिता का विचार' में परिशिष्ट के रूप में उसे

जोड़ दिया है। केवल दर्शन के दृष्टिकोण से ही नहीं वरन् साहित्य की दृष्टि से भी 'शुचिता का विचार' सुन्दर ग्रन्थ है। हमारी अनुभूति के प्रत्यय की भाँति ओटो ने एक दूसरा प्रत्यय दिया है। हमारी अनुभूति विशुद्ध बुद्धि, प्रायोगिक बुद्धि तथा निर्णय के मूर्धन्य पर है। इसी प्रकार ओटो कहते हैं कि शुचिता का विचार 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के ऊपर है। यह स्वतः एक स्वतन्त्र पदार्थ है। इसका किसी पदार्थ में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। शुचिता ईश्वर पदार्थ है। इसको वे '*मिस्टीरियस ट्रेमेन्डम*' कहते हैं, यह रहस्यों तथा ईश्वर प्रेरित विशाल भय ये भरी है। ऐसा ही भय कृष्ण के विश्व रूप से अर्जुन के मन में उदय हुआ था। हम ऊपर के विवेचन से देख सकते हैं कि काण्ट की उदात्त भावना, ओटो की शुचिता की भावना तथा मेरी अपरोक्षानुभूति की भावना परस्पर सदृश भावनाएँ हैं।

भगवद्गीता का ११वां अध्याय उदात्त की भावना का संस्कृत साहित्य का सर्वोत्कृष्ट निदर्शन है। विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य में भी इस प्रकार के अनुभव की अभिव्यक्ति का अभाव नहीं। मैं भारत की तीन प्रान्तीय भाषाओं, हिन्दी, कन्नड़ और मराठी से उदात्त की भावना का उदाहरण देना चाहता हूँ। ये भाषाएँ केवल उदाहरण भूत हैं। अन्य भाषाओं से भी ऐसे उदाहरण दिए जा सकते हैं। मैं हिन्दी सन्त-साहित्य के तीन कवि कबीर, तुलसी एवं गुलाल से तीन उदाहरण लूँगा। कन्नड़ के भवतारक से एक उदाहरण लूँगा और मराठी के ज्ञानेश्वर से भी एक उदाहरण दूँगा। रहस्यानुभूति के दृष्टिकोण में ये उदाहरण औदात्त्य के उस विवेचन का पोषण करेंगे जो *भगवद्गीता* के आधार पर मैंने किया है। ये पाँच उदाहरण रहस्यानुभूति में औदात्त्य के स्वरूप, शुचिता की विशेषताएँ तथा प्रातिभ विधि – जिसके द्वारा उनका ग्रहण होता है – को भली-भाँति स्पष्ट कर देंगे।

पहले हिन्दी आध्यात्मिक-साहित्य की तीन महान् कविताओं को लीजिए : 'चुअत अमीरस भरत ताल जहँ' इस कविता में कबीर कहते हैं कि नदी इतनी शक्तिशालिनी हो गई कि सागर को निगल डाला। जीवात्मा ने ईश्वर की सत्ता को निगल डाला। 'सरिता उमड़ि सिन्धु को सोखै', मानव अस्तित्व ईश्वर को खा डाल रहा है। कबीर फिर कहते हैं, 'दस अवतार एक रत राजै', अर्थात् मैं अपने सामने एक रात्रि में दसों अवतारों को गुजरते हुए देखता हूँ। क्या यह मुझे महान् भय तथा आश्चर्य से भर नहीं देगा ? प्रशंसा के शब्द स्वतः मेरे ओष्ठों पर आ जाते हैं, कबीर कहते हैं। यही उदात्त है। पुनश्च, गुलाल में हमें उदात्त की अनुभूति मिलती है। हम मानव शिशु (क्षुद्र) आत्माएँ हैं और माता द्वारा छोटे पलने पर पड़े हैं। मैं इस विषय को

कन्नड़ के एक गीत 'अयुतिधा कन्दा' से एक कन्नड़ उत्सव में कल विचार करूँगा। पर यहाँ गुलाल कहते हैं कि इस पालना में, जिसमें ईश्वर ने मनुष्य को रख छोड़ा है, न तो आधारभूत स्तम्भ हैं और न बन्धनभूत रस्सियाँ : 'बिन डोरी बिन खम्भे पौढ़ल'। चौबीसों घण्टे पलने की घण्टियाँ निरन्तर संगीत ध्वनि कर रही हैं : 'आठ पहर झंकार'। हमें हिंडोला राग में इस गाने को गाने दीजिए 'गावो सखी हिंडोलवा हो'। आगे चल कर गुलाल कहते हैं कि जब गुरु ने हिंडोला को धक्का दिया तो हिंडोले के सभी बन्धन टूट गए, असद्भूत स्तम्भों एवं रज्जुओं के योग नष्ट हो गए और वायुमंडल में विलीन हो गए। जैसा वर्डस्वर्थ ने कहा है : आध्यात्मिक तत्त्व तो अन्दर या सकल विश्व में समा गया। 'छुटत जगत कर झुलना हो, प्रेम पदार्थ भइल निनार', इस प्रकार की उदात्तानुभूति साधक को मिल सकती है, यदि वह अपने को ईश्वर-शिशु समझे। अब मैं तुलसीदास को लेता हूँ जिन्होंने चातक का उदाहरण दिया है। प्रकृति चातक पर ओले फेंक कर उसके पंखों को तोड़ डालती है। इसके अतिरिक्त बहेलिए ने भी उस पर घातक बाण मारा। तब उसने क्या किया ? वह गंगा में गिर तो जरुर पड़ा पर उसने अपनी चोंच को नीचे नहीं किया। गंगा का पवित्र जल पीने से उसने इन्कार किया। उसने अपनी चोंच मेघों की ओर ऊपर रखी ताकि उनसे निकली हुई बूँदों को वह पी सके। यह उदाहरण बताता है कि मनुष्य में एक भक्ति होनी चाहिए, यदि वह ईश्वर से अनुग्रह-जल की कामना करता है। चातक के ध्यान का लक्ष्य मेघ से निकले जलकण हैं। भक्त के ध्यान का लक्ष्य ईश्वर से निकले अनुग्रह-कण होने चाहिए। इस प्रकार यह उदात्त भावना है। अब मैं आध्यात्मिक स्तर में औदात्त्य पर विचार करना उन लोगों के ऊपर छोड़ रहा हूँ जो भारतीय, यूरोपीय अथवा यूनानी अलंकार शास्त्र तथा काव्य के छात्र हैं।

अब कन्नड़ की भवतारक कृत एक प्रसिद्ध कविता को लीजिए : 'दृष्टि योडगे दृष्टि नितितु'। कवि कहता है कि जब आँख, आँख के सामने खड़ी हुई तो एक बड़ा दृश्य सामने आया, संसार नष्ट हो गया, 'दृष्टवेलनष्टवायितु'। आँख के सामने आँख की दृष्टि का अभिप्राय संसार-दृष्टि का अत्यन्ताभाव है। भवतारक आगे कहते हैं कि जब वे जीवात्मा रूप से संसार में आए तो वे २५ तत्त्वों में उतर पड़े। अरस्तु का कहना है कि विभिन्न तत्त्वों के समुदाय में बाहर से ईश्वर तुल्य क्रिया आकर निवास करती है। *बाईबिल* का कहना है कि ईश्वर ने मनुष्य की नासिका में जीवन श्वांस फूँका और मिट्टी के पुतले को सजीव कर दिया। वेदों में भी प्रसिद्ध उक्ति है : 'अस्थिन्वन्तं यदनस्या विमूर्ति', अर्थात् अस्थिहीन सत्ता ने अपने लिए अस्थियुक्त पुतले का निर्माण

किया। यही भवतारक का शाब्दिक अर्थ है। भवतारक दो प्रसिद्ध पंक्तियों में कहते हैं : आध्यात्मिक उपलब्धि के अनन्तर उन्होंने संसार में नया वैभव देखा। ऐसा लगा मानो समस्त जीवन का पुनर्जन्म हुआ। भूमि-शैलशिखर निर्विकार आत्मा से ओत-प्रोत हैं : 'पर्वताग्र भूमियिन्तु निर्विकार तोरितल्ल', ये सचमुच उदात्त के ही उदाहरण हैं।

मराठी से उदात्त का उदाहरण लेने के लिए हम ज्ञानेश्वर का यह उद्धरण लेते हैं : "अर्जुन ने ईश्वर सहित स्वयं को ईश्वर में देखा और संजय ने उन दोनों को एक साथ देखा.....। जब एक दर्पण दूसरे दर्पण के सामने रखा जाता है तो कौन किस को प्रतिबिम्बित करता है ? क्या कहें ? बिम्ब और प्रतिबिम्ब का भेद नष्ट हो जाता है। प्रत्येक दूसरे का अनन्त प्रतिबिम्ब प्रदान करता है। कल्पना कीजिए, एक सूर्य दूसरे सूर्य के सामने उदय हुआ तब कौन प्रकाशक है, कौन प्रकाश्य ? अस्तुं, जब कृष्ण और अर्जुन ऐक्यभाव की स्थिति में हो गए तो मैंने कहा कि संजय ने मेरा तादात्म्य उनसे पा लिया।"

रहस्यानुभूतिगत उदात्त भावना (उत्तरार्द्ध)

रामचन्द्र दत्तात्रेय राणाडे

भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तीय साहित्यों से रहस्यानुभूतिगत उदात्त का उदाहरण देने के पश्चात् हम उसके अन्य रूपों का वर्णन करेंगे। अब तक हमने केवल आध्यात्मिक जगत् पर ही प्रकाश डाला है किन्तु प्राकृतिक जगत् भी इस दृष्टि के लिए अविचारणीय नहीं है। यह ठीक ही कहा गया है कि 'प्रत्येक आध्यात्मिक अनुभूति अपने अन्दर उदात्त छिपाए ही रहती है'। साथ ही यह भी कहना अनुचित नहीं कि 'प्रकृति की प्रत्येक क्रिया पर उदात्त की छाप सुस्पष्ट है'। यहाँ हम उदात्त का वर्णन प्रमुख तीन शास्त्रों - भूतत्त्व विज्ञान, अन्तरिक्ष विज्ञान एवं खगोल विज्ञान के अनुसार करेंगे। यहाँ पर पृथ्वी, आकाश एवं ब्रह्माण्ड-मण्डल इस उदात्त के क्रिया-क्षेत्र माने जा सकते हैं।

१. भूतत्त्व विज्ञान की उदात्त की विवेचना के लिए भूकम्प का उदाहरण ही पर्याप्त होगा। उदात्त किस प्रकार एवं किस ऊँचाई तक उठ सकता है, इसकी सहज कल्पना इस एक उदाहरण से ही स्पष्ट हो जाती है। लेखक को स्वयं प्रयाग में सन् १९३४ ई. के भूकम्प को अपनी आँखों देखने का अवसर मिला है। उसके घर के ठीक सामने ही एक विशाल भवन, पृथ्वी के इस आंतरिक कम्पन के कारण, ताश के पत्तों के समान इधर-उधर झूल रहा था। निकट पड़ोस ही में एक मौलवी अल्लाहो-अकबर की पुकार कर रहा था। उस समय ऐसा लगता था मानो पृथ्वी के दो टुकड़े हो जाने वाले हैं।

२. ज्वालामुखी के विस्फोट के समय भी ऐसा ही दृश्य उपस्थित होता है। इन विस्फोटों तथा तजन्य भौतिक परिवर्तनों का सम्पूर्ण इतिहास इस बात का साक्षी है कि ऐसे विस्फोट उदात्त भावना उत्पन्न करने में अत्यन्त ही समर्थ हैं।

हिमालय के ऊपरी भाग में तिब्बत में स्थित तथा कैलाश एवं मान्धाता पर्वतों से घिरी हुई मानसरोवर को देखकर सरलता से कहा जा सकता है कि पृथ्वी की आंतरिक शक्ति के परिणामस्वरूप ज्वालामुखी विस्फोटों के मुख से निकले द्रव्य पदार्थ (लावा) ही मानसरोवर जैसे ज्वालामुखी के मुख के दोनों ओर पर्वतों के रूप में स्थित हैं। वास्तव में, पृथ्वी की इस शक्ति का भूरचना में अत्यन्त प्रमुख हाथ है। यहाँ पृथ्वी के आदिकाल में होने वाले इन महान् प्राकृतिक परिवर्तनों की कल्पनामात्र ही उदात्त का बोध कराने में पर्याप्त है।

अनु. बृजवल्लभ सिंह

३. इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति, जिसे गंगा एवं यमुना के बीच के उस विस्तृत क्षेत्र का जो संगम स्थान से लेकर ऊपर की ओर दो सौ से तीन सौ मील तक फैला हुआ है, देखने का अवसर मिला है, वह सहज ही जान सकता है कि यह सारा क्षेत्र केवल सिकता से ढका हुआ है। इस क्षेत्र में पत्थर का एक टुकड़ा भी मिलना कठिन है। एक बार सन् १९२८ में लेखक जब प्रयाग गया तो उसने एक दीवाल में नख धँसाया किन्तु पत्थर के टुकड़े बहुत ढूंढने पर भी न मिल सके। उसके आश्चर्यपूर्वक प्रश्न करने पर लोगों ने बताया कि यदि कोई पत्थर पाना चाहता है तो उसे ऊपर की ओर कम से कम १०० मील उत्तर में हिमालय, तथा नीचे की ओर ७५ मील दक्षिण में विन्ध्याचल तक जाना पड़ेगा। वास्तव में, यह कितनी बड़ी घटना रही होगी जब यह विशाल सैकत मैदान अरब सागर एवं हिन्द महासागर के वृष्टि-जल से बना होगा। भूभाग का एक-एक कण 'शतं भीष्मं, शतं भीष्मं' कहता हुआ उस सनातन इतिहास का स्मारक है।

अन्तरिक्ष विज्ञान

उदात्त का दूसरा उदाहरण अन्तरिक्ष विज्ञान के अन्तर्गत उत्तरी ध्रुव में अरोरा बोरियेलिस तथा दक्षिणी ध्रुव में अरोरा आस्ट्रेल्स द्वारा समझा जा सकता है। लेटिन भाषा का 'अरोरा' एवं ग्रीक भाषा का 'इयॉस' शब्द संस्कृत भाषा के 'उषस्' शब्द के समानार्थी हैं। इसी उषस् शब्द से उषस् देवता का नाम पड़ा है। उषस् के विभिन्न रंगों का अध्ययन करना एक अलग बात है किन्तु स्वयं आँखों से इस मनोहर दृश्य का अवलोकन करना एक बिल्कुल भिन्न बात है। २५ वर्ष पूर्व लेखक के एक मित्र को ओसलो में यह दृश्य देखने का अवसर मिला था। वह विविध रंगों की मनोरम झांकी देखकर मन्त्रमुग्ध हो गया। उसने बताया कि यह दृश्य नाना प्रकार के रंगों – नारंगी, लाल, पीला, नीला तथा हरा रंगों से चित्रित था। किन्तु हरा इसमें प्रधान रंग था। वास्तव में, इसका कारण उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवों में विद्युतीय क्षोभ है। जब इस क्षोभ के वृत्त-खण्ड का केन्द्र चुम्बकीय उत्तर एवं चुम्बकीय दक्षिण पर पड़ता है तो इससे नाना प्रकार के रंग चित्रित हो जाते हैं। 'अरोरा' का यह वर्णन प्राचीन साहित्यों में, जैसे ऋग्वेद में उषस् के वर्णन के रूप में, मिलता है। लोकमान्य तिलक के अनुसार, इस प्रकार के अनुभवों का वर्णन वही कर सकता है जिसे ध्रुवों पर रहने का अवसर मिला है (तभी तिलक जी 'आर्य उत्तरी ध्रुव से आये' कहते हैं)।

वैदिक कवि उषा देवी की आराधना 'चक्रमिक नव्यसि आवृत्स्व' के मंत्र से करता है। उषस् अन्तरिक्ष के चारों ओर चक्राकार घूमती हुई रात और दिन को दो-दो

माह के अन्तर से पृथक् करती है। चार माह की रात्रि और चार माह का दिन आपस में दो-दो माह के उषा एवं गोधूलि से मिलाये जाते हैं। इसी समय सूर्योदय या सूर्यास्त के पूर्व अन्तरिक्ष में हमें विभिन्न रंगों का चित्र-विचित्र प्रदर्शन देखने को मिलता है। वेदों में उषस् सप्तरंगों से सुसज्जित अश्वों के स्वर्णिम रथ पर बैठकर आती है, ऐसा वर्णन मिलता है। उषस् वृद्धा होते हुए भी युवती है (पुराणी देवी युवतिः)। वह अमरता का केतु है (अमृतस्य केतुः)। वह अमर सिद्धान्तों की अनुगामिनी है तथा सम्पूर्ण मानव की कल्पना एवं प्रेरणा का आदर्श है (अनुव्रतं चर्गस विश्वासरे) इत्यादि युक्तियों से उषस् का वर्णन किया गया है। उषा के इस उदात्त अनुभव के कारण ही *ऋग्वेद* में वर्णित उषस् की प्रार्थनाओं को कवि कल्पना एवं भक्ति-भावना का सर्वोत्तम उदाहरण माना गया है।

खगोल विज्ञान (ऐस्ट्रोनोमी)

खगोल विज्ञान के अनुसार उदात्त की घटनाएँ प्राकृतिक जगत् में सांद्रता एवं कल्पना की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। *भागवत्* में तथाकथित 'शिशुमार नक्र' या 'दैवी नक्र' का वर्णन एक ऐसा ही उदाहरण है। इस नक्र की दुम उत्तरी ध्रुव पर तथा मुँह मंगल पर है। इसका वर्तुल शरीर स्वर्ग में आकाश-गंगा के ऊपर नीचे घूमता है। सप्तर्षि मंडल (*ग्रेट बियर*) एवं लघु सप्तर्षि मंडल (*इमार बियर*) इसकी कटि हैं। तारे इस नक्र के बाल हैं। ग्रह इसके आंतरिक अंग हैं, यथा वक्षस्थल, कंठ, नाभि, हृदय इत्यादि। तारिकापुंज इसके बाह्य अंग हैं, यथा आंख, पैर तथा पँसुलिया आदि। नभोमंडल की सारी गति इस नक्र के चक्राकार, एक कोने से दूसरे कोने तक, घूमने के कारण ही है। खगोल-विद्या में कवि की सुन्दर-कल्पना तथा भक्ति-भावना से युक्त उदात्त का इससे श्रेष्ठ अन्य उदाहरण नहीं दिया जा सकता। वास्तव में, *भागवत्* के अनुसार इस प्रकार के नक्र का साक्षात्कार ध्यानावस्थित वासुदेव को हुआ। इसके अलावा जो भी व्यक्ति इस नक्र के उपरोक्त रूप का ध्यान करेगा वह सभी प्रकार के पापों से मुक्त हो जाएगा।

अभी तक हमने क्रमशः अध्यात्मिक जगत् एवं प्राकृतिक जगत् से उदात्त के उदाहरण प्रस्तुत किए। अब उदात्त के स्वभाव की दार्शनिक छानबीन कर लेना उचित ही होगा। पर दार्शनिक विवेचना तीन प्रमुख दृष्टियों से की जा सकती हैं ;

१. तत्त्व-ज्ञान २. धर्म-मनोविज्ञान ३. नीति।

तत्त्व-ज्ञान

उदात्त की तात्त्विक मीमांसा करते समय सर्वप्रथम हमें कांट के 'निर्णयालोचन' में वर्णित सुन्दर एवं उदात्त पर विचार कर लेना चाहिए। उनके अनुसार सुन्दर एवं

उदात्त का अंतर समाकार (*एसीमिलेशन*) एवं विजय के अन्तर के समान है। सुन्दर के अनुभव के समय मनुष्य का मन अनुभूत पदार्थों के समान आकार कर लेता है किन्तु उदात्त के अनुभव में यह वाह्यानुभूति द्वारा विजित होता है।

इसके अतिरिक्त तत्त्वमीमांसा के मात्रा एवं शक्ति के अन्तर पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। कांट इन्हें उदात्त के गणितात्मक एवं गति-शास्त्रात्मक अंग मानता है। हम यहाँ इन्हें क्रमश: उदात्त अनुभूति के प्रस्तार एवं सांद्रता नाम देंगे।

तीसरी ओर सबसे महत्त्वपूर्ण बात उदात्त के स्वभाव का वर्णन असीम के रूप में करना है। उदात्त की अनुभूति सदातीत एवं कल्पनातीत सी प्रतीत होती है। इस प्रसंग में एनैक्ज़िमेंडर का असीम (*अपेरॉन*) को मूलभूत पदार्थ मानना ठीक ही है। 'सीमा' का पदार्थ संकुचित है। किन्तु असीम से हम दैवी शक्ति के अधिक समीप पहुँचते हैं। दैवत्व के इस तत्त्व पर असीमता के सकल निर्देशनों में मैंने अन्यत्र अपनी कृतियों में भी अधिक जोर दिया है। उदाहरणार्थ, कबीर के 'बेहद' तथा कन्नड़ संतों के 'निर्वैक्तु' में।

इस विषय में मुझे यह जानकर अत्यन्त हर्ष हुआ कि जब अमेरिका के प्राध्यापक बर्च निम्बाल में आये तो उन्होंने *रिव्यू ऑफ मेटाफिजिक्स* (अमेरिका) में प्रकाशित एक लेख में एनैक्ज़िमेंडर के असीमता तत्त्व की दिव्यता पर उसी प्रकार बल दिया था।

धर्म–मनोविज्ञान

यहाँ उदात्त की धर्म-मनोविज्ञान की दृष्टि से विवेचना करने के पूर्व यह स्पष्टतया जान लेना चाहिए कि इस दृष्टि से आंतरिक एवं वाह्य अनुभवों का सम्बन्ध विलोम हो जाता है। उदात्त के तत्त्वज्ञानीय पहलू में जो प्रकृति मानव मन पर राज्य करती है वही मनोवैज्ञानिक पहलू में मानव मन के आश्रित हो जाती है। मनोवैज्ञानिक अनुभव में आन्तरिक चेतना प्रकृति से उच्चतर रहती है। तत्त्व-विज्ञान में यह प्रकृति के आश्रित रहती है। फिर इसके अतिरिक्त, उदात्तानुभूति के समय आवेगों की सम्पूर्ण मिश्रित अवस्था, एक अर्वाचीन रहस्यवादी की दैनन्दिनी के अनुसार, श्रद्धा, भय, आनन्द, आश्चर्य एवं प्रेम का सम्मिश्रण है।

आनन्द और भय सचमुच प्रधान होते हैं। ऐसा ही पूर्व हमने अर्जुन के बारे में देखा है। किन्तु इनके अतिरिक्त श्रद्धा, आश्चर्य एवं प्रेम भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं और भय एवं आनन्द के साथ मिलकर आवेगों का वह मनोवैज्ञानिक मिश्रण बनाते हैं जो हम उदात्तानुभूति के समय अनुभव करते हैं।

अंत में, उदात्तानुभूति के समय हमें नैतिक, वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से क्रमशः शुद्धीकरण, स्पष्टीकरण एवं पवित्रीकरण को विविध प्रक्रिया से होकर उदात्त की अवस्था तक पहुँचना पड़ता है। पहले उदात्त का अनुभव करने के पूर्व हमारे मन में शुद्धि होनी चाहिए। दूसरे, मन की इस शुद्धता से बौद्धिक स्पष्टता होनी चाहिए और अन्त में, इस स्पष्टीकरण से पवित्रीकरण की तीसरी अवस्था आनी चाहिए।

वास्तव में, जो आध्यात्मिक मनन कर चुके हैं, उनका यह कथन निराधार नहीं है कि ऐसे मनन में उनके समक्ष एक नवीन संसार की सृष्टि होती है। कुछ दिन पूर्व श्री भवतारक जी ने यह अनुभव प्राप्त किया था। नवीन युग में रस्किन जी ने भी यह अनुभव अर्वाचीन चित्रकार (*माडर्न पेन्टर्स*) में प्राप्त किया है। धर्म-मनोविज्ञान की दृष्टि से जिन अवस्थाओं को मनुष्य प्राप्त कर सकता है उनमें यह सर्वोच्च है।

नीति

नीति की दृष्टि से उदात्त की विवेचना कांट के तद्विषयक विचार से श्रेष्ठ अन्यत्र नहीं मिल सकती है। कांट के अनुसार नीति को अनुभव का सर्वाधिक उदात्त प्रत्यय माना जा सकता है। जीवन के औचित्य के प्रतिपादन पर कान्ट से अधिक परिश्रम किसी ने नहीं किया है। 'नीति का आलोचन' (*क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीजन*) से श्रेष्ठ पुस्तक नीतिशास्त्र में अब तक नहीं लिखी गई है। कांट के अतिरिक्त कोई भी व्यक्ति इतने महत्त्व की घोषणा न कर सका कि 'गुण एवं पुरस्कार के विधान की दृष्टि से निःश्रेयस् का विश्लेषण करते हुए हम ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण उपस्थित कर सकते हैं।' यह नैतिक दर्शन पर कान्ट के प्रशस्त विचार हैं। किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि कांट अपने सिद्धान्तों पर मुत्यु-पर्यन्त विचार करता रहा और मृत्यु के समय प्राप्त उसके हस्तलेख के अनुसार, जो कि १९२० ई० में इरिचएडिम्ज़ द्वारा प्रकाशित किये गए हैं, वह निश्रेयस् तथा अहैतुक आदेश के व्यापारों के अपने पुराने प्रत्ययों में क्रांतिकारी परिवर्तन कर देता है

इरिचएडिम्ज़ द्वारा *ओपस पास्थ्युमस* नामक शीर्षक से प्रकाशित कांट के विचार हमें इस बात पर आश्चर्य में डाल देते हैं कि कांट जैसा विचारक अपने जीवन के प्रमुख भाग में प्रतिपादित स्वयं के कुछ सिद्धान्तों पर मृत्यु-पर्यन्त विचार करता है और उससे असंतुष्ट होकर कतिपय निष्कर्ष निकालता है जो उसके नैतिक दर्शन में आमूल परिवर्तन ला देते हैं। हमारे विचार से इन विचारों को कांट के समन्वयात्मक ढंग का अनुसरण करके तीन प्रमुख अवस्थाओं में बाँटा जा सकता है : प्रतिषेधक, विधायक एवं रचनात्मक।

प्रतिषेधक

प्रतिषेधक दृष्टि से कहा जा सकता है कि कांट अब बिल्कुल इन्कार करता है कि निःश्रेयस् के प्रत्यय में ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने की शक्ति है। कांट के दार्शनिक विचारों का अध्ययन करने वाला प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि कांट अपने 'विशुद्ध बुद्धि का आलोचन' में ईश्वर को सिद्ध करने वाली बौद्धिक, आध्यात्मिक, सृष्टि-वैज्ञानिक और भौतिक-धार्मिक सभी युक्तियों में असारता प्रकट करता है। पर 'नीति का आलोचन' में निःश्रेयस् प्रत्यय के विश्लेषण पर आधारित दण्ड-पुरस्कार-विधान-परक नैतिक युक्तियों को ही उसने ईश्वर की सत्ता-सिद्धि में प्रमाण माना। किन्तु इस प्रमाण को भी उसने *ओपस पास्थ्युमस* में असिद्धतथा कुतर्क दर्शाया।

ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने में निःश्रेयस् की निर्बलता और नैतिक युक्ति का असिद्ध तथा कुतर्क होना कांट के प्राचीन शुद्धिवादी व्याख्याताओं को इतना बड़ा धक्का पहुँचाता है कि उससे उनका अच्छा होना दुष्कर ही है।

विधायक

(१) विधायक दृष्टि से कहा जा सकता है कि कांट अहैतुक आदेश को ही ईश्वर को सिद्ध करने में समर्थ बताता है। इस प्रकार कांट अहैतुक आदेश को आंतरिक सत्ता के आदेश के रूप में प्रतिपादित करता है। वह इसे उस शक्ति की पुकार कहता है जिसका प्रभुत्व विश्वव्यापक है। इस दृष्टि से विचार करने पर सभी प्रकार के कर्त्तव्य ईश्वराज्ञा बन जाते हैं। पहले हम कह आये हैं कि अहैतुक आदेश के विषय में कांट और *श्रीमद्भगवद्गीता* के विचारों में एक प्रमुख अंतर यह है कि कांट के अनुसार अहैतुक आदेश स्वयंसिद्ध हैं, किन्तु *गीता* के अनुसार इसकी सिद्धि ईश्वर- संदर्भ द्वारा होती है। *गीता* सभी कर्त्तव्यों के दिव्य स्वभाव पर अधिक बल देती है। *ओपस पास्थ्युमस* के अनुसार कांट की यह विचारधारा *गीता* से बिल्कुल मिलती-जुलती है।

(२) अहैतुक आदेशों के अतिरिक्त कांट आगे कहता है कि वह सदा ईश्वर के भयोत्पादक किन्तु कल्याणकारी निर्देश तथा निश्चय के अनुसार ही चलता है ईश्वर ही उसके कार्यों को सुकृत एवं दुष्कृत बनाता है।

(३) कांट को केवल इतने से ही संतोष नहीं है कि अहैतुक आदेश ईश्वर से प्रादुर्भूत होते हैं। अपितु, आस्तिक की भाँति वह कहता है कि ईश्वर का भाव-मात्र ही नहीं बल्कि साकार ईश्वर स्वयं मनुष्य की आत्मा में रम रहा है। यहाँ नैतिक शुद्धिवादी कांट ईश्वरवादी हो गया है।

(४) आगे कांट कहता है कि इस ईश्वर से उसका कार्यकारण का संबंध है और सबसे आश्चर्य यह है कि यही कार्यकारण सम्बन्ध स्वतन्त्रता का निर्धारक है।

(५) कांट ईश्वर के व्यक्तित्व के बारे में भी कहता है कि ईश्वर को व्यक्ति कहा जा सकता है क्योंकि इसका विषय अनन्य (एक) है।

(६) आगे वह धर्मशास्त्रीय ढंग से ईश्वर को शक्ति एवं ज्ञान का एकत्र आदर्श घोषित करता है।

(७) अंत में, कांट रहस्यात्मक ढंग से कहता है कि यह ईश्वर ही है जो हमारे भीतर ही नहीं बल्कि बाहर एवं ऊपर भी स्थित है।

इस प्रकार हम कांट में कितना असाधारण परिवर्तन पाते हैं ! वह अपना दार्शनिक जीवन-चरित्र ईश्वर की भावना-मात्र से ही करता है और सर्वव्यापी आत्मा के प्रत्यय से उसका अन्त करता है।

इन ऋणात्मक तथा धनात्मक नैतिक विचारों के अतिरिक्त कांट के रचनात्मक विचार भी कम महत्त्व के नहीं हैं। इन विचारों के अनुसार कांट ईश्वर के साथ तादात्म्य-भाव का प्रतिपादन करता है। वह घोषणा करता है कि 'मैं मनुष्य रूप में ईश्वर हूँ'। भला साहसपूर्ण तादात्म्यपरक दर्शन के प्रतिपादन का इससे अधिक योग्य वर्णन और क्या हो सकता है ?

इस प्रकार हम देखते हैं कि कांट नैतिक शुद्धिवाद से ईश्वरवाद की ओर, ईश्वरवाद से धर्मवाद की ओर, धर्मवाद से रहस्यवाद की ओर, तथा रहस्यवाद से उग्र अभेददर्शन (*आइडेन्टिटेट फिलॉसोफी*) की ओर अग्रसर होता है। कांट के इस परिपक्व दर्शन और *गीता* के दर्शन में क्या अब कोई अन्तर रह जाता है ? *गीता* के आध्यात्मिक दर्शन में कांट के उपर्युक्त सभी वादों का सुन्दर समुच्चय है। कांट के विचार-विकास को देखकर तब आश्चर्य होता है जब वह थोथे अहैतुक आदेश से बढ़कर अभेद दर्शन का प्रतिपादन करता है। अब वह प्रश्न करना निरर्थक ही है कि नीति अधिक दिव्य है या उदात्त क्योंकि अब नीति, उदात्त एवं दिव्यता तीनों एक ही में लीन हैं। यहाँ हम स्पष्ट देख सकते हैं कि 'प्रातिभ-आलोचन' नामक एक नवीन आलोचन के लिये मार्ग बना हुआ तैयार है।

कर्त्तव्य में बाध्यता बोध

विमलेन्दु नारायण सिंह

तुलनात्मक दर्शन भाषण-माला के क्रम में दर्शन शास्त्र की कैसी समस्या उठाई जाए, यह मेरे लिए सोच का विषय है। वैसे दर्शनशास्त्र ही, मेरी समझ में, सोच की एक विधा है, कोई विज्ञान नहीं। इसका कारण है कि दर्शनशास्त्र प्रतिज्ञप्तियों का निकाय या उनकी व्यवस्था नहीं है। इसका व्यापार उन प्रतिज्ञप्तियों का अर्थ निरूपण है जिनके माध्यम से विचारों का सम्प्रेषण होता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अन्त: परिभाषाओं तथा विश्लेषण की पद्धतियों का प्रयोग दार्शनिक चिन्तन में प्राय: होता है। दार्शनिक-चिन्तन पद्धति की एक विशेषता यह भी है कि यह वस्तुओं को देखने का, उन्हें समझने का, एक नया आयाम खोलती है - एक नई विश्व-दृष्टि देती है। कहा जाता है कि दर्शन का सम्बन्ध प्रथम कोटि अनुभूतियों से नहीं बल्कि द्वितीय कोटि जिज्ञासा से होता है - इसका सम्बन्ध उन अनुभूतियों के सुविवेचित अवबोध से होता है।

परन्तु, तुलनात्मक दर्शन दार्शनिक चिन्तन की सामान्य विधा नहीं है। यह तो दार्शनिक विवेचन की वह प्रक्रिया है जिसमें तुलना अन्तर्निहित होती है। जैसा कि तुलनात्मक दर्शन नाम से ही स्पष्ट है, यह तुलना-युक्त दर्शन है। तो क्या किसी दो दार्शनिकों के सिद्धान्तों की तुलना - उनमें समानता या विरोध को प्रकाशित करना - ही तुलनात्मक दर्शन है ? मुझे ऐसा नहीं लगता, क्योंकि दो दार्शनिकों के सिद्धान्तों को मापने में, उनका सापेक्ष मूल्यांकन करने में दार्शनिक चिन्तन की आवश्यकता कहाँ होती है ? अत: मैं समझता हूँ कि तुलनात्मक दर्शन मात्र दो दार्शनिक विचारों की तुलना नहीं, यह दार्शनिक चिन्तन की एक नई विधा है। तुलनात्मक दर्शन में तुलना तो निहित होती ही है, परन्तु इसकी विशेषता होती है - दो विचारों की, दो दृष्टियों की तुलना के आधार पर किसी नए अवबोध की प्राप्ति।

तुलनात्मक दर्शन की इस प्रतिपत्ति के साथ अब मैं आप के समक्ष कर्त्तव्य में बाध्यता बोध की समस्या पर विचार करूँगा। मेरी समस्या यह है कि जैसे ही हम किसी कार्य को अपना कर्त्तव्य समझ लेते हैं तो उसे करने के लिए अपने को बाध्य क्यों पाते हैं ? उस कार्य को करने की प्रेरणा कहाँ से आती है ? क्या यह प्रेरक तत्त्व कर्त्तव्य की अवधारणा में निहित है या यह कहीं बाहर से आता है ? ऐसा क्यों है कि यह कहने में कि अमुक कार्य मेरा कर्त्तव्य है परन्तु उसे मैं नहीं करूँगा, एक प्रकार की असंगति लगती है ?

इन समस्याओं का समाधान कांट और मीमांसा दर्शन में स्पष्ट मिलता है। अत: अब मैं कांट एवं मीमांसकों के, इन समस्याओं से सम्बद्ध, विचारों का संक्षेप में उल्लेख करूँगा और देखूँगा कि वे अपने निष्कर्षों पर कैसे पहुँचते हैं।

कांट के विचार में इन प्रश्नों के समाधान की सम्भावना अधिक लगती है। उनके अनुसार कर्त्तव्य शुद्ध-बुद्धि का निरपेक्ष आदेश है। यह किसी नियम के प्रति शुद्ध आदर-भाव से किया जाने वाला कर्म है। ऐसे कर्मों के सम्पादन में किसी भी प्रकार की अभिरूचि या सहजवृत्ति का कोई अंश नहीं होता। उनका कहना है कि किसी नियम के प्रति आदर-भाव से सम्पन्न किये गये कार्य की अनिवार्यता ही कर्त्तव्य है। जब इस नियम की पहचान का प्रश्न उठता है तो वह कहते हैं कि यह वह सूत्र है जिससे इस कार्य का निर्धारण होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो यह वह सिद्धान्त है जिसका यह कार्य एक दृष्टान्त है। वह अपने इस सिद्धान्त की एक आलोचना के उत्तर में कहते हैं कि वह कर्त्तव्य की व्याख्या करते समय किसी अस्पष्ट या धुंधली भावना की शरण नहीं लेते, जिसे आदर-भाव से अभिहित किया जाता है। ऐसा नहीं है कि वह कर्त्तव्य की अवधारणा की व्याख्या सीधे बुद्धि की अवधारणा के माध्यम से नहीं करते। उनका कहना है कि यद्यपि आदर एक प्रकार की भावना है परन्तु इसका उदय व्यक्ति में किसी वाह्य प्रभाव के कारण नहीं होता है, बल्कि यह बुद्धि के सहारे स्व-निर्मित है। अत: यह उन सभी भावों से भिन्न है जिनका उदय किसी डर या अभिरूचि के कारण होता है। अत: जब भी कोई व्यक्ति किसी नियम को अपने लिए आदर-भाव से स्वीकारता है तो उसका अर्थ मात्र इतना ही होता है कि बिना किसी अन्य प्रभाव के उसने अपने संकल्प को किसी नियम के अधीन कर दिया है।

ध्यातव्य है कि कांट आदर के भाव को संकल्प के नियम द्वारा सीधे निर्धारण की चेतना मानते हैं। वह यह भी कहते हैं कि आदर-भाव को नियम का परिणाम समझना चाहिए, कारण नहीं। आदर-भाव, उनके विचार में, महत्त्व या उत्कर्ष की अवधारणा है जो व्यक्ति के आत्म-प्रेम को निष्फल कर देता है। वह मानते हैं कि व्यक्ति की अभिरूचि किसी वस्तु, जो किसी कर्म का फल हो, में हो सकती है परन्तु उस वस्तु के प्रति उसकी अभिरूचि उसका आदर भाव नहीं हो सकता। क्योंकि वह उसके कर्म का फल है, उसके संकल्प की क्रिया नहीं। उसी तरह व्यक्ति में किसी भी अभिरूचि के प्रति आदर-भाव नहीं हो सकता, न अपनी अभिरूचि के प्रति, न किसी दूसरे की अभिरूचि के प्रति। अपनी अभिरूचि का अधिक से अधिक व्यक्ति अनुमोदन कर सकता है और दूसरों की अभिरूचि को, अपने लिए फायदेमंद जान कर, पसंद कर

सकता है। परन्तु आदर का भाव तो उसी के लिए होगा जो उसके संकल्प का आधार हो - कारण हो - परिणाम नहीं। आदर-भाव तो उसके लिए होता है जो हमारी अभिरूचियों को अभिभूत कर लेता है, उसका सहायक नहीं बनता। दूसरे शब्दों में कहें तो केवल नियम ही हमारे आदर का पात्र हो सकता है, कोई दूसरी चीज नहीं। इस प्रकार, नियम एक आदेश का रूप ले लेता है। यही कारण है कि कर्त्तव्य बोध से किए गए कर्म में किसी भी अभिरूचि का कोई अंश नहीं होता - अभिरूचि के प्रभाव से यह कर्म पूर्णत: मुक्त होता है। इसके बाद व्यावहारिक नियम को छोड़कर ऐसा कुछ नहीं बचता जो हमारे संकल्प को वस्तुनिष्ठ ढंग से प्रभावित कर सके। इसे आत्मनिष्ठ रूप से प्रभावित करने वाला भी, इस व्यावहारिक नियम के लिए शुद्ध आदर-भाव के अलावा, और कुछ नहीं बचता। ऐसे कर्म को प्रभावित करने वाला तत्त्व मात्र यह संकल्प है कि मैं ऐसे नियम का पालन करूँगा, चाहे इससे मेरी अभिरूचि कुंठित ही क्यों न हो।

इस विवेचन में लगता है कि कर्त्तव्य में बाध्यता की अनुभूति का कारण कर्त्तव्य की अवधारणा का बोध ही है। किसी कर्म को कर्त्तव्य समझते ही उसे करने की बाध्यता की अनुभूति होने लगती है। इस बाध्यता का बोध किसी वाह्य कारक के प्रभाव से नहीं होता। जैसे ही किसी कर्म को हम अपने कर्त्तव्य के रूप में पहचानते हैं वैसे ही हमें यह भी ज्ञात हो जाता है कि यह बुद्धि का निरपेक्ष आदेश है। बुद्धि का निरपेक्ष आदेश होने से ही इसे सम्पादित करने की अनिवार्यता का भी बोध हो जाता है। परन्तु ऐसी अनिवार्यता लगती क्यों है ? इसकी भी कांट विस्तार से व्याख्या करते हैं। उनका कहना है कि हमारी मान्यता है कि प्रकृति ने जिन प्राणियों को जीवित रहने के लिए बनाया है, उनके सभी अंगों को भी ऐसा बनाया है कि वे अपने-अपने कार्य के सम्पादन के लिए भी सर्वाधिक उपयुक्त हों। ऐसी स्थिति में यदि प्राणियों को बनाने में प्रकृति का लक्ष्य मात्र उनका कल्याण या उनकी सुरक्षा या यों कहें कि उनका सुख भोग ही होता तो वह उन्हें बुद्धि क्यों देता ? प्राणियों को सुख-भोग कराने में बुद्धि सक्षम नहीं होती, अत: इसे तो प्रकृति की बहुत ही कमजोर व्यवस्था मानी जायेगी। जीवन रक्षा के लिए या सुखभोग के लिए जिन क्रियाओं को करने की आवश्यकता होती है, उसे तो उनकी सहज प्रवृत्ति ही अधिक कुशलता से सम्पादित कर लेती है। प्रकृति के इस साध्य की सिद्धि जिस सुगमता एवं निश्चितता से सहज प्रवृत्ति कर सकती है, उतनी बुद्धि द्वारा सम्भव नहीं है। अत: ऐसी स्थिति में बुद्धि का व्यापार तो मात्र प्राणियों की सुखद संरचना पर विचार, उस संरचना की प्रशंसा और प्राणियों के सुखों का चिन्तन-मनन ही होता। व्यक्ति इसके लिए प्रकृति के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित

करता। परन्तु होता ऐसा कुछ भी नहीं है। प्राणियों को बुद्धि इसके लिए नहीं मिली है कि यह उसकी इच्छा-शक्ति के अधीन रहे। यह इच्छा तो स्वयं ही कमजोर, विभ्रमकारी एवं प्रकृति के लक्ष्यों में हस्तक्षेप करने वाली है। यदि प्रकृति की योजना में बुद्धि को इच्छा-शक्ति के अधीन ही रहना होता तो यह प्राणियों की सुख प्राप्ति की योजना के कार्यान्वयन में असफल नहीं होती। यदि प्रकृति की योजना में बुद्धि को प्राणियों की सहज प्रवृत्ति के अधीन ही रहना होता तो लक्ष्यों के चयन, उसकी प्राप्ति के लिए साधन जुटाने का काम भी सहज प्रवृत्तियों को ही सौंपा गया होता, परन्तु ऐसा है नहीं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि हम लोगों को बुद्धि व्यावहारिक शक्ति के रूप में दी गई है। इसका तात्पर्य है कि इसे संकल्प को प्रभावित भी करना है। प्रकृति ने सभी को अपने कार्य का सम्पादन कर सकने योग्य क्षमता दी है। बुद्धि का उपयुक्त व्यापार ऐसे संकल्प का उत्पादन होना चाहिए जो अपने आप में शुभ हो, वह संकल्प मात्र साधन के रूप में शुभ न हो। अतः यह प्रकृति की समझदारी के पूर्णरूप से अनुकूल होगा। हम अपनी बुद्धि का परिष्कार ऐसे संकल्पों के उत्पादन के लिए करें जो अन्तस्थ रूप से शुभ हों। ऐसी स्थिति में बुद्धि के आदेश का पालन तो अनिवार्य हो ही जाएगा और इसी से उसे करने की बाध्यता भी व्यक्ति महसूस करेगा।

कर्त्तव्य समझे जाने वाले कार्य की प्रेरणा भी, कांट की योजना में, कर्त्तव्य की अवधारणा में ही निहित है। उनके नीति दर्शन में तो यदि किसी कार्य का सम्पादन किसी वाह्य प्रेरणा, अर्थात् किसी अभिरूचि से प्रभावित होकर होता है, तो उसे कर्त्तव्य माना ही नहीं जा सकता। वह तो यहाँ तक कहते हैं कि यदि कोई कार्य किसी अभिरूचि से प्रभावित होकर सम्पन्न होता है तब ऐसे कार्य से नैतिक मूल्य का लोप हो जायेगा। ऐसे सम्पादित कार्य को तो वे अनैतिक कहने में भी नहीं हिचकते। उनके अनुसार, कर्त्तव्य सम्पादन की प्रेरणा उस नियम, जिसके अन्तर्गत यह कार्य आता है, के प्रति आदर-भाव से मिलती है। हम ऊपर देख ही चुके हैं कि कांट के विश्लेषण में किसी नियम के प्रति आदर का अर्थ ही होता है व्यक्ति के संकल्प को उस नियम के अधीन कर दिया जाना। इस प्रकार कांट के विचार में कर्त्तव्य सम्पादन करने की प्रेरक शक्ति उसके निर्धारक नियम में ही होती है। इस विवेचन से एक और बात स्पष्ट हो जाती है कि कांट के दर्शन में किसी कर्म को कर्त्तव्य कहने का अर्थ ही होता है यह स्वीकारना कि यह बुद्धि का निरपेक्ष आदेश है। यह बुद्धि व्यवहारिक या क्रियात्मक है। अतः इसका काम सहज प्रवृत्ति को नियंत्रित भी करना है। ऐसी स्थिति में यह कहना कि अमुक कार्य मेरा कर्त्तव्य है परन्तु मैं इसे नहीं करूँगा, यह कहने के समतुल्य

है कि मेरा संकल्प बुद्धि के नियंत्रण में है परन्तु यह उसके नियंत्रण को नहीं स्वीकारती। इसी से ऐसे कथन में असंगति लगती है।

भारतीय दार्शनिक चिन्तन की परम्परा में कर्त्तव्य बोध का विश्लेषण मूलत: विधिवाक्यों (शास्त्रों के आदेशों) का विश्लेषण माना जाता रहा है। यहाँ कर्त्तव्य को अनिवार्यत: धर्म का उत्पादक माना जाता रहा है। ऐसा कोई भी कार्य, जिसका सम्पादन धर्म की उत्पत्ति का साधन या कारक (*फैक्टर*) न हो, को कर्त्तव्य माना ही नहीं जा सकता। इसी से कर्त्तव्य की अवधारणा की व्याख्या करते समय पहले धर्म के अर्थ को समझना आवश्यक है।

इसी संदर्भ में यहाँ हम मीमांसकों के सिद्धान्त की चर्चा संक्षेप में करेंगे। मीमांसकों के अनुसार धर्म का मूल स्वरूप अर्थ है। दूसरे शब्दों में कहें तो धर्म तत्त्वत: एक ऐसी वस्तु है जिसको पाने की इच्छा की जा सकती है। जो किसी व्यक्ति का लक्ष्य हो सकता है। परन्तु धर्म मात्र अर्थ ही नहीं है, यह विधिवाक्यों द्वारा अनुमोदित भी है। इसी से *जैमिनी सूत्र* में 'चोदना अर्थो धर्मो लक्षण:' कहा गया है। प्रश्न जब अर्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में उठता है तो वे कहते हैं कि यह सुख से अधिक दु:ख का उत्पादक नहीं है। मीमांसक 'अर्थ' की व्याख्या 'सुख' के माध्यम से करते तो हैं परन्तु वे मानते हैं कि वह भी अर्थ है जो सुख और दु:ख बराबर मात्रा में उत्पन्न करने की क्षमता रखता है या उत्पन्न करता है। परन्तु जब प्रश्न उठता है कि धर्मशास्त्र द्वारा अनुमोदित कार्य है या उस कार्य का फल, तो मीमांसकों में मतैक्य नहीं रखता। प्रभाकर के अनुयायी कहते हैं कि धर्मशास्त्र विहित कर्म नहीं है बल्कि यह अपूर्व है। एक शक्ति-एक नई कोटि की अवधारणा – जो कर्त्तव्य के कार्यान्वियन से उत्पन्न होती है। इसका प्रकाशन (ज्ञान) नियोग द्वारा होता है। अर्थात् यह प्रेरणा के माध्यम से प्रकट होती है। इस प्रेरणा की अनुभूति उत्तेजना या आवेग के रूप में होती है। यही आवेग मौलिक व्यापार का कारण है। परन्तु भाट्ट सम्प्रदाय के विचारक यहाँ प्रभाकरों से सहमत नहीं हैं। इनके अनुसार शास्त्र द्वारा विहित कार्य या शास्त्र के आदेश का सम्पादन ही धर्म है। यज्ञ और बलिदान करना ही धर्म है। भाट्टों के अनुसार ६
ार्म श्रेयस्कर होता है। यज्ञ करना, बलिदान करना श्रेयस्कर है क्योंकि वे शास्त्र द्वारा विहित हैं, अत: वे धर्म हैं।

कर्त्तव्य की अवधारणा के स्पष्टीकरण में एक बात और रह गई है : धर्म का सम्बन्ध कर्म से क्या है ? धर्म और कर्म आपस में कैसे सम्बन्धित हैं ? इस बिन्दु पर भाट्टों का कहना है कि धर्म श्रेयस्कर होता है। वे कार्य जो शास्त्र के द्वारा प्रदिष्ट

(*प्रेस्क्राइब्ड*) हैं वे कर्त्ता के लिए श्रेयस्कर हैं, क्योंकि वे शास्त्र के आदेश हैं। इसी से शास्त्र विहित कर्म का सम्पादन ही धर्म है। इन कार्यों का सम्पादन ही कर्त्ता के निःश्रेयस का उत्पादक है। यहाँ ध्यान देने की बात है कि भाट्टों के अनुसार कर्म और धर्म का सम्बन्ध कर्म फल के माध्यम से है। चूँकि कर्म का फल (शास्त्र द्वारा प्रदिष्ट कर्म) श्रेयस्कर है, अतः वह धर्म है। परन्तु प्रभाकर सम्प्रदाय के दार्शनिक ऐसा नहीं मानते। उनके अनुसार धर्म और कर्म का सम्बन्ध कर्म के फल के माध्यम से नहीं है। कर्म का सम्बन्ध धर्म से, कर्म के श्रेयस्कर फल के कारण नहीं है। कर्म का सम्बंध धर्म से, कर्म को स्वस्थित करने वाले (*सेल्फ पोजिटिंग*) कर्त्तव्य की वैधता या नैतिक व्यवस्था पर आधृत है। यही उनका अपूर्व है। यही अवैयक्तिक सात्विक (*ऑन्टोलॉजिकल*) नैतिक व्यवस्था की अन्तरस्थ वैधता का एक रूप है।

भाट्ट भी अपूर्व की कल्पना करते हैं। परन्तु इनके अनुसार अपूर्व प्रदिष्ट कार्यों के विशेष लक्ष्यों के प्रेरक (*कन्ड्युसिव*) हैं। यह उन कर्मों के अन्तरस्थ तत्त्व नहीं हैं जो उन्हें वैधता प्रदान करते हैं। इनके अनुसार अपूर्व का ज्ञान भी अनन्य बोध या अनुभव द्वारा नहीं होता जैसा कि प्राभाकर मानते हैं। इनका ज्ञान शास्त्र विहित कर्त्तव्यों की अर्थापत्ति (*इम्प्लीकेशन*) के द्वारा होता है।

विधिवाक्यों को साधारण आदेशों से कैसे अलग किया जाए। इस प्रश्न पर मीमांसकों का कहना है कि विधिवाक्यों का साक्षिक मूल्य (*इवीडेन्शियल वैल्यू*) या इनकी वैधता (सत्यता) मात्र वर्तमान से सम्बन्धित नहीं होता बल्कि यह भूत और भविष्य से भी संबन्धित होता है, और इसकी वैधता आनुभविक दूरस्थ और निकटस्थ सभी के लिए होती है। इसकी वैधता उन विषयों से भी सम्बद्ध होती है जिसका ज्ञान मध्याश्रित (*मेडिएट*) है। अतः इसके द्वारा प्राप्त ज्ञान दिक् और काल की सारी सीमाओं को पार कर जाता है और इससे मात्र उसी का ज्ञान मिलता है जो तत्त्व है, जो अर्थ है, या जो वास्तविक (*रियल*) है। अतः इससे प्राप्त ज्ञान निःसन्देह ऐन्द्रिक ज्ञान की सीमाओं से मुक्त होता है। इसी से चोदना या विधिवाक्य आनुभविक और न-आनुभविक, दृष्ट और अनुभवातीत (*फेनोमेनल* और *ट्रांसेन्डेंटल*) की खाई को पाटता है। इसी से विधिवाक्यों का प्रेरणा पर सबसे अधिक अधिकार (*एथॉरिटी*) होता है। यही कर्त्तव्य में बाध्यता बोध का कारण है।

अब यहाँ कुछ बातें स्पष्ट होने लगी हैं। दो अलग-अलग परिवेशों में विकसित होने पर भी कांट एवं मीमांसकों के कर्त्तव्य सम्बन्धी निष्कर्षों में बहुत समानता है। दोनों अपने निष्कर्ष पर अपने-अपने पूर्वग्रहीत सिद्धान्तों के विवेचन एवं निगमन के

बल पर पहुँचते हैं। कांट अपने निष्कर्ष पर बुद्धि के निरपेक्ष आदेश और मीमांसक विधिवाक्यों के विवेचन के आधार पर पहुँचते हैं। विधिवाक्यों के विश्लेषण एवं विवेचन में मीमांसकों में अन्तर है परन्तु दोनों मीमांसक यह मानते हैं कि कर्त्तव्य का सम्बन्ध अर्थ और धर्म से है। इन दार्शनिकों के अनुसार कर्त्तव्य में बाध्यता बोध, कर्त्तव्य के विचार की समझ से ही आता है, कहीं बाहर से नहीं। कर्त्तव्य की अवधारणा में ही कर्म करने की प्रेरणा भी मिलती है। इन बातों से स्पष्ट हो जाता है कि कर्त्तव्य बोध का सम्बन्ध आदेश से है - बुद्धि के निरपेक्ष आदेश या विधिवाक्य से (शास्त्रों के आदेश से)। परन्तु यह बाहर से थोपा हुआ आदेश मात्र नहीं है। प्रभाकर मीमांसा में तो इसका सम्बन्ध अर्थ से, अपूर्व से है। लेकिन भाट्ट मानते हैं कि जो कार्य शास्त्र-प्रदिष्ट हैं और कर्त्ता के लिए श्रेयस्कर हैं, वे ही कर्त्तव्य है। परन्तु प्रभाकर कहते हैं कि धर्म से कर्म का सम्बन्ध, कर्म में स्वस्थित रहने वाली (*सेल्फ पोजिटिंग*) नैतिक व्यवस्था पर आधृत है।

मीमांसा एवं कांट के विचारों पर ध्यान देने से, इनकी विवेचन पद्धति एवं अन्तर्दृष्टि पर विचार से, चिन्तन की एक विधा निकलती मिलती है।

शंकर और हुस्सर्ल

नित्यानन्द मिश्र

तुलनात्मक दर्शन दर्शनशास्त्र की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण शाखा है। दार्शनिक उद्देश्य की पूर्ति में तुलनात्मक दर्शन अत्यधिक सहायक होता है। एक दृष्टि से यह दार्शनिक अनुसन्धान को कुछ सरल भी बना देता है। दार्शनिक अनुसन्धान क्या है ? यह वैज्ञानिक अनुसन्धान नहीं है। दार्शनिक अनुसन्धान के द्वारा हम किसी भी प्रकार की वस्तुस्थिति का अन्वेषण नहीं करते। वरन् , वस्तुस्थिति के सम्बन्ध में हमें जो भी ज्ञान प्राप्त होते हैं उनका स्पष्टीकरण तथा उनको सुसङ्गम रूप देना दर्शन का काम है। इस प्रक्रिया में यदि किसी सम्प्रत्यय का अर्थ उचित ढंग से स्पष्ट न हो सके या किसी तथाकथित ज्ञान की सङ्गति अन्य प्रामाणिक ज्ञानों के साथ स्थापित न हो सके तो उस सम्प्रत्यय को निरर्थक समझकर तथा उस तथाकथित ज्ञान को अप्रामाणिक मानकर उनका परित्याग करना चाहिए। इस प्रक्रिया में दर्शन विज्ञान के उस अंग का विरोध नहीं कर सकता है जो सार्वजनिक अनुभव पर आधारित होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वैचारिक स्पष्टता तथा वैचारिक सङ्गति दर्शन का मुख्य उद्देश्य है। इस उद्देश्य की उपलब्धि को हम सत्य की उपलब्धि कह सकते हैं। कोई भी दर्शन कहाँ तक इस सत्य की उपलब्धि कर सका है यह स्वयं दार्शनिक विवेचन का विषय है। इस प्रकार का विवेचन किसी एक दर्शन का हो सकता है या कई दर्शनों को मिलाकर तुलनात्मक ढंग से भी हो सकता है।

मैं इस निबन्ध में शंकर के अद्वैत वेदान्त तथा हुस्सर्ल के संवृतिशास्त्र का तुलनात्मक विवेचन करना चाहता हूँ। प्रश्न उठता है कि मैंने इन्हीं दर्शनों का चयन क्यों किया ? इसका मुख्य कारण यह है कि एक बहुत ही महत्वपूर्ण विषय पर इन दोनों दर्शनों ने बहुत अधिक विवेचन किया है, और इस विषय के सम्बन्ध में दोनों में मौलिक मतभेद हैं।

मैंने ऊपर कहा है कि तुलनात्मक दर्शन भी दर्शन की एक विधा है और उसके द्वारा भी सत्य की प्राप्ति हो सकती है। यदि किसी प्रश्न के उत्तर में दो विपरीत विचार प्रस्तुत किये जाते हैं तो स्पष्ट है कि उनमें कोई एक ही विचार सही हो सकता है, दोनों नहीं। तुलनात्मक दर्शन का कार्य यह है कि वह निष्पक्ष भाव से तुलना किये जाने वाले दर्शनों की तुलना करे और उनकी महत्त्वपूर्ण भिन्नताओं की विशद् व्याख्या करे। तदुपरान्त उन्हें विभिन्न दृष्टियों से आँककर यह देखने का प्रयत्न करें कि किस भिन्नता

के सम्बन्ध में किस दर्शन का पक्ष तर्कत: बलवान् एवं अनुमोदन योग्य है। तुलनात्मक कार्य अत्यन्त कठिन है क्योंकि इसमें पूर्वाग्रह के आड़े आने की बहुत अधिक सम्भावना रहती है। इसमें तुलना करने वाले दार्शनिक को खरा उतरने की बहुत अधिक आवश्यकता रहती है। ऐसे दार्शनिक को यह देखना है कि यदि उसका किसी भी प्रकार का ऐतिहासिक सम्बन्ध है तो उस सम्बन्ध के कारण उस पक्ष के प्रति अनुचित झुकाव नहीं होना चाहिए, और यदि उसे ऐसा झुकाव है तो उसका निराकरण होना अत्यावश्यक है।

मैं इस निबन्ध में दो परस्पर भिन्न संस्कृतियों के दो विराट् आध्यात्मिक दर्शनों का तुलनात्मक विवेचन करना चाहता हूँ। यह सम्भव नहीं है कि मैं यहाँ इन दोनों दर्शनों का सर्वाङ्गीण विवेचन करूँ। जैसा मैंने ऊपर कहा है, मैं इन दोनों दर्शनों की एक मूल अवधारणा के सम्बन्ध में विवेचन करूँगा। ये दोनों ही दर्शन आध्यात्मिक दर्शन हैं; उनकी सबसे अधिक महत्वपूर्ण मान्यता यह है कि मूल तत्त्व चैतन्य है। उनकी यह मान्यता उनका पूर्वाग्रह नहीं है। इसके लिए वे अपने-अपने ढंग से प्रमाण देते हैं।

शंकर और हुस्सर्ल दोनों ही सभी वस्तुओं एवं पदार्थों का निराकरण इस तर्क के आधार पर करते हैं कि उनका अस्तित्त्व अकाट्य नहीं हैं। किन्तु इस निराकरण की प्रक्रिया के आधार पर ही शंकर और हुस्सर्ल दोनों एक चिन्तन करने वाली आत्मा के अस्तित्त्व को असन्दिग्ध एवं आवश्यक बतलाते हैं।

शंकर कहते हैं कि आत्मा पर सन्देह नहीं किया जा सकता क्योंकि सन्देहकर्ता ही तो आत्मा है।[१] वे कहते हैं कि किसी भी वाह्य वस्तु के अस्तित्त्व का खण्डन किया जा सकता है, किन्तु खण्डन-कर्ता के सारभूत स्वरूप के अस्तित्त्व का खण्डन नहीं किया जा सकता।[२] वे यह भी कहते हैं कि आत्मा के अस्तित्त्व के सम्बन्ध में प्रत्येक व्यक्ति सचेतन है, क्योंकि वह कभी यह नहीं सोचता है कि 'मैं नहीं हूँ'।[३] इस तरह शंकर सचेतन आत्मा के अस्तित्त्व को एक मौलिक तथ्य के रूप में स्वीकार करते हैं।

हुस्सर्ल कहते हैं[४] कि यदि मैं अपना चिन्तन अपनी अनुभूति की ओर डालता हूँ तो मैं एक निरपेक्ष आत्मा का ज्ञान प्राप्त करता हूँ जिसका अस्तित्त्व सिद्धान्तत: अखण्डनीय है, क्योंकि सिद्धान्तत: इसके अनस्तित्त्व की अन्तर्दृष्टि असम्भव है। दूसरे की आत्मा के निराकरण में कोई असंगति नहीं है, किन्तु अपनी आत्मा तो प्रत्ययरूप में नहीं वरन् अस्तित्त्व रूप में अनुभूत है।

इस तरह शंकर और हुस्सर्ल दोनों ही सचेतन आत्मा के अस्तित्त्व को सिद्ध

कर चैतन्येतर सभी पदार्थों का खण्डन करते हैं। शंकर के अनुसार यह विश्व खण्डन योग्य है क्योंकि यह सम्भव है कि विश्व का अस्तित्त्व न हो। और जिसका अस्तित्त्व सोचा जा सकता है उसका अस्तित्त्व प्रामाणिक नहीं है। इसी तरह हुस्सर्ल भी कहते हैं कि विश्व को वह स्थान नहीं दिया जा सकता जो चेतना को दिया जाना चाहिए। चूँकि चेतना के किसी भी विषय का प्राकृतिक अस्तित्त्व सन्देह योग्य है, इसलिए ऐसे अस्तित्त्व का 'कोष्ठीकरण' या 'स्थगन' कर देना चाहिए और, इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व ही 'स्थगित' या 'कोष्ठीकृत' हो जाता है।

ईश्वर के सम्बन्ध में जहाँ शंकर इसे परम सत् नहीं मानते, वहाँ हुस्सर्ल भी इसे कोष्ठीकृत कर देते हैं। शंकर ईश्वर को स्रष्टा मे रूप में मानते हैं, जो विश्व की सृष्टि करता है। किन्तु जब विश्व ही खण्डन योग्य है तो उसकी सृष्टि और उसका स्रष्टा भी उसी तरह खण्डन योग्य है। व्यावहारिक धरातल पर हम भले ही विश्व, उसकी सृष्टि तथा उसके स्रष्टा को ईश्वर को मान लें, किन्तु पारमार्थिक धरातल पर तो एकमात्र चैतन्य है जिसे ब्रह्म कहते हैं। हुस्सर्ल भी कहते हैं कि स्थगत या कोष्ठीकरण की प्रक्रिया ईश्वर पर भी लागू होती है, उसी प्रकार विश्व के स्रोत के रूप में ईश्वर भी एक आगन्तुक तथ्य है।

यह सही है कि शंकर और हुस्सर्ल दोनों ही विश्व और ईश्वर को व्यावहारिक धरातल पर अस्तित्त्ववान मानते हैं। पर पारमार्थिक धरातल पर, जो शुद्ध अनुभूति का धरातल है, जिस पर सन्देह योग्य पदार्थों का निराकरण कर देता है, न तो विश्व है और न ही ईश्वर है। उस धरातल पर तो एक मात्र शुद्ध चैतन्य है।

यह शुद्ध चैतन्य किसी व्यक्ति विशेष का चैतन्य नहीं है। पारमार्थिक दृष्टि से व्यक्ति स्वयं नश्वर है। यह तो परम ब्रह्म पर एक अध्यास है जो ज्ञान की प्राप्ति होने पर नष्ट हो जाता है। शंकर कहते हैं कि निर्विशेष आत्मा का जीवत्व बुद्धिजन्य भ्रम के कारण आरोपित होता है। इसलिए वह सत् नहीं है। जैसे ही भ्रम दूर होता है वैसे ही जीवत्व नष्ट हो जाता है।[५] हुस्सर्ल भी कहते हैं कि हम संवृतिशात्रीय कोष्ठीकरण अपने आप पर ही लगाते हैं, क्योंकि हम लोग भी प्राकृतिक व्यवस्था के अन्तर्गत ही रहते हैं। हम लोग जो 'हम' शब्द का प्रयोग करते हैं वह तो भाषा-वैशिष्ट्य के कारण होता है। हम लोगों का प्राकृतिक अस्तित्त्व तो संवृतिशास्त्रीय दृष्टि से स्थगन-योग्य ही होता है।

इस तरह हम देखते हैं कि शंकर और हुस्सर्ल दोनों ही विश्व, ईश्वर तथा जीव के परे शुद्ध निरपेक्ष चैतन्य को ही एक मात्र मूलभूत तत्त्व मानते हैं। अब प्रश्न उठता है कि इस चैतन्य का ठीक-ठीक स्वरूप क्या है ?

जैसा हम सभी जानते हैं, शंकर इस चैतन्य को सच्चिदानन्द भी कहते हैं। अर्थात् यह सत् है, चित् है और आनन्द है। यहाँ यह नहीं मानना चाहिए कि चित् और आनन्द सत् के गुण हैं; बल्कि ये तीनों ही स्वरूपलक्षण हैं, तटस्थ लक्षण नहीं। परम सत् अनिवार्य रूप से चिन्मय तथा आनन्दमय है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या सत् चित् रहित नहीं हो सकता ? तार्किक दृष्टि से ऐसा कहने में तो कोई विसंगति नहीं जान पड़ती कि ऐसा सत् हो सकता है जो चित् नहीं है। जड़वाद का परम सत् चित् नहीं बल्कि अचित् है। अत: मात्र सत् के रूप में सत् सचेतन नहीं हो सकता। और जब यह सम्भाव्यता है कि सत् अचित् भी हो सकता है तो यह कह देने मात्र से कि चित् एक स्वरूपलक्षण है, चिन्मयता की व्याख्या नहीं हो जाती है। शंकर में यह प्रश्न कि सत् चित् कैसे है, एक पहेली बनकर रह जाती है।

पर हुस्सर्ल में यह प्रश्न पहेली नहीं रहती। उनके अनुसार चेतना का अर्थ ही है किसी विषय की चेतना। 'विषयहीन चेतना' आत्मविरोधी प्रत्यय है। ऐसे भी यदि कोई कहे कि 'मैं सचेतन हूँ' तो सहज ही उससे पूछा जा सकता है कि आप किस विषय के प्रति सचेतन हैं ? चेतना एक प्रकार की दृष्टि है जो तभी सम्भव है जब उसका कोई दृष्ट विषय हो। चित् मात्र सत् नहीं है बल्कि वह उस प्रकार का सत् है जिसमें दृष्टि-दृष्ट या विषयी-विषय का आन्तरिक सम्बन्ध विद्यमान हो। हुस्सर्ल चेतना के इस स्वरूपलक्षण को अन्तर्विषयोन्मुखता[६] कहते हैं। उनके अनुसार बिना किसी विषय के विषयी या द्रष्टा सचेतन नहीं हो सकता।

अब प्रश्न उठता है कि चेतना के विषय क्या हैं ? हमने पहले देखा है कि विश्व, ईश्वर तथा जीव कोष्ठीकृत या स्थगित हो सकते हैं। अत: ये चेतना के चिरन्तन विषय नहीं हो सकते। और, बिना चिरन्तन विषय के चेतना नहीं हो सकती क्योंकि चेतना स्वयं चिरंतन है। हुस्सर्ल के अनुसार, चेतना के विषय ऐसे प्रत्यय हैं जो देश-काल से परे होकर शाश्वत एवं चिरंतन हैं। आप किसी घट को देख रहे हैं और आपको उस घट का प्रत्यक्ष संवेदन होता है। फिर स्थान परिवर्तन कर आप उसी घट को देखते हैं। किन्तु इस बार आपको घट का दूसरा रूप दृष्टिगोचर होता है। फिर बाद में घट के फूटकर नष्ट हो जाने पर आप उसे स्मरण करते हैं और आप कहते हैं कि मैं उसी घट का स्मरण कर रहा हूँ जिसे मैं पहले भिन्न स्थानों में देख चुका हूँ। प्रश्न उठता है कि जब मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आपकी चेतना के विषय भिन्न-भिन्न हैं तो आप कैसे कह सकते हैं कि पूर्वोक्त तीनों अवसरों पर आपकी चेतना का वास्तविक विषय एक ही है ? यहाँ हम मनोवैज्ञानिक विषय एवं अभीप्सित विषय

में भेद कर सकते हैं। उपर्युक्त उदाहरण में मनोवैज्ञानिक विषयों में भिन्नता है किन्तु अभीप्सित विषय एक ही है। अन्यथा हम प्रस्तुत उदाहरण के दूसरे अवसर पर यह नहीं कह सकते कि हम उसी घट को देख रहे हैं जिसे हम स्थान परिवर्तन के पहले देख रहे थे और तीसरे अवसर पर यह नहीं कह सकते कि हम उसी घट का स्मरण कर रहे हैं जिसे हम पहले दो अवसरों पर देख रहे थे। स्पष्ट ही अभीप्सित विषय नष्ट नहीं हो सकते, न ही ऐसे विषयों का अस्तित्त्व मनोवैज्ञानिक चेतना पर निर्भर होता है। ये तो शुद्ध चेतना के शाश्वत विषय हैं और जिनके बिना चेतना का चैतन्य सम्भव नहीं है। चेतना स्वरूपत: विषयी है और इसका विषयीरूप जिस प्रकार विषय की अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार विषय का विषयरूप विषयी की अपेक्षा रखता है। विषय यदि अनिवार्य रूप से विषयी - सापेक्ष है तो विषयी भी अनिवार्य रूप से ही विषयसापेक्ष है। विषयी-विषय सम्बन्ध मूलभूत है, इसका विघटन नहीं हो सकता।

इस तथ्य को शंकर भी एक दृष्टि से मानते ही हैं। उनका ईश्वर-विचार इस तथ्य की सम्पुष्टि करता है। माया जो ईश्वर की शक्ति है, मानो हुस्सर्ल की विषयोन्मुखता ही है। राधाकृष्णन कहते हैं, "यह (माया) चिरंतन ईश्वर की सर्जनात्मक शक्ति है, इसलिए चिरंतन है, और इसी के द्वारा परमेश्वर विश्व की सृष्टि करता है। माया के लिए कोई पृथक् आवास नहीं है। जिस तरह अग्नि में ताप है, उसी तरह ईश्वर में माया है। इसका अस्तित्त्व इसके कार्यों से अनुमानित होता है। माया नाम एवं रूप ही है, जो अपने-अपने बीजरूप में ईश्वर में समवेत हैं और विकसित रूप में विश्व का निर्माण करते हैं। इस प्रकार माया और प्रकृति एक है।"[७] वह पुन: कहते हैं, "विषयी और विषय की अनिवार्य सम्बद्धता को, जो सभी प्रत्ययवाद का केन्द्रीभूत सत्य है, शंकर स्वीकार करते हैं और वे आत्मनिष्ठ प्रत्ययवाद तथा वाह्य वस्तुवाद को अनुभव के तथ्यों के अनुकूल न होने के कारण तिरस्कृत करते हैं।"[८] शंकर भी कहते हैं, "नेवम् जागतीतोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकम् कस्यांचित् अपि अवस्थायाम् बाध्यते्।"[९] इसका तात्पर्य यह है कि स्तम्भ या अन्य कोई भौतिक वस्तु अपने साररूप में ईश्वरीय चेतना का विषय बनी रहती है। यही कारण है कि चेतना का दूसरा नाम है विषय-चैतन्य। वे कहते हैं, "अनेका हि विलक्षण: चेतनाचेतनरूपा: सामान्यविशेषा:, तेषां पारंपर्यगत्या एकस्मिन् महासामान्ये अन्तर्भाव: प्रज्ञानघने।"[१०]

इतना स्वीकार कर लेने के बाद भी शंकर कहते हैं, "द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते, नामरूप विकारमेयोपाधि विशिष्टम् तद् विपरीतं सर्वोपाधिवर्जितम्।"[११] इस तरह ब्रह्म अपने सारभूत स्वरूप में विषयी-विषय भेद के परे विषय-निरपेक्ष या निर्विषय ज्ञानमय

रहता है। प्रश्न उठता है कि यह निर्विषय ज्ञानमय किस अर्थ में ज्ञानमय है ? इसमें तो किसी विषय का ज्ञान होने का प्रश्न ही नहीं उठता। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि इस ज्ञान में चेतना स्वयं विषयरूप में ज्ञात होती है क्योंकि तब तो चेतना भेदोपाधिविशिष्ट हो जाती है और सर्वोपाधिवर्जित नहीं रह जाती। हम यह भी नहीं कह सकते कि ज्ञान का शुद्ध विषयीरूप मात्र एक वैचारिक अवधारणा है जिसे हम ज्ञान का विश्लेषण करते समय वैचारिक धरातल पर विषयनिरपेक्ष रूप में केवल सोच सकते हैं क्योंकि शांकर वेदान्त के अनुसार विषयनिरपेक्ष चैतन्य ही वास्तविक सत् है। यह मात्र कल्पना नहीं, वरन् पारमार्थिक सत् है।

तुलनात्मक दर्शन के दो प्रमुख अंग होते हैं। एक में दो या अधिक दर्शनों की तुलना होती है तथा दूसरे में तुलना के बाद निर्णय दिया जाता है। हमने इस बिन्दु पर कि चैतन्य का सारभूत स्वरूप विषयोन्मुख होता है या नहीं, शंकर और हुस्सर्ल के विचारों की तुलना की और हमने पाया कि इस बिन्दु पर दोनों के विचारों में मौलिक मतभेद है। जहाँ शंकर कहते हैं कि चैतन्य अपने सारभूत स्वरूप में विषय सापेक्ष नहीं होता, वहाँ हुस्सर्ल कहते हैं कि चैतन्य अपने सारभूत स्वरूप में विषय सापेक्ष होता है। अब तुलनाकार को यह निर्णय देना है कि किसका मत स्वीकार योग्य है।

मैं समझता हूँ कि शंकर की पारमार्थिक चेतना की अवधारणा तर्कतः उचित नहीं जान पड़ती। उनकी ईश्वरीय चेतना की अवधारणा तो उचित है क्योंकि यह चेतना विषयोन्मुख है। हुस्सर्ल की चेतनापरक अवधारणा सुसंगत है क्योंकि वे चेतना को विषयोन्मुख मानते हैं। शंकर जब यह कहते हैं कि पारमार्थिक स्तर पर चेतना विषयहीन है तो वे चैतन्य की उचित व्याख्या करने में अपने को असमर्थ कर देते हैं। अतः उनका पक्ष दार्शनिक दृष्टि से दुर्बल हो जाता है। और इस तरह दार्शनिक दृष्टि से शंकर की अपेक्षा हुस्सर्ल का ही चैतन्य सम्बन्धी विचार स्वीकार योग्य प्रतीत होता है।

किन्तु इसके पहले कि मैं अपना निबन्ध समाप्त करूँ, मैं आपका ध्यान इस ओर आकृष्ट करूँगा कि शायद दार्शनिक विवेचन में कोई अन्तिम निर्णय नहीं हो सकता। अन्तिम निर्णय की अनेक कठिनाइयाँ होती हैं, जैसे दार्शनिक का अचेतन पूर्वाग्रह, उसकी व्यक्तिगत बौद्धिक असमर्थता, उसके ज्ञान का सीमित होना, उसमें मानसिक सूझ का अभाव आदि, आदि। अतः मैं प्रस्तुत तुलनात्मक विवेचन के निर्णय का अधिकार, अपने में सीमित नहीं रखकर, विद्वानों के समुदाय को सौंप देता हूँ, जिससे कि वे इस सम्बन्ध में आधिकारिक तौर पर निर्णायक विवेचन कर सकें।

संदर्भ-ग्रंथ एवं टिप्पणियाँ

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के ३०वें अधिवेशन, हरिद्वार में पठित।

१. ब्रह्मसूत्र भाष्य, १.१.४ ।

२. वही, २.३.७ ।

३. वही, ११.१ ।

४. हुर्सल : आइडियाज, डब्ल्यू.आर. रोयसी गिल्सन, (अनु.), जार्ज एलेन एण्ड अनविन लिमिटेड।

५. विवेक चूड़ामणि, श्लोक १९६ ।

६. इन्टेन्शनलिटी।

७. एस. राधाकृष्णन : इण्डियन फिलॉसोफी, खण्ड-२, जार्ज एलेन एण्ड अनविन लिमिटेड, सातवाँ पुनर्मुद्रण, १९६२, पे. ५७२ ।

८. वही, पृ. ४९८ ।

९. शांकर भाष्य, २.२.२९ ।

१०. उद्धृत - एस. राधाकृष्णन : इण्डियन फिलॉसोफी, खण्ड-२, पे. ६३४ ।

११. ब्रह्मसूत्र, एस. राधाकृष्णन, (अनु.), जार्ज एलेन एण्ड अनविन लिमिटेड, १९६०, पे. २३५ ।

तुलनात्मक दर्शन : आवश्यकता एवं उपादेयता

भगवन्त सिंह

तुलनात्मक दर्शन कहने के साथ ही एक साथ बहुत सारे प्रश्न हमारे मस्तिष्क में उठने लगते हैं, यथा तुलनात्मक दर्शन क्या है ? इसकी विषय-वस्तु क्या है ? इसकी विधा तथा कार्य-प्रणाली क्या है ? इसकी आवश्कता तथा उपादेयता क्या है ? मैंने अपने आलेख में इन तमाम प्रश्नों पर प्रसंगानुसार चर्चा करते हुए मुख्य रूप से तुलनात्मक दर्शन, उसकी आवश्यकता एवं उपादेयता पर प्रकाश डालने का विनम्र प्रयास किया है।

भारतीय हो अथवा पाश्चात्य, प्राचीन हो अथवा अर्वाचीन सभी सन्दर्भों से सम्बन्धित देश, काल, संस्कृति एवं समाज का प्रतिनिधित्व करने वाला एक दर्शन हुआ करता है। सभ्यता के विकास एवं वैज्ञानिक प्रगति के फलस्वरूप एक प्रतिनिधि दर्शन का दूसरे दर्शनों पर प्रभाव परिलक्षित होने लगा, जो समय की माँग या आवश्यकता हुआ करती है। इसी क्रम में कुछ इतिहासकार भारत और ग्रीस के दार्शनिक विचारों को एक दूसरे से प्रभावित मानते हैं, जबकि धीरेन्द्र मोहन दत्त तथा सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ऐसे किसी पारस्परिक प्रभाव के असंदिग्ध प्रमाण मिलने से इंकार करते हैं। पुनश्च, असंदिग्ध प्रमाणों के अभाव में यदि दो विचारों में समानता दिखती भी है तो उन्हें समानान्तर विचारों की कोटि में ही रखा जा सकता है।

अब, यदि हम उपर्युक्त मत के अतिरिक्त, दो दर्शनों में समानता या असमानता देखते हैं तो भी क्या हम उन्हें तुलना योग्य मान सकते हैं ? यदि हम उन दो दर्शनों को तुलना योग्य मान भी लें तो क्या हम उसे ही तुलनात्मक दर्शन कहेंगे ? मेरी मान्यता है कि दर्शनों की तुलना मात्र को ही तुलनात्मक दर्शन नहीं कहा जा सकता है। तुलनात्मक दर्शन दो या अधिक प्रकार के दर्शनों की सामान्य तुलना न होकर एक विशेष प्रकार की तुलना है जिसकी अनिवार्यतः अपनी कुछ प्रागप्रेक्षायें भी होती हैं, जैसे, तुलना का मुख्य कारक (*फैक्टर*) या प्रतिमान (*स्टैण्डर्ड*) तथा तुलनीय दर्शनों की भौगोलिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि (*बैकग्राउण्ड*)।

इसके विपरीत भी कोई यह प्रश्न उठा सकता है कि दर्शन वही है जिसकी कोई पद्धति (*मेथडोलॉजी*) हो। प्रश्न उठता है कि क्या तुलनात्मक दर्शन की कोई पद्धति है ? वास्तव में, तुलनात्मक दर्शन, जैसा कि पीछे बताया गया है, स्वयं एक विशिष्ट पद्धति है, जिसके कारण ही वह अन्य सामान्य प्रकार के दर्शनों की तुलना की तरह पूर्वाग्रह ग्रसित तथा पक्षपातपूर्ण न होकर निष्पक्ष तथा सामान्य होता है। तुलनात्मक

दर्शन विभिन्न दर्शनों में ऐसे सामान्य सत्य को ढूँढने का प्रयास करता है जो किसी भी दर्शन विशेष से अधिक ऊँचा होता है।

किसी भी पदार्थ में दो प्रकार की विशेषताएँ होती हैं : प्रथम, वाह्य और सांयोगिक, और द्वितीय, आन्तरिक और मौलिक। वाह्य और सांयोगिक विशेषता का तात्पर्य उन विशेषताओं से है जो परिस्थितिजन्य रूप से उपस्थित हो जाती हैं। इनके उपस्थित होने या न होने से पदार्थ के मूल स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता है। ऐसी वाह्य विशेषताओं पर आधारित समानताओं तथा असमानताओं की तुलना को तुलनात्मक दर्शन की कोटि में नहीं माना जा सकता है। दूसरी ओर, आन्तरिक और मौलिक विशेषताओं का तात्पर्य उन विशिष्टताओं से है जिनके कारण उसका नामकरण होता है और जो पदार्थ के स्वरूप का मूल कारक हैं। इन्हीं के कारण ही वह पदार्थ अन्य पदार्थों से अपनी विशिष्टता और भिन्नता बनाये रखता है। तुलनात्मक दर्शन में सामान्य प्रतिमान के द्वारा इन्हीं आंतरिक एवं मूल विशेषताओं को ही आधार मानकर समानता या असमानता की तुलना की जाती है।

तुलना एकांगी न हो जाये इसके लिए आवश्यक है कि उन भौगोलिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों से उत्पन्न पृष्ठभूमि को भी ध्यान में रखा जाये जिसके परिप्रेक्ष्य में उक्त दर्शन का उदय हुआ। जैसे, कान्ट के दर्शन पर सांस्कृतिक प्रभाव के रूप में न्युटन के विज्ञान (*न्युटोनियन साइन्स*) को देखा जा सकता है। देश-कालिक परिस्थितियाँ भी दर्शन को, समाज एवं संस्कृति को प्रभावित करती हैं। जैसे, बहुप्रचलित शुभ और अशुभ की समस्या को ही लें। जो अवधारणाएँ भारत में अशुभ मानी जाती हैं वही देशगत् भेद से पश्चिम में शुभ मानी जाती हैं। यही नहीं, आज से २०-२५ वर्ष पूर्व भारत में ही जिसे अशुभ माना जाता था वही कालगत् से आज यहीं पर शुभ माना जाने लगा। इसी देश एवं कालगत भेद के निर्धारण के साथ भौगोलिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियाँ भी पृष्ठभूमि के निर्धारण में अपनी भूमिका निभाती हैं। इन समस्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए एक निश्चित कारक तथा प्रतिमान को आधार मानकर ही तुलनात्मक दर्शन का प्रारम्भ होता है।

मानव, चूँकि एक विचारशील प्राणी है, इसलिए विचार करना उसका स्वभाव है। तुलनात्मक विचार भी एक विचारणा ही है। अतः तुलनात्मक विचार भी एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। सामान्यतया यह तुलना तीन प्रकार से की जाती है :

१ **सकारात्मक** : ऐसी तुलना में अपनी या अपने दर्शन की बड़ाई करते हुए उसका पलड़ा भारी बताया जाता है।

२ **नकारात्मक** : ऐसी तुलना में प्रतिपक्ष की बुराई करते हुए उसे नीचा दिखाने का प्रयास किया जाता है।

उपर्युक्त दोनों प्रकार की तुलना निरर्थक होती हैं क्योंकि इनसे पक्षपातपूर्ण एकांगीपन ही स्थापित होता है। जैसे, अनेक पाश्चात्य दार्शनिकों ने भारतीय दर्शन को निराशावादी कहा है। थिली ने तो यहाँ तक कह दिया कि भारत में केवल आध्यात्मिक विचार ही हैं, यहाँ दर्शन है ही नहीं। कोपलेस्टन ने तो अपनी पुस्तक में भारतीय दर्शन को जिक्र करने लायक भी नहीं समझा। इन उदाहरणों तथा इनकी तथ्यता से आप सब अवगत हैं।

३ **समग्रता :** इस कोटि की तुलना में एक दर्शन का अनुयायी दूसरे दर्शन से तुलना मात्र इसलिए करता है ताकि दोनों दर्शनों की तात्त्विक एवं आंतरिक विशिष्टताओं को सामने रखकर समग्र, परिपूर्ण एवं समन्वयात्मक अनुशीलन किया जा सके। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सतह पर दिखने वाली समानता या असमानता वास्तविक एवं तात्त्विक नहीं होती। यही सार्थक तुलना होती है क्योंकि इसमें वाह्य एवं सांयोजिक विशेषताओं को महत्वहीन मानते हुए, मूल एवं आंतरिक विशेषताओं को ही आधार मानकर भौगोलिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए, पूर्व निर्धारित प्रतिमान के आधार पर समानता या असमानता की तुलना दो या अधिक तुलनीय दर्शनों की पूर्णता एवं समानता के उद्देश्य से की जाती है। इसे तुलनात्मक दर्शन की आवश्यकता माना जा सकता है।

भारत एवं पाश्चात्य के अनेक दर्शनों की तुलना विभिन्न दार्शनिक पक्षों को लेकर की जाती रही है। सांख्य के द्वैतवाद की तुलना डेकार्त के द्वैतवाद से, शंकराचार्य के अद्वैतवाद की तुलना स्पिनोजा के सर्वेश्वरवाद से तथा गीता के निष्काम कर्मयोग की तुलना कान्ट के अहैतुक आदेश से सन्दर्भानुसार की जाती है। तुलनात्मक दर्शन की उपादेयता हम एक उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट करना चाहेंगे। श्री अरबिन्द एवं पॉल तिलिच के दर्शन में तर्क-बुद्धि (*रीजन*) की साम्यता उल्लेखनीय है, यद्यपि उनके दर्शनों के विकास की भौगोलिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियाँ पूर्णतः भिन्न थीं। श्री अरबिन्द जहाँ हिन्दू धर्मानुयायी थे, वहीं पॉल तिलिच ईसाई धर्मावलम्बी। श्री अरबिन्द ब्रह्म को परम-सत्ता मानते थे, जबकि तिलिच ईश्वर को। श्री अरबिन्द के अविद्या (*इग्नोरेंस*) तथा मोक्ष का स्थान क्रमशः तिलिच के पाप (*सिन*) एवं मुक्ति (*साल्वेशन*) ने लिया है। इस तुलना का प्रतिमान मानव की परम नियति (*अल्टीमेट डेस्टिनी आफ मैन)* को मानते हुए उसकी प्राप्ति में तर्क-बुद्धि के योगदान को लिया गया है। यहाँ उपर्युक्त असमानताओं को कम महत्व देते हुए उनके दर्शनों में वर्णित तर्क-बुद्धि की बहुप्रचलित समानता को सार्थक एवं महत्वपूर्ण माना गया है। दोनों ही दार्शनिकों ने तर्क-बुद्धि के दो भेदों को माना है।

श्री अरबिन्द के अनुसार :

१. सीमित तर्क-बुद्धि (*टेक्निकल रीजन*)

२. असीमित तर्क-बुद्धि (*इन्फाइनाइट रीजन* या *लॉजिक आफ द इन्फाइनाइट*)

पॉल तिलिच के अनुसार :

१. तकनीकी तर्क-बुद्धि (*टेक्निकल रीजन*)

२. सत्तामूलक तर्क-बुद्धि (*ऑन्टोलॉजिकल रीजन*)

श्री अरबिन्द की सीमित तर्क-बुद्धि तथा पॉल तिलिच की तकनीकी तर्क-बुद्धि में समानता है। सीमित तर्क-बुद्धि सम्भवतः असम्बद्ध (*डिस्कर्सिव*) है। वह एक एवं अनेक, जीव एवं परम-तत्व में भेद करती है। इसी प्रकार तकनीकी तर्क-बुद्धि भी मनुष्य को अन्य वस्तुओं की तरह एक विषय (*आब्जेक्ट*) मानकर उसका अमानवीयकरण (*डिह्युमनाइजेशन*) करती है। वास्तव में, यह सीमित एवं तकनीकी तर्क-बुद्धि का अपना स्वभाव है। जबकि दूसरी ओर श्री अरबिन्द की असीमित तर्क-बुद्धि स्वाभाविक रूप से सर्व-समावेशी (*आल इन्क्लूसिव*), असीमित, एवं पर्याप्त लचीली हैं। यह संसार में दृश्यमान भेदों को अभेद की दृष्टि से देखती है तथा सम्पूर्ण दृश्यमान को परब्रह्म का ही स्वसीमित स्वरूप (*सेल्फ कन्सेन्ट्रेटेड फॉर्म*) मानती है। इसी प्रकार, तिलिच के दर्शन में सत्तामूलक तर्क-बुद्धि मनुष्य के सम्पूर्ण अस्तित्त्व को अंगीकार करती है, अर्थात् मानव जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्र को परिचालित एवं सम्पादित करते हुए श्री अरबिन्द के असीमित तर्क-बुद्धि के समान कार्य करती है। यह मानव मस्तिष्क के मात्र संज्ञानात्मक (*कॉग्निटिव*) पक्ष तक ही नहीं बल्कि मानव मनस् की सम्पूर्ण संरचना जैसे, संज्ञानात्मक, सौन्दर्यात्मक, व्यावहारिक एवं तकनीकी पक्ष से भी सम्बन्धित है। श्री अरबिन्द के दर्शन में असीमित तर्क-बुद्धि तथा पॉल तिलिच के दर्शन में सत्तामूलक तर्क-बुद्धि, मानव-नियति की प्राप्ति, अर्थात् क्रमिक अतिमानसिक रूपान्तरण (*सुप्रामेंटल ट्रान्सफॉरमेशन*) के माध्यम से आत्म-साक्षात्कार के रूप में तथा सत्ता के साथ सह-सम्बद्धता (*युनिटी*) के रूप में सहायक होती है। श्री अरबिन्द और पॉल टिलिच के दर्शनों में तर्क-बुद्धि के दोनों स्तरों के भेद एवं मानव नियति की प्राप्ति में द्वितीय स्तर, अर्थात् असीमित तर्क-बुद्धि तथा सत्तामूलक तर्क-बुद्धि की उपादेयता की समानता विदित है। किन्तु इन दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि जैसी समानता ऊपर से परिलक्षित होती है, वास्तव में वैसी नहीं है। इसका कारण यह है कि दोनों ही दर्शनों की पृष्ठभूमि में धार्मिक एवं सांस्कृतिक भेद विद्यमान हैं। तुलना से स्पष्ट होता है कि अज्ञान (*इग्नोरेंस*) एवं पाप (*सिन*) में कोटिमूलक भिन्नता है। अविद्या या अज्ञान जहाँ अभावमूलक हैं, वहीं पाप अभावमूलक न होकर अस्तित्वपरक

है। अज्ञान सत्‌रूपेण नहीं है जबकि पाप सत्‌रूपेण है, क्योंकि ईसाई मत में मनुष्य का अस्तित्व ही पापमूलक है। (*मैन इज़ बॉर्न इन सिन*), अज्ञान ज्ञानपरक (*इपिस्टिमिक*) है जबकि पाप अस्तित्वपरक (*इग्झिस्टेंशियल*)। दोनों ही दर्शनों में मानव-नियति की प्राप्ति में तर्क-बुद्धि सहायक अवश्य है किन्तु दोनों के अनुसार नियति (*डेस्टिनी*) में परिप्रेक्ष्य भेद से अन्तर है। श्री अरबिन्द वेदों एवं उपनिषदों को आधार मानकर जीव एवं ब्रह्म में तात्विक एकरूपता मानते हैं और यह भी मानते हैं कि इस एकरूपता के बोध में बाधक अज्ञान को दूर करना है। दूसरी ओर, पॉल तिलिच ईसाई धर्मावलम्बी होने के कारण जीव एवं ईश्वर में मौलिक एकरूपता मानते ही नहीं हैं। यहाँ ईश्वर के साथ सह-सम्बद्धता की बात कही गयी है जो ईसा पर निष्ठा से ही सम्भव है। भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में निष्ठा (*फेथ*) स्वयं पर करनी है। यहाँ 'आत्म-दीपो-भव' की परम्परा है जबकि ईसाई परम्परा में निष्ठा ईसा पर करनी है और वही धर्म है। यही तुलनात्मक दर्शन की उपादेयता है क्योंकि समन्वयात्मक दृष्टि से की गयी तुलना से ही दोनों दर्शनों में अन्तर्निहित तथ्य सामने आ सके हैं।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

१. *श्री अरबिन्द : द लाइफ डिवाइन, खण्ड १-११ ।*

२. *डी.एम. दत्त : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी ।*

३. *एस. राधाकृष्णन् : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी ।*

४. *पी.टी. राजू : इन्ट्रोडक्शन टू कॉम्परेटिव फिलॉसोफी ।*

५. *पी.टी. राजू : लेक्चरर्स आन कॉम्परेटिव फिलॉसोफी ।*

६. *भागवन्त सिंह : कॉम्परेटिव फिलॉसोफी ।*

७. *डब्ल्यु.टी. स्टेस : हिस्ट्री ऑफ ग्रीक फिलॉसोफी ।*

८. *पॉल टिलिच : सिस्टेमैटिक थिऑलोजी ।*

बीसवीं सदी के दर्शन में तुलनात्मक दर्शन की सार्थकता

विजय कान्त दुबे

आज हम सार्वभौम मानवता के युग में जीवन-यापन कर रहे हैं, जहाँ सारे विश्व की मानवता एकजुट हो रही है। भारत ही नहीं विश्व के अन्यान्य विद्वानों ने विश्व के सभी देशों एवं संस्कृतियों के परस्पर आदान-प्रदान की आवश्यकता का सबल समर्थन किया है। इसलिए पूरब एवं पश्चिम की दूरी कम हुयी है। कभी कहा जाता था कि पूरब-पूरब है और पश्चिम-पश्चिम – दोनों किनारों की तरह ये कभी मिल नहीं सकते। परन्तु अब तो यह कथन कहानी बनकर रह गया है। अब लोग मानने लगे हैं कि पूरब एवं पश्चिम की भौगोलिक दूरी तो कम नहीं की जा सकती, परन्तु वैचारिक दूरी कम करने के लिए दोनों को एक दूसरे को सापेक्ष मानते हुए सह-अस्तित्व पर बल देने की आवश्यकता है, क्योंकि इससे वैज्ञानिकता तथा अध्यात्मिकता, तार्किकता तथा धार्मिकता दोनों का संगम होता है।

सार्वभौमिकता की दिशा में आगे बढ़ते हुए प्राचीन एवं अर्वाचीन, प्राच्य एवं पाश्चात्य चिन्तन में सेतु स्थापित करने का प्रयास कई पाश्चात्य एवं भारतीय चिन्तकों ने किया है। यह प्रयास तुलनात्मक दर्शन के अध्ययन द्वारा ही सम्भव हुआ है। तुलनात्मक दर्शन, जैसा कि पी.टी. राजू मानते हैं, यथार्थतः प्राच्य एवं पाश्चात्य दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन है।[१] इस प्रकार का अध्ययन कम से कम दो भिन्न संस्कृतियों की दार्शनिक मरम्पराओं का समन्वित अध्ययन है। वस्तुतः, जब हम विभिन्न भारतीय एवं पाश्चात्य मतों का आपस में एक-दूसरे मतों से, अथवा प्राच्य का पाश्चात्य एवं पाश्चात्य का प्राच्य के दार्शनिक मतों से तुलना करते हैं तो उसमें दो मतों के बीच उभयगत मतों की खोज करते हुए उनके आधार पर एक ऐसे नवीन दर्शन का उद्‌भव होता है जो उन दोनों से पृथक एक नया दृष्टिकोण लिए हुए होता है। वस्तुतः तुलनात्मक दर्शन दर्शनशास्त्र की एक नवीन प्रणाली है, जो दार्शनिक चिन्तन को एक नया आयाम देती है।

तुलनात्मक दर्शन का प्रारम्भ, पी.टी. राजू २०वीं शताब्दी में हुआ मानते हैं। परन्तु, यदि हम दर्शन के इतिहास का अध्ययन करें तो इसमें जेम्स राबर्ट

वैलेण्टाइन को पाते हैं, जिन्होंने १८५१ में न्याय दर्शन तथा इंग्लैण्ड के अनुभववादी दर्शन का तुलनात्मक अनुशीलन प्रस्तुत किया था। इसलिए इन्हें तुलनात्मक दर्शन का जनक मानना उचित होगा। वैलेण्टाइन ने भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शनों की तार्किक एवं वैज्ञानिक ढंग से व्याख्या की। उनकी दृष्टि में यथार्थवाद प्राकृतिक धर्म और तर्कशास्त्र का वह मिलन बिन्दु है जहाँ भारत और पश्चिम के दर्शनों की मुख्य धारायें मिलती हैं। ए.ई. गफ ने तो तुलनात्मक दर्शन के तत्त्वमीमांसीय मत की स्थापना की तथा प्लेटो, प्लॉटिनस एवं फिक्टे के दर्शन में अद्वैत वेदान्त के तत्त्वशास्त्र को खोज निकाला। बीसवीं शताब्दी के पाश्चात्य विद्वानों में एच.एन. रैण्डल, जे.जी. जेनिंग्स, नार्थ्रोप, रीज़ डेविस, मैक्समूलर, पाल डायसन तथा भारतीय चिन्तकों में राधाकृष्णन्, पी.टी. राजू, स्वामी विवेकानन्द आदि के नाम तुलनात्मक दर्शन तथा धर्म के क्षेत्र में प्रमुख हैं।

पूर्वी दर्शनों में तुलनात्मक दर्शन के प्रणेता एस. राधाकृष्णन् हैं, जिन्होंने विभिन्न भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शनों का गहराई से अध्ययन करने के पश्चात् एक ऐसा सहचिन्तन प्रारम्भ किया जिसके फलस्वरूप तुलनात्मक दर्शन एवं धर्म की एक नवीनतम प्रणाली विधिवत स्थापित हुई। उन्होंने पूरब एवं पश्चिम के विचारों को जोड़ने में एक सेतु की श्लाघ्य भूमिका निभायी। पाल आर्थर श्लिप ने उनके इस स्तुत्य कार्य को पूरब एवं पश्चिम के बीच जीवन्त सेतु का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण कहा। प्रो. म्योरहेड, जो राधाकृष्णन को पूरब एवं पश्चिम के परम्परागत ज्ञान में निष्णात मानते थे, ने कहा कि वे दर्शन के क्षेत्र में एक ऐसे द्विभाषी थे जिन्होंने भारत की गहन दार्शनिक परम्पराओं को पाश्चात्य दर्शन की परम्पराओं के अनुसार प्रस्तुत किया। राधाकृष्णन् के इस अध्ययन की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह रही है कि उन्होंने पश्चिमी चिन्तकों के समक्ष भारतीय चिन्तन को तार्किक रूप से, सबल रूप में, प्रस्तुत किया और पश्चिमी विद्वानों का भारतीय मत के प्रति सन्देह दूर कर इसकी वास्तविकता से अवगत कराया। उन्होंने युरोप और भारत अथवा पूरब एवं पश्चिम की विचारधाराओं के बीच एक समन्वय का संधान किया, एक सामंजस्य का पता लगाया है एवं दोनों, पूर्वी एवं पश्चिमी, धाराओं को आस-पास ला दिया है। पी.टी. राजू ने इस कथन को अपनी स्वीकृति प्रदान की और कहा कि दर्शन के स्तर पर राधाकृष्णन् ने पूरब एवं पश्चिम के समन्वय को मूर्तिमान रूप प्रदान किया।[२] इसी प्रकार स्वामी

विवेकानन्द सांस्कृतिक गौरव को स्थापित करने में सफल रहे। *संस्कृति के चार अध्याय* में कहा गया है, "विवेकानन्द वह समुद्र हैं जिसमें धर्म और राजनीति, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता तथा उपनिषद् और विज्ञान सबके सब समाहित होते हैं।"[१] पी.टी. राजू ने तो तुलनात्मक दर्शन पर कई ग्रन्थ लिखकर इसे दर्शन की एक महत्त्वपूर्ण प्रणाली के रूप में स्थापित कर दिया।

इन चिन्तकों के प्रयासों के फलस्वरूप पूरब एवं पश्चिम के विचारकों में एक-दूसरे के दार्शनिक मतों का अध्ययन करने की प्रेरणा जगी और अध्ययन के पश्चात् पाश्चात्य चिन्तकों ने भारतीय दर्शन के प्रति अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन किया, बल्कि यह कहा गया कि इस परिवर्तन के लिए वे विवश हुए, जिससे चिन्तन को एक नयी दिशा मिली एवं दो संस्कृतियों के दर्शन में आपसी समझ, सहानुभूति एवं सहनशीलता उत्पन्न हुई। तुलनात्मक दर्शन की सार्थकता इस तथ्य में है कि एकांगिकता से पृथक समन्वयवादी अवधारणा के कारण यह एक रचनात्मक दृष्टि उत्पन्न करता ही है जो विश्व-दृष्टि उत्पन्न करने में सहायक है। इसलिए इसे केवल पूरब और पाश्चात्य के मिश्रण के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। अपितु, यह सर्वाङ्दृष्टि उत्पन्न करता है जिससे विचारों में व्यापकता आती है। इससे ही सही मानवतावादी दृष्टिकोण एवं विश्व-बन्धुत्व की भावना का विकास होता है जो वर्तमान युग की सबसे बड़ी आवश्यकता है।

आधुनिक युग में यह अध्ययन इतना लोकप्रिय हुआ है कि अन्यान्य चिन्तकों ने इस दिशा में अत्यन्त महत्वपूर्ण शोधपूर्ण अध्ययन करके तुलनात्मक दर्शन को एक नया आयाम दिया । तत्त्वमीमांसीय सन्दर्भ में नागराज राव, आर.डी. रानाडे, ए.सी. मुखर्जी, एस.के. मित्र, टी.आर.वी. मूर्ति, नन्दकिशोर देवराज, आर.के. त्रिपाठी, अभय चन्द्र भट्टाचार्य, संगम लाल पाण्डेय द्वारा किया गया तुलनात्मक अध्ययन निश्चित ही दर्शन को एक महत्त्वपूर्ण योगदान है। इन चिन्तकों ने पूरब के दर्शन का पश्चिम के परिप्रेक्ष्य में और पश्चिम के दर्शन का पूरब के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करके दार्शनिक चिन्तनधारा को एक नयी दिशा प्रदान की । इस प्रवाह को आगे बढ़ाते हुए आगे के दार्शनिकों में श्री अरबिन्द के साथ विभिन्न पाश्चात्य चिन्तकों, यथा बर्गसाँ, हेगेल, ब्रेडले आदि का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया। मैंने स्वयं भी श्री अरबिन्द तथा हेगेल, जो क्रमशः भारतीय तथा पाश्चात्य संस्कृतियों का प्रतिनिधित्व

करते हैं, के परम-सत् सम्बन्धी विचारों के तुलनात्मक अध्ययन का विनम्र प्रयास किया है। प्रस्तुत व्याख्यान-माला के क्रम में मैं हेगेल एवं श्री अरबिन्द के परम-सत् सम्बन्धी मतों के अध्ययन का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करना चाहूँगा, जिससे तुलनात्मक दर्शन की इस प्रणाली की स्पष्ट व्याख्या हो सके।

आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के शीर्षस्थ दार्शनिक जार्ज विल्हेल्म फ्रेडरिक हेगेल निरपेक्ष प्रत्ययवाद के समर्थक हैं। इनके मत को १९वीं शताब्दी के अन्त तथा २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में पाश्चात्य तथा भारतीय चिन्तकों ने स्वीकृति प्रदान की। भारत में राधाकृष्णन्, ए.सी. मित्र तथा हीरा लाल हलधर ने हेगेलवाद को अपनाया। हेगेल एक ऐसे परम-सत् को मानते हैं जो निरपेक्ष है, एक ऐसा सत् जो सर्वसमावेशी है, जिसमें एक एवं अनेक, आत्मगत एवं वस्तुगत, पट एवं पक्ष सभी प्रत्यय समन्वित हैं। उनके इस प्रत्ययवादी एकत्व का आधार हम उपनिषदों के 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के कथन में ढूँढते हैं। आगे चलकर रामानुजीय वेदान्त में स्पष्टतः इसे देखा जा सकता है, जहाँ ईश्वर एक-अनेक, चित्-अचित् सबको अपने अन्दर समाहित किए हुए है। ' चित् अचित् विशिष्ट ईश्वरः' - इस कथन से यह तथ्य स्वतः प्रमाणित हो जाता है। परन्तु, परम-सत् का यह एकत्व आचार्य शंकर की तरह रिक्त एकत्व नहीं है, क्योंकि वहाँ केवल ब्रह्म ही पारमार्थिक रूप से सत् है। श्री अरबिन्द के समग्र अद्वैतवाद में तो परम-सत् के सभी पक्ष सर्वग्राही एकता में समाविष्ट हैं। उनका मत है कि एक परमार्थ तत्त्व है, जो नित्य, निरपेक्ष एवं अनन्त है, वही समस्त अस्तित्व का आधार है। परमसत् के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण समग्रता का पोषक है। उन्होंने स्पष्टतः कहा है, "सच्चा अद्वैत वह है जो समस्त पदार्थों को एक ब्रह्म - 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' - मानता है और उसकी सत्ता को दो असम्बद्ध तत्त्वों - नित्य, सत्य और मिथ्यात्व, ब्रह्म और अब्रह्म, आत्मा और अनात्मा, यथार्थ और अयथार्थ का संकलन मानता है किन्तु माया के रूप में विभक्त करने का प्रयत्न नहीं करता है । यदि यह सत्य है कि केवल आत्मा ही अस्तित्व रखती है तो यह भी सत्य होना चाहिए कि सब आत्मा है।"[४] तात्पर्य है कि आत्मा (परमसत्) में सब कुछ समाहित है । इस सन्दर्भ में हेगेल एवं श्री अरबिन्द एक-दूसरे के काफी निकट हैं। इनमें अन्तर केवल इतना है कि हेगेल का परम-सत् सब कुछ समाहित किए हुए भी पारमार्थिक या विश्वातीत नहीं हैं, जबकि श्री अरबिन्द का परम-सत् सर्वग्राही होने के कारण विश्वव्यापी भी है, विश्वातीत भी तथा इनसे परे भी।

हेगेल एवं श्री अरबिन्द अध्यात्मवाद के समर्थक हैं। हेगेल ने चेतन तत्त्व को निरपेक्ष माना है। यह निरपेक्ष-सत् प्रत्ययों की तार्किक एवं अनिवार्य जैविक व्यवस्था है जिसमें सत् के सभी पहलू - आत्मगत तथा वस्तुगत - समाहित हैं। इसमें बुद्धि तत्त्व या प्रत्यय निरपेक्ष सत् भी है और सापेक्ष जगत् भी। हलधर का मत है कि निरपेक्ष प्रत्यय केन्द्रीय एकत्व है, जिसमें सभी सत्ताएँ निहित हैं।[५] चूँकि हेगेल के मत में विचार ही सत्ता है, अतः विचार का विचार और वस्तु का विचार सब-कुछ उसमें समाहित है और इस प्रकार सम्पूर्ण संसार ही प्रत्ययात्मक है। इसी कारण वह एक सत् अपने को विचार, प्रकृति, कला, धर्म, दर्शन आदि विभिन्न रूपों में साकार करके परिपूर्ण हो जाता है। यही एकता में अनेकता एवं अनेकता में एकता का भाव है; रामानुजीय मत में हम यही भाव पाते हैं। वहाँ भी एकता और अनेकता का भाव इस प्रकार सम्बद्ध है कि उनमें पृथकता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। सब कुछ ईश्वरमय है - सत् और संभूति, जड़ एवं चेतन, एक एवं अनेक सब कुछ ईश्वर में समाहित है। इस स्तर पर हेगेल एवं रामानुज में काफी हद तक समानता है। जहाँ तक श्री अरबिन्द का प्रश्न है, उन्होंने माना है कि परम-तत्त्व एक एवं अद्वितीय निरपेक्ष सत् है, वह नित्य, शुद्ध, पूर्ण निर्विशेष तथा अनिवर्चनीय है परन्तु यह जगत भी सत्य है, यह ब्रह्म में निहित है। श्री अरबिन्द इस जड़ तत्त्व को भी चेतन मानते हैं परन्तु यहाँ चेतना छिपी हुई है। दूसरे शब्दों में, परम-सत् ही विश्व सत्ता का मूल स्रोत है। उसकी चेतना सर्वत्र विद्यमान है। संक्षेप में, हेगेल एवं श्री अरबिन्द दोनों के मतों में परम-सत् को चैतन्य मानते हुए सम्पूर्ण सत्ताओं को उसमें समाहित माना गया है।

सत् ही सम्भूति का आधार है। यहाँ हेगेल के तार्किक-सत् (*लॉजिकल बीङ्*) एवं श्री अरबिन्द के शुद्ध-सत् (*प्योर बीङ्*) में समानता देखी जा सकती है। इन दोनों मतों में परम-सत् शुद्ध-सत् में है। जहाँ एक ओर हेगेल की दृष्टि में सभी प्रत्ययों की शुद्ध सत्ता या भाव अवश्य है, यह भाव या अस्तित्व (*बीङ्*) सबकी पूर्वापेक्षा है, यही परम-सत् है। यही सभी अन्य भावों का, प्रत्ययों का कारण है। अन्य सब प्रत्यय इसकी अपेक्षा करते हैं, परन्तु यह किसी की अपेक्षा नहीं करता है क्योंकि यह शुद्ध भाव सर्वोच्च है और सर्वोच्च तो 'एक' ही होता है। यह एकता की अनेकता का कारण है। दूसरे शब्दों में, परम-प्रत्यय चूँकि एक अनिवार्य जैविक संगठन है, एतदर्थ शुद्ध-सत् का प्रस्फुटन प्रकृति के रूप में होता है। शुद्ध विचार, वस्तु के विचार या प्रकृति

(*नेचुरल बीइ़्*) के रूप में प्रत्यावर्तित होता है। अमूर्त प्रत्यय अपने को साकार करने के लिए अपने से इतर और पूर्णतया भिन्न रूप में जड़ प्रकृति को वयक्त करता है और विचार का विचार वस्तु के विचार के रूप में प्रकट हो जाता है। श्री अरबिन्द की दृष्टि भी हेगेल से काफी साम्य रखती है। उन्होंने कहा कि परम-सत् में सत्ता और सम्भूति दोनों ही समाहित हैं क्योंकि दोनों ही वास्तविक हैं। परन्तु वह इन दोनों से परे भी है। उस परम-सत् की शुद्ध विश्वातीत अवस्था से जगत् की सत्ता अभिव्यक्त होती है। वे स्वयं कहते हैं, "परम-तत्त्व स्वरूप में देशातीत, कालातीत शुद्ध-सत् है, एक एवं स्थायी है जिसमें परिमेयता और अपरिमेयता अप्रयोज्य है, एवं यह देश और काल में अपरिमेय गति के रूप में अपने को अभिव्यक्त करता है ।"[६] अतः स्पष्ट है कि सम्भूति सत्ता का ही एक अंग है क्योंकि सत्ता चित् शक्तिमय भी है और आनन्दमय भी। इस प्रकार श्री अरबिन्द के मत में परम-ब्रह्म सच्चिदानन्द है। यहाँ हेगेल सत् और सम्भूति, सत् और चित् की स्वीकृति में तो श्री अरबिन्द के विचारों से साम्यता रखते हैं, परन्तु वे परम-सत् को आनन्दमय नहीं मानते। वस्तुतः परम-सत् को आनन्दमय स्वीकार करने की परम्परा पूर्वी दर्शनों की है, इसका पश्चिम की परम्पराओं में अभाव है। इस प्रकार श्री अरबिन्द का अध्यात्मवाद हेगेल की अपेक्षा अधिक संगठित तथा व्यवस्थित है क्योंकि हेगेल ने चेतन तथ्य को निरपेक्ष माना है, जबकि श्री अरबिन्द ने सच्चिदानन्द को माना है, जिसमें चैतन्य के अतिरिक्त ब्रह्म सत् और आनन्द भी हैं।

इस तथ्य पर कि सत् से ही सम्भूति का विकास होता है, श्री अरबिन्द एवं हेगेल काफी हद तक समान हैं, परन्तु यह क्यों और कैसे होता है, इस प्रश्न पर दोनों में मतभेद है। यह सत्य है कि दोनों ही परम-तत्त्व के आत्म विस्तार को सृष्टि कहते हैं, परन्तु जहाँ एक ओर श्री अरबिन्द इस विस्तार का माध्यम परम-सत् की सर्जनात्मक शक्ति 'अतिमानव' को मानते हैं वहीं हेगेल में, दूसरी ओर इस संचालनकारी शक्ति की कोई व्याख्या नहीं मिलती। उनके अनुसार, वृद्धि का विरोधात्मक स्वभाव विकास में गति उत्पन्न करता है। वे अपने द्वन्द्वात्मक पद्धति में विरोध को विकास का अनिवार्य आधार मानते हैं। परन्तु विरोध इसका लक्ष्य नहीं है, अतः विरोध का विरोध होता है और पुनः परम-सत् आत्म-चेतना प्राप्त कर लेता है। आत्म-चेतना की यह प्राप्ति ही बुद्धि की पराकाष्ठा है जो 'दर्शन' के स्तर पर प्राप्त

होती है। परन्तु यह चेतना व्यक्तिगत न होकर आधारभूत सामान्य चेतना है। यही 'मूर्त सामान्य' की स्थिति है। श्री अरबिन्द भी कहते हैं कि यद्यपि अभिव्यक्तिकरण में परम-सत् अपने को अज्ञान में निमज्जित करता है परन्तु यह अज्ञानता जगत् या विकास का लक्ष्य नहीं है। उसका उद्देश्य परम-सत् का पुनः ज्ञान एवं प्रकाश में लौटना है। श्री अरबिन्द स्वयं कहते हैं, "यह अज्ञान कोई भयंकर प्रमाद और पतन नहीं है अपितु सप्रयोजन अवतरण है, अभिशाप नहीं अपितु एक दिव्य सुअवसर है।"[७] श्री अरबिन्द के मत में सच्चिदानन्द का आनन्द तत्त्व जगत-सृष्टि के प्रयोजन का कारण है क्योंकि यह आनन्द से उत्पन्न होता है और आनन्द के लिए उत्पन्न होता है। यह सम्पूर्ण सृष्टि ब्रह्म की लीला या क्रीड़ा है, क्योंकि ब्रह्म स्वयं ही क्रीड़ा है, स्वयं ही क्रीड़ा करने वाला है और स्वयं ही क्रीड़ाभूमि है।[८] परन्तु हेगेलीय दर्शन में सृष्टि के कारण का कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिलता है। वे केवल इतना कहते हैं कि परम-सत् पहले से भी पूर्ण था, उसकी यह पूर्णता अविभाज्य थी। इस अभिन्न चेतना को और अधिक पूर्ण करने के लिए वह अपने को विश्वीय चेतना में अभिव्यक्त करता है। निश्चित ही यह हेगेल के दर्शन का निषेधात्मक पक्ष है।

हेगेल एवं श्री अरबिन्द दोनों के दर्शनों में मानव, जो बुद्धि का केन्द्र है, एक महत्त्वपूर्ण इकाई है। विश्व में मानव का स्थान सर्वोच्च है। हेगेल ने तो मानव बुद्धि की उच्चता स्वीकार करते हुए कहा कि तर्क-बुद्धि द्वारा ही विश्व का संचालन होता है और जो कुछ भी विश्व इतिहास में घटित हो रहा है, या हुआ है वह सब बुद्धि परक है।[९] हेगेल ने बुद्धि को सत्य का प्रतिनिधि कहा है। यह बुद्धि नित्य, शाश्वत तथा सर्वशक्तिमान है एवं विश्व की घटनायें इसी बुद्धि की अभिव्यक्ति मात्र हैं। हेगेल ने बुद्धि को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और उत्कृष्ट मानते हुए कहा कि सत्य केवल बुद्धिगम्य है, अर्थात् सत्ता और बुद्धि में कोई अन्तर नहीं, बल्कि इनमें तादात्म्य सम्बन्ध है। यह सत्ता वस्तु की नहीं, प्रत्यय की है, इसीलिए यह बौद्धिक है। उनका मत है, "परम-सत् बौद्धिक है और बुद्धि इस विश्व को व्यवस्थित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।"[१०] परन्तु बौद्धिक ज्ञान, उनके मत में, चेतना की पराकाष्ठा नहीं है। इसलिए परम-सत् बुद्धि नहीं अपितु अति-बौद्धिक स्तर पर ही ज्ञेय है। श्री अरविन्द बुद्धि और पराबुद्धि, मानसिक चेतना एवं अतिमानसिक चेतना के मध्य उच्चतर, प्रज्ज्वलित, अन्तर्भास एवं अधोमनस के स्तरों को स्वीकार करते है। यह अतिमानसिक चेतना ही उच्चतम चेतना है। इसी स्तर से ही परम-सत् का वास्तविक ज्ञान हो सकता

है। इसी कारण, हेगेल के बौद्धिक ज्ञान, जहाँ विरोध का तार्किक नियम कार्य करता है, की सीमा से ऊपर उठकर श्री अरबिन्द ने एक ऐसे दैवीय नियम को मान्यता दी जिसे 'अनन्त का तर्क' (*लॉजिक ऑफ द इन्फाइनाइट*) कहा जाता है और इस प्रकार के तार्किक स्तर पर परम-सत् में किसी प्रकार का विरोध नहीं होता, अपितु परम-सत् के समग्र रूप का दर्शन होता है। बुद्धि तो केवल भौतिक जगत् का ही ज्ञान दे सकती है। इससे परासत्ता का पूर्ण एवं वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। वह तो अतिमानसिक चेतना द्वारा ही सम्भव है।

अतिमानसिक चेतना के इस स्तर पर पहुँच कर मानव अतिमानव हो जाता है, क्योंकि इसी स्तर पर ही उसे दिव्य ज्ञान की प्राप्ति होती है। इस स्तर पर चेतना अपना चरमोत्कर्ष पाती है। यह विज्ञानमय प्राणी का स्तर है, जहाँ आत्मा-अनात्मा, जड़-चेतन, सत्-सम्भूति आदि का विरोध समाप्त हो जाता है और सर्वत्र उस एक परम-सत् का दिग्दर्शन होता है। जहाँ तक हेगेल का प्रश्न है, उन्होंने निरपेक्ष विज्ञान या चेतना, जिसमें आत्म-सत् तथा वस्तुगत सभी प्रकार की चेतनायें समन्वित हैं, को परम-विज्ञान कहते हैं और यही पूर्ण विकसित अवस्था है। दर्शन, जो बौद्धिक चेतना की पराकाष्ठा है, में हम परम-तत्त्व को परम-विज्ञान के रूप में पाते हैं। इस स्थिति में हेगेल परम-विज्ञान व परम-तत्त्व को एक मान लेते हैं। हेगेल ने अपने दर्शन को मूर्त प्रत्ययों की परिपूर्ण अवस्था कहा है। यहाँ हेगेल और श्री अरबिन्द के मतों में भिन्नता है। एक ओर, हेगेल अपने बौद्धिक दर्शन में 'दर्शन' को ही चेतना की पराकाष्ठा मानते हैं, क्योंकि इसमें समस्त चेतनाएँ समाविष्ट हैं, दूसरी ओर, श्री अरविन्द चेतना के इस स्तर से सन्तुष्ट नहीं होते और अतिमानसिक स्तर को ज्ञान या चेतना की पूर्णता मानते हैं।

हेगेल एवं श्री अरविन्द दर्शन के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दो भिन्न संस्कृतियों से जुड़े इन दर्शनिकों के विचारों में काफी हद तक समानता है। यह समानता इस बात की द्योतक है कि विभिन्न चिन्तकों के मध्य चाहे कितनी भौगोलिक दूरी क्यों न हो परन्तु वैचारिक रूप से वे एक-दूसरे के अत्यन्त निकट हो सकते हैं। एतदर्थ, उनमें परस्पर प्रेम, सहयोग, भ्रातृत्व आदि की भावना का विकास होगा, जो विश्व-ऐक्य एवं विश्व-संस्कृति के निर्माण में सहायक होगा। इस अध्ययन की सार्थकता इस बात में निहित है कि इससे विभिन्न देशों एवं संस्कृतियों के चिन्तकों को एक-दूसरे के विचारों को जानने का विधिवत् अवसर मिलता है तथा लोगों की एक-दूसरे के प्रति गलतफहमियाँ भी दूर हो जाती हैं

कि केवल मेरा विचार ही महत्त्वपूर्ण है तथा अन्य विचार या दर्शन काल्पनिक, अवैज्ञानिक एवं अदूरदर्शी हैं। इससे दार्शनिक चिन्तन में व्यापकता आती है। चूँकि किसी भी देश की संस्कृति को महान् बनाने में उसका दर्शन महत्त्वपूर्ण होता है इसलिए जब वहाँ के दर्शन का दृष्टिकोण व्यापक होगा तो संस्कृति भी स्वयमेव महान् होगी, जो सम्पूर्ण मानवता के विकास में सहायक सिद्ध होगी तथा सार्वभौम भ्रातृत्व का मानव का सपना पूरा होगा ।

सन्दर्भ-ग्रंथ और टिप्पणियाँ

१. *पी.टी. राजू : लेक्चरर्स आन कॉम्परेटिव फिलॉसोफी, पृ. १ ।*

२. *पी.टी. राजू : द फिलॉसोफी आफ सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, पृ. ५९ ।*

३. *रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ. ५८६ ।*

४. *श्री अरबिन्द : दिव्य जीवन, प्रथम भाग, पृ. ७० ।*

५. *एच.एल. हलधर : हेगेलियनिज्म एण्ड ह्युमन पर्सनॉलिटी, पृ. २ ।*

६. *श्री अरबिन्द : दिव्य जीवन, प्रथम भाग, पृ. ९४ ।*

७. *श्री अरबिन्द : दिव्य जीवन, प्रथम भाग, पृ. ३६२ ।*

८. *श्री अरबिन्द : दिव्य जीवन, प्रथम भाग, पृ. १६९-१७० ।*

९. *सी.जे. फ्रेडरिक : द फिलॉसोफी ऑफ हेगेल ।*

१०. *श्री अरबिन्द : मानवचक्र, पृ. ११४ ।*

भारतीय और पाश्चात्य कट्टर यथार्थवाद

गोरखनाथ मिश्र

यथार्थवाद और विज्ञानवाद ज्ञानमीमांसा और मूल्यमीमांसा में प्रयुक्त तर्क प्रणाली से निकलते हैं। उद्देश्य और विधेय की तरह, ज्ञानमीमांसा में प्रयुक्त ज्ञाता और ज्ञेय भी मात्र तार्किक अवधारणाएँ हैं, किन्तु इनमें जब सत्तात्मकता का न्यास कर दिया जाता है तो विज्ञानवादी और यथार्थवादी सत्ताशास्त्र की संरचना होती है। स्पष्ट है कि ये दोनों ही दर्शन-प्रणालियाँ एकांगी और अपूर्ण हैं, क्योंकि एक तो ज्ञाता और ज्ञेय केवल अवधारणाएँ हैं और दूसरे, यदि इन्हें सत्तात्मक मान भी लिया जाए तो भी इसमें से कोई एक संपूर्ण सत्ता नहीं हो सकती। वैध सत्ताशास्त्र की संरचना तभी हो सकती है जब सत्ता को ज्ञाता-ज्ञेय का समुच्चय माना जाए।

वैध सत्ताशास्त्रीय दृष्टिकोण

भौगोलिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं अन्य परिस्थितियों के वैभिन्य के बावजूद भारतीय और पाश्चात्य दर्शनों में एक महत्त्वपूर्ण समरूपता यह है कि दोनों ने ही प्रारंभ में शुद्ध शास्त्रीय दृष्टिकोण अपनाया। दोनों ही दर्शनों में संपूर्ण सत्ता की पहचान एवं अनुभूति की लालसा ने दार्शनिक जिज्ञासा को जन्म दिया। युनानी दार्शनिक थेल्स, एनैग्ज़ीमेनीज़, पाइथागोरस, हेराक्लाइटस, पार्मेनाइडीज़, एनाग्ज़ागोरस आदि के जल, वायु, ऑपिरॉन, लोगोस आदि शब्द उसी सम्पूर्ण सत्ता के विभिन्न नाम हैं, जिसे इन दार्शनिकों ने अपने दर्शन का केन्द्र बनाया। इसी तरह, वैदिक और प्रस्थानत्रयी ऋषियों ने ज्ञाता-ज्ञेय के द्वैत से ऊपर उठकर सम्पूर्ण सत्ता का 'दर्शन' करना चाहा और उसे 'ब्रह्म' की संज्ञा दी।

परन्तु दोनों ही दर्शनों में जब तर्क साक्षात् अनुभूति पर हावी होने लगा तो सत्ता का विभाजन ज्ञाता-ज्ञेय में हो गया और इनमें किसी एक की सम्पूर्ण सत्ता मान लेने की भूल जड़ पकड़ती गयीं। ज्ञान एक विकासशील प्रक्रिया है जिसके प्रारम्भ में प्रत्यक्ष को प्राधान्य दिया जाता है और दार्शनिक ध्यान ज्ञेय पर केन्द्रित होता है। यथार्थवादी इन्हीं ज्ञेय पदार्थों को ही सम्पूर्ण सत्ता मान बैठते हैं। किन्तु जब प्रत्यक्ष की भ्रम, विभ्रम, स्वप्न आदि की अवस्थायें इसकी वैधता पर प्रश्न खड़ा कर देतीं हैं तो अनुमान, तर्क आदि की महत्ता को स्वीकारना पड़ता है। ऐसी अवस्था में ज्ञाता की उपेक्षा नहीं की जा सकती क्योंकि अनुमान आदि ज्ञाता के अस्तित्व की प्रागपेक्षा करते हैं। जब यथार्थवादी ज्ञेय की सर्वोच्च सत्ता मानते हुए ज्ञाता को भी गौण स्थान देकर

मान्य करते हैं तो उनका दर्शन नरम पड़ जाता है। जब यह प्रक्रिया उल्टी हो जाती है, अर्थात् ज्ञाता की सत्ता को प्राथमिकता देकर ज्ञेय की सत्ता को गौण कर दिया जाता है तो पाश्चात्य दर्शन में बर्कले और भारतीय परिप्रेक्ष्य में वैभाषिक प्रणालियों का जन्म होता है जिन्हें हम नरम विज्ञानवाद कह सकते है। अन्ततः ज्ञान-प्रक्रिया में एक ऐसी अवस्था आती है जब ज्ञेय की स्वतंत्र सत्ता को पूर्णतः नकार कर उसे ज्ञानात्मक या ज्ञाता की अवधारणा मान लिया जाता है तो पाश्चात्य दर्शन में हेगेल और भारतीय दर्शन में शंकर के पूर्ण विज्ञानवाद की संरचना होती है।

यह दार्शनिक प्रवृत्ति हमें समान रूप से भारतीय और पाश्चात्य दर्शनों में मिलती है। जिस तरह पाश्चात्य दर्शन में युनानी अणुवाद और लॉक के प्रारम्भिक दर्शन में कट्टर यर्थाथवाद का उद्भव हुआ, उसी तरह भारतीय दर्शन में उद्दालक, वृहस्पति, चार्वाक और प्रभाकर की मीमांसा ने कठोर यथार्थवाद को ग्रहण किया। पाश्चात्य दर्शन के अमेरिकी नव-यथार्थवाद, समीक्षात्मक यथार्थवाद, मूर और रसल के नरम यथार्थवादी तत्त्व हमें कपिल के सांख्य, न्याय-वैशेषिक, जैनमत और कुमारिल की पूर्व-मीमांसा में मिलते हैं। बर्कले के नरम विज्ञानवाद को दिङ्नाग के स्वतंत्र विज्ञानवाद में हम देख सकते हैं और हेगेल का पूर्ण विज्ञानवाद भारतीय दर्शन में नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु, और शंकराचार्य के अद्वैत दर्शनों में देखा जा सकता है।

कट्टर यथार्थवाद

कट्टर यथार्थवाद पूर्ण विज्ञानवाद का व्याघाती दर्शन है क्योंकि यह ज्ञेय पदार्थ को सम्पूर्ण सत्ता मानता है और ज्ञातात्मा की स्वतंत्र सत्ता को अस्वीकार करता है। जिस तरह विज्ञानवाद सर्वत्र आत्मा को पाता है, उसी तरह यथार्थवाद हर जगह जड़ात्मकता देखता है। ऐसे कट्टर यथार्थवाद का दर्शन हमें युनानी परमाणुवाद, जड़वाद, भौतिकवाद, प्रकृतिवाद, शक्तिवाद, सरल यथार्थवाद, उद्दालक, उशस्ति, वक, बुदिल, रैक्व, कौशीतकी, पैंग्य, वृहस्पति या चार्वाक और प्रभाकर की पूर्व मीमांसा में मिलता है।

भारतीय और पाश्चात्य जड़वाद जड़ पदार्थ को विश्व का परम घटक मानते हैं और कथन करते हैं कि भौतिक नियमों से सम्पूर्ण जगत की व्याख्या की जा सकती है। इसके अनुसार, आत्मा, चैतन्य, ज्ञाता, मनस् आदि की अवधारणाओं और तथ्यों का रूपान्तरण जड़-पदार्थ में हो सकता है जिसके अनुसार भौतिक विज्ञान के नियम प्रकृति के प्रत्येक पक्ष पर लागू होते हैं। प्रत्येक घटना का एक पूर्ववर्ती कारण होता है। हर घटना सुनिश्चित होती है। अतः इसका ज्ञान पहले से हो सकता है।

आधुनिक भौतिकवाद के अनुसार विश्व एक जड़ात्मक और असीमित सत्ता है जिसके हर घटक तत्त्व, जड़-पदार्थ, शक्ति, गति आदि सदैव रहे हैं और रहेंगे। सम्पूर्ण विश्व एक जड़ और ज्ञेय सत्ता है और इसके बाहर कुछ भी नहीं है। जड़ पदार्थों से ही आत्मा की संरचना होती है। जड़ जगत प्राथमिक है और तद्विषयक विचार गौण हैं।

प्रकृतिवाद जड़वाद से नरम यथार्थवादी दर्शन है क्योंकि इसमें जड़ जगत को सम्पूर्ण सत्ता मानते हुए अ-जड़ की सत्ता को भी स्वीकार किया जाता है किन्तु अ-जड़ सत्ता को जड़ पदार्थ का ही रूप माना जाता है। प्रकृतिवाद में प्रकृति सम्पूर्ण और सर्वोच्च सत्ता है जिसके भीतर जड़ और अ-जड़ दोनों तत्त्व होते हैं। अ-जड़ की सत्ता भी प्रकृति के नियमों से नियन्त्रित होती है और प्रकृति के बाहर कुछ भी नहीं है।

उद्भव

अनेक भारतीय और पाश्चात्य विद्वान जड़-प्रकृतिवादी यथार्थवाद का उद्भव वेदों और प्रारंभिक युनानी दर्शनों में प्राप्त करने का व्यर्थ प्रयास करते हैं। वैदिक दर्शन जड़वादी या प्रकृतिवादी नहीं है क्योंकि इसमें प्रकृति सम्पूर्ण सत्ता न होकर सत्ता की अभिव्यक्ति का मात्र एक माध्यम है। प्रकृति के विभिन्न पक्ष ऋत के रूप हैं और जैसा कि ग्रिसोल्ड ने कहा है कि वेदों में देव की कल्पना ऋत के किसी न किसी पक्ष के नियन्ता के रूप में की गयी है। इसीलिए अग्नि को ऋतस्य गोपा और उषा को ऋतावरी कहा गया है। इन्द्र, वरुण, प्रजापति आदि देवों की कल्पना इसी अर्थ में हुई है। पुरूष-सूक्त, प्रजापति-सूक्त, और नासदीय-सूक्त में ऋषियों ने ज्ञाता-ज्ञेय के द्वन्द्व से ऊपर उठकर उनकी आधारभूत सत्ता को समझने का श्लाध्य प्रयास किया है। इसी तरह, प्रारंभिक युनानी दर्शन में भी सत्ता का विभाजन ज्ञाता-ज्ञेय में न करके उसके समग्र रूप को ग्रहण करने का प्रयास किया गया है। इसके अतिरिक्त वेदों, उपनिषदों की तरह प्रारंभिक युनानी दर्शन में भी तर्क की अपेक्षा साक्षात् अनुभव को अधिक महत्व दिया गया है। अतः प्रारंभिक भारतीय और पाश्चात्य दर्शन शुद्ध सत्ताशास्त्र हैं।

भारतीय दर्शन में जड़वाद और प्रकृतिवाद की जड़ें उद्दालक (६४०-६१० ई. पू.) के मत में मिलती हैं और यह मत वेदों की सत्ताशात्रीय दृष्टि के विरोध में था। उसी तरह, पाश्चात्य दर्शन में जड़ प्रकृतिवादी यथार्थवाद की बुनियाद युनानी परमाणुवादी ल्युसिपस, डेमोक्रिटस और ल्युक्रेटियस के दर्शनों में है जो एनेग्ज़ीमेनीज़ और पारमेंनाइडीज़ के सत्ताशास्त्र के विरोध में खड़े हुए।

इन दोनों यथार्थवादी प्रणालियों में अनेक, अनादि, अविनाश्य, अपरिवर्तनीय

और अविभाज्य परमाणुओं की सत्ता माना गया। युनानी यथार्थवादियों ने कहा कि ये सभी परमाणु गुणात्मक दृष्टि से समान होते हैं और परिमाण में परस्पर भिन्न होते हैं। परमाणु स्वत: में पूर्ण होते हैं और संसार की संरचना व लय इन्हीं के संयोग व वियोग के कारण है। प्रकृति में या इसके बाहर कोई अभौतिक सत्ता नहीं होती। यही बातें हमें उद्दालक के दर्शन में मिलती हैं। उद्दालक भी ग्रीक परमाणुवादियों की तरह इह-लोकवादी थे। उनके अनुसार भौतिक पदार्थ एवं सम्पूर्ण विश्व अग्नि, जल, पृथ्वी और रंग से बने हैं जो जड़ात्मक हैं। यह उसी तरह है जैसे जड़ पदार्थों के माध्यम से राग बनते हैं। युनानी प्रकृतिवादी ल्युक्रेटियस के भी यही विचार थे। उद्दालक और ल्युक्रेटियस के यथार्थवाद की प्रमुख बातें ये हैं : (१) सम्पूर्ण जगत प्राकृतिक है। (२) प्रकृति और उसके तत्त्व जड़ हैं। (३) सत्ता अणु स्वरूप हैं (४) दोनों ने सत्ता की अभिव्यक्ति के लिए अनुभूति की जगह तर्क और रहस्यवादी भाषा की जगह सामान्य जन-जीवन की भाषा को अपनाने की सलाह दी। आधुनिक प्रकृतिवाद के कारणता सिद्धान्त को हम उद्दालक के इस कथन में पाते हैं कि सत् कभी असत् से नहीं प्राप्त हो सकता।

युनानी परमाणुवादियों की तरह उद्दालक के दर्शन में भी अनुमान एवं शब्दादि प्रमाणों को अमान्य मानकर प्रत्यक्ष को ही वैध प्रमाण माना गया। उद्दालक ने श्रुति प्रमाण की भर्त्सना सशक्त शब्दों में की है। ल्युक्रेटियस की तरह उद्दालक ने कहा कि प्रकृति के नियमों के अनुरूप रहकर हम सुख की प्राप्ति कर सकते हैं। सारे दु:खों का कारण प्रकृत्येतर शक्तियों में विश्वास कर भाग्यवादी बन जाना है।

विसंगतियाँ

इन दोनों दर्शनों में जिस जड़ पदार्थ को सम्पूर्ण सत्ता माना जाता है वह वस्तुत: सत्ता न होकर उसका निम्नतम विकास है। इसका निर्देश हमें प्रारंभिक युनानी दर्शन और उपनिषदों में मिलता है। उपनिषदों का पंचकोष का सिद्धांत इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द एक ही सत्ता के उत्तरोत्तर प्रस्फुटन हैं। किन्तु भारतीय और पाश्चात्य कट्टर यथार्थवादी, विरोचन की तरह सत्ता के प्रथम सोपान,अन्नमय कोष को ही समस्त सत्ता मान लेने की भूल कर बैठते हैं। इसी कारण प्रकृतिवादी यथार्थवाद में अनेक विसंगतियाँ पैदा हो जाती हैं।

जड़ तत्त्वों से हम जगत की सृष्टि मान भी लें तो समस्या है कि इन जड़ पदार्थों में प्रारम्भिक गति कहाँ से आयी ? ल्युसिपस और डिमोक्रिटस के अनुसार यह गति

सबसे बड़ी और भारी अणु के आपात् से आई जिससे अन्य स्थिर अणुओं में हलचल पैदा हुई और उनके परस्पर संयोग से संसार की संरचना हो गयी। किन्तु वे यह नहीं बता सके कि सबसे भारी परमाणु में गति कहाँ से आयी। इस समस्या का समाधान तब तक नहीं मिल सकता जब तक कि हम यह न मान लें कि शक्ति या गति हर जड़ पदार्थ में सदैव वर्तमान रहती है। किन्तु यदि ऐसा माना जाये तो जड़वाद और प्रकृतिवाद अपना स्वरूप खो बैठते हैं। शास्त्रीय भौतिक (*क्लासिकल फिजिक्स*) ने भी भौतिक पदार्थों में प्रच्छन्न शक्ति की अवधारणा देकर जड़वाद को जड़ से ही हिला दिया है।

लोकायत प्रकृतिवाद

परमाणुगत शक्ति के अस्तित्व की एक क्षीण अवधारणा हमें वृहस्पति या चार्वाक के यथार्थवाद में मिलती है। तो भी इसे जड़ का ही एक रूप माना जाता है। चार्वाक दर्शन लौकिक जगत को सम्पूर्ण सत्ता मानने या लोक में अत्यन्त प्रचलित होने के कारण लोकायतशास्त्र कहलाया। इसकी प्रमुख बातें हैं : श्रुतियाँ असत्य हैं, देव या कोई भी अभौतिक सत्ता नहीं है, मृत्यु के बाद कुछ नहीं बचता, कर्म की कल्पना बकवास है, प्रत्येक पदार्थ जड़ महाभूतों से निर्मित होता है, प्रत्यक्ष ही वैध प्रमाण है, धार्मिक शिक्षायें व्यर्थ हैं, और जीवन का उद्देश्य केवल सुख-प्राप्ति है।

यही बातें हमें युनानी परमाणुवाद में भी मिलती हैं। इन दोनों दर्शनों में परमाणुवाद, जड़वाद परिवर्तनवाद एवं अणुओं की अनश्वरता को ग्रहण किया गया है। इनकी ज्ञानमीमांसा, नीतिमीमांसा और सत्तामीमांसा एक समान हैं। परवर्ती दर्शनों और समाज में दोनों की समान रूप से भर्त्सना हुई है। प्लेटो, डेमोक्रिटस की हर कृति को खरीद कर जला देना चाहता था। और, चार्वाक को पंचमकार कह कर भारतीय दर्शन ने समाज से ही बहिष्कृत कर दिया।

यथार्थवादी ज्ञानमीमांसा प्रत्यक्षाश्रित होती है और प्रत्यक्ष जनित ज्ञानमीमांसा पर इनका सत्ताशास्त्र खड़ा होता है। चार्वाक ने कहा है कि जो कुछ प्रत्यक्ष का विषय है, वही सत् है। जिसका प्रत्यक्ष नहीं होता, वह असत् है। पाश्चात्य यथार्थवादी लॉक की तरह ही चार्वाक मानते हैं कि प्रत्यक्ष वाह्य और आभ्यन्तर होता है। ल्युक्रेटियस ने भी ऐसी ज्ञानमीमांसा को सम्पुष्ट करते हुए कहा था कि आप पायेंगे कि सत्य की अवधारणा की प्राप्ति पहले इन्द्रियों से होती है और इन्द्रिय-साक्ष्य को अस्वीकारा नहीं जा सकता। समकालीन यथार्थवादी हॉल्ट, मारविन, पेरी, सी.एस. पर्स के दर्शनों में भी प्रत्यक्ष को प्राधान्य दिया जाता है। सी.एस. पर्स ने कहा है कि मैं ऐसी किसी बात

में विश्वास नहीं करता जिसका प्रत्यक्ष नहीं होता। चार्वाक और ह्यूम का यह विचार कि प्रत्यक्ष जनित ज्ञान सशक्त और अनुमानाश्रित या अवधारणात्मक ज्ञान धूमिल होता है, हमें लैम्पसकस (२८८-२६९ ई.पू.) के दर्शन में मिलता है जहाँ लॉक की तरह बुद्धिवाद का खण्डन किया गया है।

जिस तरह ह्यूम ने अनुमानिक वैधता को सन्दिग्ध सिद्ध किया उसी तरह चार्वाक ने भी कहा कि अनुमान ज्ञान से अज्ञान के अन्धकार में कूदना है। व्याप्ति अनुमान की रीढ़ है और इसका प्रत्यक्ष नहीं होता। निगमन से चक्रक दोष होता है क्योंकि इसका निष्कर्ष इसके आधार वाक्य में पहले से निहित होता है। आनुमानिक वैधता केवल मनोवैज्ञानिक है क्योंकि यह ज्ञेय के साहचर्य के विश्वास पर अवलम्बित होती है। ह्यूम और चार्वाक के दर्शनों में एक समान यह कहा गया है कि अनुमान में तार्किक निश्चयता का अभाव होता है। मिल की अन्वय-व्यतिरेक विधियों को चार्वाक मत में देखा जा सकता है। कारणता सिद्धान्त, दोनों के अनुसार, न तो प्रत्यक्ष और न ही अनुमान से समर्थित हो सकता है।

किन्तु, जिस तरह पाश्चात्य यथार्थवाद में शनैः शनैः अनुमान की महत्ता को माना गया, उसी तरह भारतीय यथार्थवाद में भी अनुमान की उपेक्षा नहीं करने की अनुभूति हुई। उदाहरण के लिए, जॉन लॉक के यथार्थवाद को लिया जा सकता है। वे पहले नव यथार्थवादी थे क्योंकि उन्होंने यह कहा कि ज्ञेय का साक्षात् ज्ञान होता है। किन्तु जब वे गुणों की व्याख्या करने लगे तो यह महसूस किया कि वाह्य पदार्थ ज्ञान में नहीं आता। उसे हम अनुभव से ही जान सकते हैं। इस तरह लॉक का यथार्थवाद नरम पड़ गया और प्रतिनिध्यात्मक यथार्थवाद (*रिप्रेजेन्टेटिव रियलिज्म*) कहलाया। इसी तरह, चार्वाक के दृढ़वादी यथार्थवाद में पुरन्दर के समय नरमी आयी क्योंकि उन्होंने प्रत्यक्ष के साथ अनुमान के महत्व को भी माना। फिर भी, पुरन्दर ने कहा कि ईश्वर, आत्मा, कर्म आदि क्षेत्रों में जहाँ प्रत्यक्ष नहीं होता, अनुमान अवैध होता है। इस तरह अनुमान को प्रत्यक्ष के अधीन कर पुरन्दर हठवादी ही बने रहते हैं। अनुमान की स्वतंत्रता मानने से ज्ञाता की स्वतंत्रता माननी पड़ती है और यह बात किसी भी कट्टर यथार्थवादी को स्वीकार्य नहीं हो सकती ।

इस तरह हम देखते हैं कि ज्ञानमीमांसा में चार्वाक लॉक के समकक्ष हैं, सत्तामीमांसा में युनानी परमाणुवाद के करीब हैं और तर्कशास्त्र में पूर्णतः ह्यूमवादी हैं। चार्वाक और ह्यूम दोनों ने बलपूर्वक कहा कि आनुमानिक ज्ञान केवल प्रायिक होता है और इसका सत्यापन प्रत्यक्ष द्वारा होना चाहिए। यही बातें हमें एथेन्स निवासी

कार्नियाडिस (२१६-१२९ ई.पू.) के दर्शन में भी मिलती हैं। लेकिन जबकि चार्वाक प्रत्यक्ष को असंदिग्ध मानते थे, कार्नियाडिस इसके प्रति भी शंकावादी थे। क्योंकि उनके अनुसार, 'प्रत्यक्ष में स्वत: का ऐसा कोई गुण नहीं होता जिससे हम यह जान सकें कि कौन सा प्रत्यक्ष सत्य या असत्य है'। कार्नियाडिस प्रत्यक्ष को निर्णायक नहीं मानते थे। चार्वाक और कार्नियाडिस दोनों ही सामान्यीकरण, साम्यानुमान, सामान्य अवधारणाओं आदि को अविश्वसनीय मानते थे। किन्तु दोनों की इस मान्यता के कारण भिन्न थे। कार्निडियास इनको इस आधार पर अवैध मानते थे कि इनका आधार प्रत्यक्ष अविश्वसनीय होता है। इसके विपरीत चार्वाक का कथन है कि ये प्रक्रियाएँ इसलिए अवैध हैं कि हम सभी ऐसे प्रत्यक्षों को प्राप्त नहीं कर सकते जो उसके आधार बनें और जो विश्वसनीय हों। किन्तु तर्केतर व्यावहारिक क्षेत्र में दोनों ही ह्यूम और विटगेन्स्टाइन की तरह प्रायिक ज्ञान की महत्त को मान्य करते थे। चार्वाक आप्त या शब्द-प्रमाण को अवैध मानते थे। उनके अनुसार श्रुतियों का यह मत कि यज्ञ आदि से अच्छे फल मिलते हैं, अनुभव के विपरीत है और उसी तरह असत्य है, जैसे यह पुरानी किवदन्ती कि पत्थर पानी में तैर सकते हैं। उनकी घोषणा है कि वेद-वाक्य तार्किक दृष्टि से आत्म-विरोधी, ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से अनुभव के विरूद्ध, और नैतिक दृष्टि से समाज विरोधी हैं।

वृहस्पति या चार्वाक के अतिरिक्त अजितकेशकम्बलिन, मक्खलिगोशाल, कात्यायन, संजय, बेलत्तिपुत्तल, पूर्णकाश्यप ने जिस कट्टर यथार्थवाद को ग्रहण और संवर्धित किया था वैसा ही यथार्थवाद ल्युसिपस, डेमोक्रिटस, ल्युक्रेटिस, लॉक के अतिरिक्त पाश्चात्य दर्शन में पियरे गैसेण्डी, पेरी, लवज्वाय ने कुछ फेर-बदल के साथ विकसित किया है। किन्तु दोनों ही परिप्रेक्ष्य में यथार्थवाद ने यह महसूस किया कि ज्ञाता की उपेक्षा न तो ज्ञानमीमांसा में और न सत्तामीमांसा में की जा सकती है। इसलिए दोनों दर्शनों में परवर्ती यथार्थवाद, जड़वादी और प्रकृतिवादी प्रवृत्ति को छोड़कर नरम होता गया। भारतीय दर्शन में इस प्रवृत्ति को न्याय-वैशेषिक, जैनदर्शन, सांख्य-योग, कुमारिल की मीमांसा और द्वैत वेदान्त में हम प्रचुर मात्रा में देख सकते हैं। उसी तरह, पाश्चात्य दर्शन के क्षेत्र में यथार्थवाद युनानी परमाणुवाद से हटकर लॉक, हाब्स, स्पेन्सर, हक्सले, नीत्शे, के दर्शनों से गुजरता हुआ, अमेरिकी अर्थक्रियावाद (*प्रैगमैटिज्म*), नव और समीक्षात्मक यथार्थवाद तथा, मूर, रसल और सैमुएल अलेक्जेंडर के यथार्थवाद में परिणत हुआ। समकालीन भारतीय दर्शन में मानवेन्द्र नाथ रॉय, देवात्मा, डी.पी. चट्टोपाध्याय, कनल आदि यथार्थवाद को जीवित करना चाहते हैं। तो

पाश्चात्य दर्शन में तार्किक भाववादी, मार्क्सवादी, स्पाल्डिंग, प्रैट, फार्वर, पर्स, विटगेन्स्टाइन, रसल आदि यही काम करते हैं।

समीक्षा

दोनों ही परिप्रेक्ष्यों के परीक्षण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह सिद्धान्त न तो सत्ताशास्त्रीय और न ही ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से तर्क सम्मत है। इसका मुख्य कारण इसमें ज्ञाता की उपेक्षा है। ज्ञाता ज्ञान, सत्ता और नीति का एक अपरिहार्य पक्ष है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। ज्ञेय ज्ञान में ज्ञाता की पूवपिक्षा करता है। इसके साथ ही दोनों केवल तार्किक अवधारणाएँ हैं और यदि इन्हें सत्तात्मकता प्रदान की जाये तो भी दोनों को ही सत्ताशास्त्र में उचित स्थान मिलना चाहिए और कट्टर यथार्थवाद यही न करने की हठवादिता करता है।

आधुनिक प्रकृतिवादी दार्शनिक अपनी ज्ञाता विषयक उपेक्षा को विज्ञान-समर्थित होने का दावा करते हैं। यह सही है कि वैज्ञानिक पद्धति में व्यक्तिगत स्वेच्छाचारिता को स्थान नहीं मिलना चाहिए किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि विज्ञान वैज्ञानिक की अनुपस्थिति में संवर्धित हो सकता है। वैज्ञानिक अनुसंधान ज्ञातात्मा की प्रागपेक्षा करते हैं। साथ ही यह दावा कि विज्ञान कट्टर यथार्थवाद, जड़वाद का समर्थक है, गलत है। विज्ञान न तो अलग-अलग और न ही सामूहिक रूप से सम्पूर्ण विश्व या सत्ता को अपना विषय बनाने का दावा करता है। इसके अतिरिक्त, समकालीन विज्ञान यथार्थवाद की अनेक मान्यताओं को अवैद्ध सिद्ध कर चुका है। उदाहरणार्थ, चार्वाक, वैशेषिक और पाश्चात्य प्रकृतिवादी जिन परमाणुओं को अविभाज्य और अविनाशी इकाई मानते थे उन्हें विज्ञान ने विभाज्य, विनाशी, संगठनात्मक और जटिल सिद्ध किया है। इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन और रेडियो-धर्मिता की गवेषणा से उन परमाणुओं में अनिश्चितता, गतिशीलता और परिवर्तनशीलता देखी गयी है जिन्हें जड़ यथार्थवादी सतत् स्थिर, निश्चित और अपरिवर्तनशील मानते थे।

यथार्थवादी विचारधारा में भी परिवर्तन आया और उसकी कट्टरता कायम न रह सकी। उसके नरम रुख में जड़ता के साथ शक्ति का अस्तित्व स्वीकारा गया जैसा हम देवात्मा और हाब्स आदि समकालीन दार्शनिकों में पाते हैं। किन्तु इन्हें परस्पर अलग और स्वतंत्र माना गया जबकि वस्तुतः ज्ञानात्मक और सत्तात्मक दृष्टि से ये परस्पर संबद्ध रहते हैं और एक दूसरे की अपेक्षा करते हैं। आज विज्ञान ने भी यही सिद्ध किया है कि जड़ और शक्ति एक दूसरे में रूपान्तरित हो सकते हैं। प्रकृतिवाद के उत्तरोत्तर विकास की अवधारणा को प्लैंक के *क्वांटा* और कॉम्पटन-परिणाम ने

असिद्ध कर दिया है और दर्शाया है कि गति सतत् नहीं होती। इलेक्ट्रान सीधे एक कक्षा से दूसरी कक्षा में कूद सकते हैं। ऊर्जा बिन्दुओं या लहर के रूप में प्रवाहित होती है। प्रकृतिवाद की काल और आकाश के परस्पर स्वतन्त्र होने की अवधारणा को असिद्ध करते हुए मिंकोवस्की ने दिखाया कि ये परस्पर सम्बद्ध तो हैं ही, साथ ही ज्ञाता की अपेक्षा भी करते हैं। सापेक्षता सिद्धान्त भी इसी बात का निर्देश करता है।

वस्तुतः प्रत्येक पदार्थ का प्रत्यक्ष और उसका मूल्य ज्ञाताश्रित होता है। विज्ञान ने सिद्ध किया है कि परमाणु निर्गुण होते हैं। यदि ऐसा है तो उनसे निर्मित पदार्थों के गुण द्रष्टा और उसकी स्थिति पर निर्भर करते हैं। डार्विन का विकासवाद जब लॉइडमार्गन तक पहुँचा तो पाया गया कि हर अगले विकास क्रम में कुछ नवीन गुण होते हैं किन्तु कारणता सिद्धान्त के अनुसार इन गुणों का अस्तित्व प्रद्न्नरूपेण पिछले क्रम में अवश्य होना चाहिए। अतः मन आदि जड़ पदार्थों में अविकसित रूप से वर्तमान होते हैं। मनोविज्ञान की अनेक मान्यताओं को हर्मिक और गेस्टाल्ड मनोवैज्ञानिक असिद्ध कर दिए।

इस तरह हम देखते हैं कि ज्ञाता को ज्ञेय की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। वस्तुतः परवर्ती भारतीय और पाश्चात्य यथार्थवादी दर्शन इस बात को मान्यता देने लगे और नरम पड़ गये। इसे हम कुमारिल की पूर्वमीमांसा और लॉक के उत्तरवर्ती दर्शन में देखते हैं। लेकिन इन दोनों को ज्ञेय को प्राधान्य देने का लोभ संवरण न हो सका और ये विसंगतियों में उलझ गये। लॉक ने कहा कि मनस् प्रारम्भ में रिक्त होता है और उसका सभी ज्ञान वाह्य जगत से आता है, जिसका वह निर्माण नहीं करता। किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, गुणों का निरूपण करते समय लॉक को अनुमान की महत्ता को स्वीकारना पड़ा और उन्हें सरल यथार्थवाद को छोड़कर प्रतिनिध्यात्मक यथार्थवाद को ग्रहण करना पड़ा ।

इसी ढंग का ढुल-मुल यथार्थवाद हमें जैमिनी की पूर्व-मीमांसा और उस पर शबर की टीका में मिलता है। वैदिक ऋषियों ने ऋचाओं, मंत्रों, यज्ञों के माध्यम से प्रकृति के ऊपर उठकर सम्पूर्ण सत्ता, ब्रह्म की अव्यवहितानुभूति करनी चाही थी। उसके विपरीत मीमांसा में अनुभूति की जगह तर्क और देव की जगह हविस ने ले लिया। मीमांसा के देव उपास्य न होकर उपासना के साधन मात्र हो गये। इस तरह, मीमांसा ने देवों को उनके स्थान से च्युतकर प्रकृतिवाद को ग्रहण किया। और वैदिक तत्त्वमीमांसा से हटकर यह दर्शन प्रत्यक्षवादी, अनेकतावादी, और इह - लौकिक हो गया। किन्तु प्रभाकर और कुमारिल की मीमांसा में ज्ञाता को उचित स्थान देने की

उत्तरोत्तर आवश्यकता सामने आयी। प्रभाकर की ज्ञानमीमांसा में अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति और त्रिपुटि प्रत्यक्ष की अवधारणाओं में ज्ञाता या आत्मत्व की स्पष्ट माँग हैं। तो भी इनका हठवादी यथार्थवाद मोह नहीं छूटता और ये ज्ञाता को ज्ञानात्मक रूप से अकर्मण्य बना देते हैं क्योंकि चैतन्य को ये आत्मा का आगन्तुक गुण ही मानते हैं। लेकिन यह स्पष्ट है कि प्रभाकर और पार्थसार्थी मिश्र की आत्मा की कर्ता, भोक्ता, सर्वज्ञता और मोक्ष की अवधारणाएँ आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व की अपेक्षा करती हैं।

उसी तरह समकालीन अमेरिकी नव यथार्थवाद ने ज्ञेय के अव्यवहित ज्ञान पर बल देकर कठोर रुख अपनाया जिसके समर्थक हॉल्ब, मार्विन फार्वर, पेरी, पिटकन आदि हैं। लेकिन ये वैध सत्ताशास्त्र की संरचना में उसी तरह असफल हुए, जैसे भारतीय दार्शनिक। जिसके फलस्वरूप हठी यथार्थवाद का जन्म हुआ जिसके प्रवर्तक लवज्वाय, प्रैट, स्ट्रांग, ड्रेक, रोजर्स ओर सेलर्स हैं। इनके अनुसार ज्ञान सदैव व्यवहित होता है और हर ज्ञान में ज्ञेय के अतिरिक्त ज्ञाता की आवश्यकता होती है। ज्ञेय वस्तु ज्ञान के बाहर नहीं होती बल्कि ज्ञातता की अवस्था में वह केवल एक *करेक्टर काम्प्लेक्स* या तार्किक तत्त्व है। यही दार्शनिक प्रवृत्ति मूर, रसल और विटगेन्स्टाइन के यथार्थवाद में मिलती है जहाँ ज्ञेय की सत्ता के साथ ही ज्ञाता की सत्ता भी स्वीकारी जाती है और मान्य किया जाता है कि समग्र सत्ता का अव्यवहित ज्ञान कभी नहीं होता।

भारतीय और पाश्चात्य नरम यथार्थवाद कट्टर यथार्थवाद की विसंगतियों को दूर करके ज्ञाता के अस्तित्व और महत्व को स्वीकार तो करता है किन्तु स्वयं भी वैध सत्ता शास्त्र की संरचना में सक्षम नहीं हो पाता। कठोर ओर नरम यथार्थवाद एक समान ज्ञेय वस्तु को सम्पूर्ण सत्ता मानने की भूल करते हैं। उनमें अन्तर सिर्फ ज्ञाता को ज्ञान और सत्ता में क्यां स्थान दिया जाये, इस बात में है। अपने दोनों रूपों में यथार्थवाद अवैध ज्ञानमीमांसा पर खड़ा एक सदोष सत्ताशास्त्र एवं दिखावा मात्र है। इसका अर्थ यह नहीं कि विज्ञानवाद एक वैध सत्ताशास्त्र प्रस्तुत करता है। वस्तुतः हर प्रकार के यथार्थवाद और विज्ञानवाद को निरस्त कर हमें ऐसे सत्ताशास्त्र की संरचना करनी है जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय को सत्ता में उचित अवधारणात्मक स्थान मिले और ऐसे सत्ताशास्त्र की पृष्ठभूमि का संकेत हमें प्रस्थानत्रयी और प्रारंभिक युनानी दर्शन में मिल सकता है।

खण्ड : तीन

भारतीय दार्शनिक प्रणालियों का तुलनात्मक अध्ययन

उदयनाचार्य की ईश्वर सिद्धि-प्रक्रिया

रघुनाथ गिरि

प्रणवानन्द तुलनात्मक दर्शन व्याख्यान-माला के अन्तर्गत उक्त विषय को निबंध हेतु चयन करने की प्रासंगिकता का निर्देश कर देना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है। उक्त निबंध का उद्देश्य न तो ईश्वरवादियों के समान ईश्वर की स्थापना एवं ईश्वर साधक तर्कों का समर्थन है, न अनीश्वरवादियों के समान ईश्वर का खण्डन करना है और न तार्किक भाववादी एवं विश्लेषणवादी दार्शनिकों के समान ईश्वर के संबंध में स्वीकारात्मक एवं निषेधात्मक वाक्यों की निरर्थकता का विश्लेषण करना है। उक्त निबंध का उद्देश्य ईश्वर सिद्धि-प्रक्रिया में निहित उन दार्शनिक समस्याओं का उद्भावन करना है जिन पर तुलनात्मक दर्शन की दृष्टि से विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। उदयनाचार्य की ईश्वर सिद्धि प्रक्रिया में ऐसे अनेक प्रश्न हैं जिन पर तुलनात्मक दर्शन की दृष्टि से विचार करना अपेक्षित है किन्तु प्रस्तुत निबंध की परिधि को देखते हुए उन सभी समस्याओं और प्रश्नों पर विस्तार एवं गंभीरता से विचार करना यहाँ संभव नहीं लगता इसलिये यहाँ उन समस्याओं और प्रश्नों को उद्भाषित कर उन्हें विचार के लिये मात्र प्रस्तुत किया गया है।

उदयनाचार्य ईश्वर सिद्धि के लिए प्रस्तुत अपनी *न्याय कुसुमांजलि* की प्रस्तावना में यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर की उपासना मोक्ष या अपवर्ग के लिये एक आवश्यक साधन है ।

स्वर्गापवर्गयोर्मार्गमामनन्ति मनीषिणः ।
यदुपास्तिमसावत्र परमात्मा निरुप्यते । न्या.कु. १.२

उनकी यह मान्यता प्राचीन न्याय की परम्परा के अनुरुप नहीं है क्योंकि गौतम ने अपने प्रथम न्याय सूत्र[१] में पदार्थों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति का स्पष्ट समर्थन किया है तथा द्वितीय सूत्र[२] में दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष, मिथ्या तथा ज्ञान के उत्तरोत्तर विनाश को अपवर्ग का मार्ग बतलाया है। ईश्वर की उपासना को आवश्यक प्रदर्शित किया है और संकेत किया है कि न्याय परम्परा का उदय वैदिक परम्परा के संरक्षणार्थ हुआ है । गौतम ने इस बात को भी स्वीकार किया है कि वैदिक सिद्धांतों के रक्षणार्थ ही न्याय दर्शन में जल्प-वितण्डा आदि तार्किक प्रक्रियाओं का उद्भावन किया गया है । जिस प्रकार किसी पौधे के संरक्षण के लिये पेड़ और काँटों का घेरा बनाया जाता है उसी प्रकार वेद प्रतिपादित तत्त्वज्ञान के अंकुर के संरक्षणार्थ तार्किक प्रक्रियाओं को घेरा बनाया गया है।[३]

उक्त प्रस्तावना में उदयनाचार्य ने यह भी स्थापित करने का प्रयास किया है कि ईश्वर जाति, गोत्र, कुल-धर्म आदि के समान सर्व अनुभव सिद्ध है, क्योंकि उपनिषद् परम्परा के लोग ईश्वर को शुद्ध-बुद्धि स्वभाव वाला मानते हैं। कपिल दर्शन के अनुयायी उसे सिद्ध एवं आदि विद्वान् स्वीकार करते हैं। पातंजलि दर्शन के पोषक उसे क्लेश, कर्म, विपाक एवं आशय के संबंध से रहित, सम्प्रदाय संचालक एवं अनुग्राहक के रूप में स्वीकार करते हैं। महापाशुपत दार्शनिक लोक-वेद से विरुद्ध, निर्लेप एवं स्वतन्त्र रूप में उसे मानते हैं। शैव उसे शिव के रूप में, वैष्णव पुरुषोत्तम के रूप में, पौराणिक पितामह के रूप में, याज्ञिक यज्ञपुरुष के रूप में, बौद्ध सर्वज्ञ बुद्ध के रूप में, जैन निरावरण के रूप में तथा मीमांसक वेद वाक्यों द्वारा उपास्य रूप में निर्देशित देवता के रूप में, चार्वाक लोक व्यवहार दक्ष के रूप में तथा नैयायिक उसे युक्तियों से उत्पन्न रूप में स्वीकार करते हैं। यहाँ तक कि सामान्य कारीगर भी उसे विश्वकर्मा के रूप में मानते हैं। इस प्रकार समस्त लोगों के अनुभव एवं मान्यता से स्वीकृत ईश्वर के विषय में सन्देह का कोई स्थान नहीं है[४] और सन्देह न रहने के कारण तर्क-प्रक्रिया प्रारम्भ करने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि न्याय की यह मान्यता है कि तर्क-प्रवृत्ति अज्ञात एवं निर्णीत विषय में नहीं होती है अपितु केवल संशय से युक्त विषय में होती है।[५] जब ईश्वर के विषय में कोई सन्देह ही नहीं है तब उसकी सिद्धि के लिए न्याय का प्रयोग भी आवश्यक नहीं है। फिर भी, न्याय का प्रयोग यहाँ ईश्वर की उपासना के रूप में उपस्थित किया गया है क्योंकि श्रुतियों में यह निर्देश है कि श्रवण के बाद मनन् आवश्यक होता है । ईश्वर के संबंध में श्रवण अंग की पूर्ति श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि से हो जाती है और मनन् का कार्य न्याय प्रयोग द्वारा किया जाता है।[६]

इस सन्दर्भ में विचारणीय समस्या यह है कि क्या किसी न किसी रूप में किसी तत्त्व को पर-तत्त्व स्वीकार कर लेना या उपास्य मान लेना ईश्वर की स्वीकृति है। यदि इतना ही मान लेने से ईश्वर की स्वीकृति मान ली जाए तो कम से कम भारतीय दर्शन में कोई भी दार्शनिक सम्प्रदाय अनीश्वरवादी नहीं रहेगा जबकि स्पष्ट रूप से यह मान्यता है कि चार्वाक, जैन, बौद्ध, सांख्य एवं मीमांसा अनीश्वरवादी दार्शनिक सम्प्रदाय हैं।

उदयनाचार्य ने ईश्वर सिद्धि-प्रक्रिया में ईश्वर स्थापना के विरुद्ध पाँच मान्यताओं को उपस्थित किया है और उनमें से एक-एक मान्यता का परीक्षण एवं खण्डन *न्याय कुसुमांजलि* के एक-एक स्तवक में किया है। ये पाँच विप्रतिपत्तियाँ या विरुद्ध मान्यतायें निम्न हैं : १. परलोक का कोई अलौकिक या अदृष्ट साधन नहीं है।

२. ईश्वर को माने बिना भी परलोक के साधनों का अनुष्ठान संभव है। ३. ईश्वर के अभाव को सिद्ध करने वाले प्रमाण का अस्तित्व है। ४. ईश्वर हो भी तो वह प्रामाणिक नहीं है। ५. ईश्वर को सिद्ध करने वाले प्रमाणों का अभाव है।[८]

इनमें प्रथम विप्रतिपत्ति न्याय दर्शन द्वारा मान्य ईश्वर की अवधारणा के साथ-साथ उसके सम्पूर्ण नैतिक आधार का विरोध करती है क्योंकि न्याय दर्शन की सम्पूर्ण नैतिक व्यवस्था अदृष्ट पर आधारित है और अदृष्ट के व्यवस्थापक के रूप में ईश्वर स्वीकृत है। न्याय दर्शन की मान्यता के अनुसार जीवात्मा में बुद्धि, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म एवं अधर्म ये छः विशेष गुण हैं। इनमें प्रथम चार गुणों को दृष्ट एवं धर्म तथा अधर्म को अदृष्ट या अलौकिक कहा जाता है । इनके आधार पर ही आत्मा के विभुत्व की सिद्धि की जाती है और सुख-दुःख आदि भोगों एवं जन्म-मृत्यु के चक्र की व्याख्या प्रस्तुत की जाती है। चूँकि अदृष्ट अचेतन है, अतः भोग, जो प्रति व्यक्ति भिन्न है, की व्यवस्था नियमन एवं नियन्त्रण में सक्षम नहीं है। इसलिए अदृष्ट के अनुसार, भोग की व्यवस्था करने के लिए सचेतन, समर्थशाली और सर्वज्ञ ईश्वर की मान्यता स्वीकार की जाती है। प्रथम विप्रतिपत्ति, जो यहं स्थापित करती है कि परलोक का साधन कोई अदृष्ट नहीं है, के स्वीकृत होते ही न्याय दर्शन की समस्त नैतिक व्यवस्था का आधार ध्वस्त हो जाता है। इसलिए उदयनाचार्य ने इस विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए *न्याय कुसुमांजलि* के प्रथम स्तवक में अनेक दार्शनिक मतवादों को उपस्थित कर उनका खण्डन किया है। उनमें से कुछ मतों एवं उनके खण्डन की प्रक्रिया का यहाँ एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है।

इस विप्रतिपत्ति में दो प्रमुख मतवाद हैं; अपरलोकवाद एवं अकारणवाद या स्वभाववाद, जिन्हें चार्वाक द्वारा उपस्थित किया जाता है। अपरलोकवाद में इस जीवन को ही प्रथम एवं अन्तिम जीवन स्वीकार कर लिया जाता है, अतः न इसके बाद किसी जन्म या किसी लोक के अस्तित्व का अवसर रह जाता है और न उसकी स्थापना के लिए किसी अदृष्ट या धर्म-अधर्म का। अकारणवाद या स्वभाववाद में कार्य-कारण नियम की मान्यता, कार्य-कारण सम्बन्ध की नित्यता एवं अनिवार्यता को अस्वीकार करते हुए यह स्थापित करने का प्रयास किया जाता है कि समस्त घटनायें अपने स्वभाव से उत्पन्न होती हैं, उनके पीछे किसी कारण की श्रृंखला की खोज एक निरर्थक प्रयास मात्र है क्योंकि कार्य-कारण एक कल्पित मान्यता पर आधारित है जिसे अनुभव के आधार पर सिद्ध करना संभव नहीं है।

ये दोनों मान्यतायें न केवल न्याय दर्शन के सिद्धान्तों के आधार को ध्वस्त करती हैं अपितु परलोक, पुनर्जन्म एवं पुण्य-पाप तथा कार्य-कारण सम्बन्ध के

आधार पर प्रतिष्ठित समस्त दर्शनों को आधारहीन बना देती हैं। अतः उदयनाचार्य इन दोनों मान्यताओं के खण्डन के लिए अपनी तार्किक कुशलता का उपयोग करते हैं। परलोक की स्थापना के हेतु उदयनाचार्य परलोक के लिए यज्ञ, याग, सत्कर्म, पुण्य कार्य, तप, स्वाध्याय, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि कर्मों में संलग्न लोगों को उदाहरणार्थ प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि इन लोगों की प्रवृत्ति को निष्फल, निरर्थक अथवा केवल दुःखात्मक फल देने वाला मान लेना उचित न होगा क्योंकि प्रवृति मात्र के प्रति इष्ट साधनता का बुद्धि कारण होती है, अर्थात् जब कर्ता यह समझ लेता है कि इस कार्य से मेरी इस इच्छा की पूर्ति होगी तभी वह उस कर्म को करने के लिए अग्रसर होता है। यदि यह माना जाय कि यज्ञ, तप आदि पुण्य कर्म सम्मान, यश, धन, प्रतिष्ठा आदि के लिए किए जाते हैं तो भी यह मानना उचित नहीं है क्योंकि इन दृष्टफलों को न चाहने वाले लोगों को भी ऐसे पुण्य कर्मों में लगा हुआ देखा जाता है। यदि यह कहा जाए कि दूसरों को ठगने के लिए या धोखा देने के लिए ये कर्म किए जाते हैं तो भी यह कथन असंगत लगता है क्योंकि कौन ऐसा लोकात्तर व्यक्ति होगा जो इन कर्मों के लिए नाना प्रकार के कष्ट सहकर इनका स्वयं अनुष्ठान किया होगा और लोगों को इस निरर्थक काम के लिए प्रेरित किया होगा और उसके धोखे में आकर लोग इस कर्मों को करते जा रहे हैं।

अतः इन शुभ कर्मों में प्रवृत्ति को ही स्वर्ग आदि परलोक के लिए प्रमाण मानना उचित होगा। इस प्रवृत्ति को हेतु बनाकर अनुमान के द्वारा स्वर्ग आदि पर परलोक की स्थापना की जा सकती है।[८]

दूसरी मान्यता अकारणवाद या स्वभाववाद के निराकरण के लिए उदयनाचार्य एक प्रकार की विश्लेषणात्मक पद्धति का आश्रय लेते हैं। वे कहते हैं कि कारण से कार्य की उत्पत्ति मानने वाले कार्य के सम्बन्ध में 'यह किससे उत्पन्न हुआ है ?' प्रश्न के उत्तर की अपेक्षा रखते हैं किन्तु अकारणवादी यह मानता है कि कार्य अकस्मात् होता है। यहाँ उदयनाचार्य 'अकस्मात्' का विश्लेषण करते हुए चार विकल्प प्रस्तुत करते हैं : १. हेतु का निषेध, अर्थात् यह किसी कारण से उत्पन्न नहीं होता है। २. उत्पत्ति का निषेध, अर्थात् यह उत्पन्न नहीं होता है। ३. स्व से अतिरिक्त हेतु निषेध, अर्थात् यह स्वयं उत्पन्न होता है। ४.पारमार्थिक हेतु निषेध, अर्थात् यह किसी वास्तविक कारण से उत्पन्न नहीं होता है। वह इन चारों विकल्पों के खण्डन के लिए एक हेतु देते हैं : अवधि का निश्चित निर्धारित होना, अर्थात् कार्य कभी रहता है और कभी नहीं रहता है, यह अनुभव सिद्ध है। यदि वह अतुक होगा तो या तो सदा रहेगा या कभी भी नहीं रहने वाला वन्ध्या पुत्र के समान अलीक होगा, इसलिए कार्य ही नहीं

होगा। इस प्रकार अकस्मात् शब्द के उक्त चार अर्थों में किसी भी अर्थ को स्वीकार करने पर कदाचित्क, अर्थात् 'कभी रहने' और कभी न रहने की संगत व्याख्या संभव नहीं है। इसलिए स्वभाववाद या अकारणवाद या अकस्मात्वाद को स्वीकार करना संभव नहीं है।[९]

इस प्रकार वे स्वभाववाद का खण्डन करते हुए कारणता सिद्धान्त को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। उनका कहना है कि कार्य सापेक्ष होता है क्योंकि उसकी अवधि निर्धारित होती है। अवधि का निर्धारित होना ही सापेक्षता के लिए प्रमाण है। जो सापेक्ष नहीं होगा उसकी अवधि निर्धारित नहीं होगी। ऐसा पदार्थ या तो नित्य होगा या अलीक। जो नित्य और अलीक नहीं होगा उसकी अवधि अवश्य ही निर्धारित होगी और जिसकी अवधि निर्धारित होगी वह निर्विवाद रूप से सापेक्ष होगा। सापेक्षता स्वीकार कर लेने पर यह प्रश्न उठता है कि घर आदि कार्य को सापेक्ष मान लेने पर उसकी कारण-सामग्री को भी सापेक्ष मानना होगा। पुनः उसकी कारण सामग्री और फिर उसके कारण की कारण सामग्री को सापेक्ष मानने पर अनावस्था दोष हो जाएगा और अनावस्था के कारण सापेक्षता की सिद्धि नहीं हो सकेगी और सापेक्षता सिद्ध न होने से कारणता की सिद्धि नहीं होगी।

इस अनावस्था दोष के विषय में उदयनाचार्य का कहना है कि अनादि परम्परा में अनावस्था दोष नहीं माना जाता, जैसे बीज और अंकुर आदि की परम्परा में अनावस्था दोष आता है किन्तु अनादि अनावस्था को दोष मानने पर 'बीज से अंकुर होता है' इसकी व्याख्या नहीं हो सकती । कहने का तात्पर्य है कि जहाँ समुचित व्याख्या के लिए अन्य कोई उपाय न हो वहाँ अनावस्था को दोष नहीं मानना चाहिए। बीज-अंकुर स्थल पर अनादि सम्बन्ध मानकर व्याख्या की जाती है। इसलिए ऐसे स्थल पर अनावस्था को दोष नहीं माना जाता। इसी प्रकार कार्य-कारण परम्परा भी अनादि सम्बन्ध पर आधारित है, इसलिए यहाँ अनावस्था को दोष नहीं माना जाएगा।

इस सन्दर्भ में उदयनाचार्य शक्ति कारणवाद, प्रकृति कारणवाद एवं ब्रह्मकारणवाद का खण्डन करते हुए कहते हैं कि संसार में विचित्रता एवं विभिन्नता की व्याख्या एक कारण मानने से नहीं हो सकती, इसलिए विचित्र कार्यों के लिए विचित्र कारणों की श्रृंखला स्वीकार करनी होगी जो प्रत्येक आत्मा में विद्यमान अदृष्ट ही हो सकता है।

यहाँ एक प्रश्न उठाया गया है कि यज्ञ, याग आदि कर्म को ही स्वर्ग आदि फल का कारण क्यों न मान लिया जाए ? इससे अदृष्ट की कल्पना भी नहीं करनी पड़ेगी और कार्य-कारण का निर्वाह भी हो जाएगा। इस प्रश्न के उत्तर में उदयनाचार्य का कहना है कि कारण को कार्य का अव्यवहित पूर्ववर्ती होना चाहिए । यज्ञ, याग आदि

जब किए जाते हैं तब उनके अव्यवहित उत्तर काल में स्वर्ग आदि फल की प्राप्ति नहीं होती। अतः उनसे उत्पन्न भोग जनक किसी अदृष्ट की कल्पना अवश्य करनी पड़ेगी। 'स्वर्ग कामोयजेत्' इस वेद वाक्य के आधार पर यज्ञ करने वाले व्यक्ति को यज्ञ के अव्यवहित उत्तर फल की प्राप्ति न होने पर वेद वाक्य की निरर्थकता होगी और यज्ञ आदि कर्मों में स्वर्ग चाहने वालों की प्रवृत्ति भी न होगी, इसलिए यज्ञ आदि को स्वर्ग आदि का साक्षात् कारण न मानकर व्यापारवत् कारण मानना उचित होगा। व्यापार का लक्षण तत् जन्य होते हुए तत् जन्य का जनक होना है, अर्थात् यज्ञ आदि से उत्पन्न अदृष्ट, यज्ञ आदि से प्राप्त होने वाले स्वर्ग आदि का जनक होता है, इसलिए यज्ञ आदि, अदृष्ट द्वारा, स्वर्ग के जनक होते हैं, जैसे दण्ड घर का चक्र में भ्रमी के द्वारा जनक होता है। यहाँ उदयनाचार्य यह भी स्पष्ट करते हैं कि योग्य स्वर्गादि में संस्कार मान लेने से भी काम नहीं चलता क्योंकि भोग सर्वसाधारण हैं, वे किसे मिलें और किसे न मिलें, इसका निर्धारण नहीं हो सकेगा। अतः भोग्य को आकृष्ट करने तथा कर्ता को ही भोग प्राप्ति की व्यवस्था करने के लिए अदृष्ट को आत्मगत मानना ही अधिक न्याय संगत होगा।[10] इसी प्रसंग में उदयनाचार्य देहात्मवाद क्षणिकात्मवाद, संघातात्मवाद, एकात्मवाद, अणु-आत्मवाद आदि का खण्डन करते हुए नित्य-अनेक-विभु आत्मवाद की स्थापना करते हैं।

द्वितीय विप्रतिपत्ति मीमांसकों के द्वारा स्थापित की गयी है। इस विप्रतिपत्ति में ईश्वर के बिना भी परलोक साधनों के अनुष्ठान की स्थापना की गयी है। इसमें यज्ञ, याग आदि परलोक साधनता, परलोक की मान्यता और कार्य-कारणता तो स्वीकृत हैं किन्तु ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि इसमें वेदों की अपौरुषेयता, संसार की अनादिता, महाजनपरिग्रह के कारण वेदों की स्वतः प्रामाणिकता तथा कर्म की फलवत्ता की स्वतः अपरिहार्यता स्वीकार कर ली जाती है। वेदों की अपौरुषेयता के लिए शब्द की नित्यता एवं विधा की गुरुपूर्वकता मुख्य आधार हैं। मीमांसकों का कहना है कि तालु, दन्त, जिह्वा, ओष्ठ आदि के अभिघात से शब्द की उत्पत्ति नहीं होती अपितु अभिव्यक्ति होती है। उत्पत्ति मानने पर उच्चारण एवं उच्चारयिता के भेद से शब्द भेद मानना पड़ेगा किन्तु एक व्यक्ति के द्वारा भिन्न-भिन्न काल में विभिन्न स्वरों में अर्थात् कभी मन्द, कभी मध्यम, कभी तीव्र और विभिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न या एक समय में अनेक स्वरों में घट-बढ़ आदि शब्दों के उच्चारण में भेद होना स्वाभाविक है। यदि उच्चारण से शब्द की उत्पत्ति होती तो भिन्न उच्चारणों से भिन्न शब्दों की उत्पत्ति होती किन्तु भिन्न-भिन्न उच्चारणों से एक ही शब्द उत्पन्न होता है और एक ही अर्थ का बोध कराता है। इसलिए शब्द की उत्पत्ति मानना न्यायसंगत नहीं है।

शब्द को नित्य मानना ही उचित है और उच्चारण को शब्द की अभिव्यक्ति मात्र मान लेने से इस कठिनाई का निवारण हो सकता है। दूसरी ओर, मानव जो भी वाक्य प्रयोग करता है वह किसी गुरु से सुनकर ही करता है। इस प्रकार वेदों को गुरु परम्परा से सुनने के कारण श्रुति कहा जाता है। इसमें गुरु परम्परा का कभी उच्छेद नहीं होता, इसलिए वेदों को अनादि एवं नित्य मानना होगा। चूँकि वेदों की मान्यता शिष्टों द्वारा स्वीकृत है इसलिए इसकी प्रामाणिकता भी स्वतः सिद्ध है। साथ ही साथ यह संसार भी अनादि है, इसलिए इसके कर्त्ता की कोई आवश्यकता नहीं है। इस अनादि संसार में वेदों की स्वतः प्रामाणिकता के आधार पर वेद विहित कर्मों के अनुष्ठान संभव हैं और इन कर्मों में फल उत्पन्न करने की अनिवार्यता तथा अपूर्व द्वारा उत्पन्न फल से कर्ता की प्रतिबन्धता भी सिद्ध है। इसलिए जगत् के कर्त्ता तथा अदृष्ट के अधिष्ठाता ईश्वर को माने बिना भी यज्ञ आदि का अनुष्ठान और स्वर्ग आदि फल की प्राप्ति की व्याख्या संभव है।

मीमांसकों की इस मान्यता का खण्डन उदयनाचार्य न्याय की मान्यता के आधार पर करते हैं। उनका कहना कि वाक्यार्थ बोध के लिए आकांक्षा, आसत्ति, योग्यता और तात्पर्य ज्ञान आवश्यक है। वेद वाक्यों से होने वाला बोध भी वाक्यार्थ बोध है, अतः इसमें तात्पर्य ज्ञान के लिए प्रथम उच्चारयिता को स्वीकार करना पड़ेगा। कोई भी प्रमा (यथार्थ ज्ञान) स्वतः उत्पन्न नहीं होता है किन्तु करण के गुण से उत्पन्न होता है। शब्द से उत्पन्न होने वाली प्रमा भी प्रमा होने के कारण करण के गुण से उत्पन्न होगी। यहाँ करण का गुण होता है वक्ता का वाक्यार्थ का यथार्थ ज्ञान क्योंकि यदि वक्ता को वाक्य के अर्थ का यथार्थ ज्ञान नहीं होगा तो श्रोता को उस वाक्य से यथार्थ ज्ञान होना संभव नहीं है, इसलिए वेदों को पौरुषेय मानना होगा। उनकी दूसरी आपत्ति सर्ग-प्रलय को लेकर है। उत्पत्ति, वृद्धि, विकास, ह्रास, विनाश का क्रम अनुभव सिद्ध है और शास्त्र मान्यता के आधार पर भी सर्ग-प्रलय स्वीकृत हैं। खण्ड-प्रलय के आधार पर महाप्रलय की स्थापना अनुमान द्वारा भी संभव है। जन्म, संस्कार, शक्ति, विद्या, स्वाध्याय, कर्म आदि के विषय में सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलि आदि युगों के क्रम से ह्रास देखा जाता है। अतः इस ह्रास के आधार पर वेद आदि सम्प्रदाय का भी ह्रास मानना ही न्याय संगत है। इससे यह स्थापित होता है कि प्रयत्न में वेदादि सम्प्रदाय का विनाश हो जाता है। अतः सर्ग के प्रारम्भ में वेदों को प्रवृत्त करने के लिए सर्वज्ञ ईश्वर की आवश्यकंता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि यह कहा जाए कि सर्ग आदि में कपिल आदि ऋषि ही वेद सम्प्रदाय के प्रवर्तक होते हैं तो इन ऋषियों को भी सर्वज्ञ मानना होगा क्योंकि अल्पज्ञ के कथन में आस्था न होने के कारण उसकी

प्रामाणिकता नहीं रहेगी। इस प्रकार अनेक सर्वज्ञ मानने की अपेक्षा, एक सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ ईश्वर को मान लेने में कल्पना लाघव भी है।[११]

तृतीय विप्रतिपत्ति ईश्वर के अभाव को सिद्ध करने के लिए प्रमाण प्रस्तुत करती है। अनुपलब्धि को स्वतन्त्र प्रमाण मानने वाले भाट्ट मीमांसक तथा अनुपलब्धि को अनुमान के लिए एक हेतु मानने वाले बौद्ध तार्किक दोनों की ओर से यह पक्ष उपस्थित किया जाता है कि जिस प्रकार घट के अभाव की सिद्धि घट की अनुपलब्धि के द्वारा होती है उसी प्रकार ईश्वर के अभाव की सिद्धि भी ईश्वर की अनुपलब्धि के द्वारा मानना न्यायसंगत है। यह मत यह भी स्थापित करना चाहता है कि ईश्वर के संदर्भ में योग्य-अनुपलब्धि को ईश्वर के अभाव का ग्राहक मानना उचित नहीं है क्योंकि योग्य प्रतियोगी के स्थल में ही अभाव ग्रहण के लिए योग्य अनुपलब्धि को प्रमाण माना जाता है। अयोग्य प्रतियोगी के अभाव ग्रहण के लिए भी यदि योग्य अनुपलब्धि को प्रमाण माना गया तो ईश्वर अभाव के समान शशश्रृंग का अभाव भी सिद्ध नहीं हो सकेगा, जबकि ईश्वर को मानने वाले भी शशश्रृंग के अभाव को तो अवश्य स्वीकार करेंगे।

इस आक्षेप का उत्तर देते हुए उदयनाचार्य का कहना है कि प्रथम तो अनुपलब्धि न कोई स्वतन्त्र प्रमाण है और न अभाव के अनुमान के लिए सक्षम हेतु है, क्योंकि अभाव का ग्रहण प्रतियोगी के ग्रहण करने वाले साधनों से ही संभव है, जैसे चक्षु द्वारा पुष्प में गन्ध की उपलब्धि न होने मात्र से पुष्प में गन्धाभाव का अस्तित्व मानना उचित नहीं है। जब कभी अनुपलब्धि के आधार पर अभाव का ग्रहण होता है तो वहाँ योग्य अनुपलब्धि को ही अभाव का ग्राहक माना जाता है। अनुपलब्धि में योग्यता का अर्थ होता है प्रतियोगी या उसके व्याप्य से इतर यावत् उपलब्ध-सामग्री का समवधान। इसलिए ईश्वर के सम्बन्ध में ईश्वर की जो अनुपलब्धि है उसमें योग्यता नहीं है। क्योंकि ईश्वर प्रत्यक्ष वेध वस्तु नहीं है, इसलिए प्रत्यक्ष के साधनों से उपलब्ध न होने मात्र से ईश्वर का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता। यदि इन्द्रिय प्रत्यक्ष न होने के कारण वस्तु का अभाव मान लिया जाय तो आकाश, धर्म, अधर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का लोप हो जाएगा। शशश्रृंग के अभाव के आधार पर ईश्वर के अभाव की स्थापना की प्रक्रिया संगत नहीं है क्योंकि शश में श्रृंग का अभाव है और उसको ग्रहण करने वाली अनुपलब्धि भी योग्य अनुपलब्धि है। किन्तु शशश्रृंग की अनुपलब्धि के आधार पर उसका अनस्तित्व स्थापित नहीं होता अपितु 'शशश्रृंग' इस पद समूह में योग्यता न होने कारण इसे निरर्थक कहा जाता है। न तो शशश्रृंग भाव है और न अभाव अपितु एक निरर्थक शब्द योजना है। अभाव को भी न्याय-वैशेषिक दर्शन पदार्थ मानता है। पदार्थ का अर्थ पद वाच्यता होती है और अभाव की पद वाच्यता इस

आधार पर सिद्ध होती है कि अभाव का अभाव प्रतियोगी स्वरूप होता है और प्रतियोगी भावरूप होता है। इसलिए उन्हीं वस्तुओं का अभाव पदार्थ होगा जिनका भाव होना सिद्ध होगा, जो भाव ही नहीं उसका अभाव भी नहीं हो सकता है। इसलिए न्याय यह स्थापित करता है कि अलीक प्रतियोगिक अभाव नहीं होता। अभाव बोध वहीं संभव है जहाँ प्रतियोगी स्वीकृत हो और अनुपब्धि वहीं अभाव ग्राहिका है जहाँ प्रतियोगी को ग्रहण करने के लिए अपेक्षित समस्त सामग्रियों का समवधान हो। इसलिए ईश्वर के सम्बन्ध में अनुपलब्धि योग्य नहीं है और अयोग्य अनुपलब्धि से ईश्वर के अभाव को सिद्ध नहीं किया जा सकता। यदि यह कहा जाए कि ईश्वर का अभाव नहीं सिद्ध किया जा रहा है अपितु ईश्वर में कर्तृत्व का अभाव अनुमान द्वारा सिद्ध किया जा रहा है क्योंकि कर्तृत्व का व्यापक शारीरित्व है, अर्थात् जो कर्त्ता होता है वह शरीरधारी होता है, ईश्वर शरीरधारी नहीं है इसलिए वह कर्त्ता भी नहीं है, तो यह भी कथन संगत नहीं है क्योंकि इस अनुमान में पक्षाप्रसिद्धि दोष है। अनुमान में पक्ष को सिद्ध होना चाहिए जहाँ पक्ष नहीं सिद्ध होगा वहाँ अनुमान आश्रयसिद्धि दोष से ग्रस्त होने के कारण अपने साध्य को सिद्ध नहीं कर सकेगा।[१२]

चतुर्थ विप्रतिपत्ति में यह स्थापित किया जाता है कि यदि ईश्वर हो भी तो वह प्रमाण नहीं है। क्योंकि प्रमाण या प्रमाणिक होने के लिए प्रमा (ज्ञान) का कर्ता या करण होना आवश्यक है। प्रमा वह ज्ञान है जो अग्रहीतग्राही हो, अर्थात् वह ज्ञान प्रमा है जिसका विषय पहले से ज्ञात न हो। अज्ञात विषय के ज्ञान के लिए ही ज्ञाता साधनों का उपयोग करता है। विषय के ज्ञात होने पर ज्ञाता को उसकी पुनः जानकारी का प्रयास निरर्थक व्यापार है, इसलिए न वह ज्ञाता है और न उसके लिए किसी साधन के प्रयोग की अपेक्षा है। चूँकि ईश्वर मानने वाले स्वयं ईश्वर के ज्ञान को नित्य ज्ञान और ईश्वर को सर्वज्ञ मानते हैं, अतः सर्वज्ञ का ज्ञान अग्रहीतग्राही नहीं हो सकता। यही दशा नित्य ज्ञान की है। ऐसी स्थिति में ईश्वर का ज्ञान अग्रहीतग्राही न होने के कारण प्रमा नहीं है और ईश्वर के ज्ञान के प्रमा न होने के कारण ईश्वर न प्रमा का कर्ता (ज्ञाता) है और न प्रमा का साधन। प्रमा के कर्त्ता या साधन न होने के कारण वह न प्रमाण है न प्रामाणिक। इस प्रकार अप्रामाणिक ईश्वर यदि रहे भी तो उसके रहने से किसी को कोई लाभ नहीं है क्योंकि अप्रामाणिक व्यक्ति के प्रति न किसी को श्रद्धा होगी और न उसके वचनों पर किसी को विश्वास। इस प्रकार वह अत्यन्त उपेक्षणीय होकर ही रह जाएगा। यह स्थापना उन दार्शनिक सम्प्रदायों की ओर से की जाती है जो ज्ञान को प्रमा होने के लिए अज्ञात विषयक होना अनिवार्य शर्त मानते हैं।

उक्त विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए उदयनाचार्य का कहना है कि अग्रहीतग्राही होना प्रमा का लक्षण नहीं हो सकता क्योंकि इस लक्षण में अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोनों दोष हैं। धारावाहिक ज्ञान प्रमा माना जाता है किन्तु अज्ञात विषयक होना प्रमा के लक्षण मानने पर वह प्रमा नहीं रह जाएगा क्योंकि द्वितीय-तृतीय क्षण में उसका विषय ज्ञात रहता है। इस प्रकार धारावाहिक ज्ञान जो प्रमा है उसमें प्रमा का लक्षण घटित न होने के कारण लक्षण अव्याप्त हो जाएगा। साथ ही साथ स्मृति ज्ञान भी प्रमा नहीं रहेगा क्योंकि स्मृति तो अनुभव के प्रमा होने पर प्रमा होती है, किन्तु उसका विषय अज्ञात नहीं रहता है अपितु पूर्व ज्ञात विषयक ही रहता है। दूसरी ओर, यह लक्षण 'इदं रजतम्' इस भ्रम ज्ञान में अतिव्याप्त भी हो जाएगा क्योंकि भ्रम का विषय भी पूर्व ज्ञात नहीं रहता है। इस आधार पर अज्ञात विषयक होना प्रमा का लक्षण नहीं माना जा सकता। वास्तव में, प्रमा का लक्षण सम्यक् ज्ञान होना है या यथार्थता है। यथार्थ ज्ञान ही प्रमा है। ईश्वर का ज्ञान तो सदा यथार्थ होता है। इसी प्रकार प्रमाता होने के लिए यथार्थ ज्ञान का कर्ता होना आवश्यक नहीं है अपितु यथार्थ ज्ञान वाला होना मात्र अपेक्षित है। अत: नित्य यथार्थ ज्ञान वाला ईश्वर प्रमाता होने के कारण प्रमाण है। प्रमाण होने के लिए प्रमा का कर्ता या करण होना आवश्यक नहीं है। ईश्वर को प्रमाण मानने पर न्याय मत में पाँच प्रमाण मानने की आपत्ति नहीं आएगी क्योंकि प्रमाणों का विभाग प्रमा करण के रूप में ही की गयी है।[13]

पंचम विप्रतिपत्ति है कि ईश्वर की स्थापना कोई प्रमाण नहीं है क्योंकि रूपादि सम्पन्न न होने के कारण ईश्वर प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। अन्वय या व्यतिरेक के द्वारा ईश्वर के साथ व्याप्ति-गृहीत न होने के कारण अनुमान द्वारा भी उसकी सिद्धि संभव नहीं। सादृश्य ज्ञान न होने के कारण उपमान द्वारा भी उसका ज्ञान नहीं हो सकता। विषय का साक्षात्कार करने के पश्चात् यथार्थ वक्ता के ही वचन शब्द प्रमाण होते हैं। ईश्वर अपरिमेय है। अत: उसका सम्पूर्ण साक्षात्कार होना संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में उसके विषय में बताने वाला आप्त नहीं हो सकता और आप्त न होने के कारण उनके वचन शब्द प्रमाण नहीं हो सकते। इस तरह ईश्वर साधक कोई प्रमाण नहीं है।

इस विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए उदयनाचार्य अनुमान और शब्द प्रमाण द्वारा ईश्वर की स्थापना करते हैं। अनुमान के लिए उन्होंने जिन हेतुओं को उपस्थित किया है[14] उसमें से चार जगत् से सम्बन्धित हैं, अर्थात् जगत् कार्य है, इसलिए उसके कर्त्ता के रूप में ईश्वर सिद्ध होता है। आयोजन, अर्थात् जगत् के निर्माण के लिए आवश्यक कारणों का संकलन एवं प्रथम क्रिया का संचालन एक सचेतन द्वारा ही

संभव है। इसी प्रकार जगत् के धारण एवं विनाश के आधार पर भी धारक एवं विनाशक के रूप में ईश्वर की सिद्धि होती है। इसी तरह चार हेतु वेद से सम्बन्धित हैं : पद, प्रत्यय, श्रुति और वाक्य। पद का प्रयोग व्यवहार देखकर होता है, अतः सृष्टि के आरम्भ में पद के व्यवहार संचालन के रूप में ईश्वर की सिद्धि होती है। प्रत्यय का अर्थ है ज्ञान या प्रमाण, वेद वाक्यों की प्रामाणिकता सर्वज्ञ के द्वारा उच्चरित होने के कारण है। श्रुति के निर्माता के रूप में भी ईश्वर की सिद्धि होती है क्योंकि वेद पौरुषेय हैं और वेद वाक्यों में जिसका तात्पर्य ज्ञान निहित है वह ईश्वर है। इस प्रकार इन चार हेतुओं से भी ईश्वर की सिद्धि होती है। इन हेतुओं में एक हेतु उदयनाचार्य ने न्याय की मान्यता के आधार पर दिया है - संख्या विशेष। संख्या विशेष को अभिव्यक्त करने के लिए न्याय दर्शन की दो पूर्वमान्यताओं को स्पष्ट करना आवश्यक है। न्याय की एक पूर्व मान्यता है कि परमाणु का परिमाण किसी परिमाण का कारण नहीं होता[१५] क्योंकि परिमाण जब कारण होता है तो अपने से तर या तम परिमाण ही उत्पन्न करता है।

ऐसी स्थिति में अणु परिमाण को कारण मानने पर उत्पन्न परिमाण को अणुतर या अणुतम मानना पड़ेगा जो तर्कसंगत नहीं होगा क्योंकि दो परमाणुओं से निर्मित द्व्यणुक का परिमाण परमाणुतम अणु होता है। यही कारण है कि द्व्यणुक के परिमाण के लिए परमाणु के परिमाण को कारण न मानकर परमाणुगत द्वित्व संख्या को कारण माना जाता है। यहाँ दूसरी पूर्व मान्यता यह है कि सभी पदार्थों में एकत्व संख्या स्वतः सिद्ध है किन्तु द्वित्वआदि संख्या अपेक्षा-बुद्धि से उत्पन्न होती है, अर्थात् कोई भी वस्तु स्वतः दो नहीं होती, गिनने वाले की गिनती से एक-एक की अपेक्षा से दो होती है। सृष्टि के प्रारम्भ में द्व्यणुक के परिमाण के जनक परमाणुगत द्वित्व संख्या जिस चेतन की अपेक्षा-बुद्धि से उत्पन्न होती है वह ईश्वर ही हो सकता है। इस प्रकार संख्या विशेष अर्थात् द्व्यणुक के परिमाण का जनक परमाणुगत द्वित्व संख्या के लिए आवश्यक अपेक्षा बुद्धि के आधार पर भी ईश्वर की सिद्धि होती है।

उदयनाचार्य ने अपने साधक तर्कों के विरुद्ध लगायी जाने वाली समस्त आपत्तियों का निराकरण करते हुए यह दिखलाने का प्रयास किया है कि उक्त हेतु सद्हेतु हैं। इनमें व्यभिचार, बाधित, विरोध, असिद्धि, सत्प्रतिपक्ष आदि कोई दोष नहीं है। अतः इनके द्वारा ईश्वर की सिद्धि संभव है।

ईश्वर सिद्धि की प्रक्रिया में उदयनाचार्य ने जिन मुख्य बिन्दुओं का संकेत किया है उनमें से कतिपय् बिन्दुओं को यहाँ उपस्थित मात्र किया जा सका है। इन बिन्दुओं की व्याख्या, परीक्षा, समीक्षा एवं मूल्याँकन इस निबन्ध की परिसीमा में संभव नहीं है

जिसके लिए विद्वान् श्रोताओं से मैं क्षमा चाहता हूँ। इस निबन्ध का उद्देश्य भी विचारार्थ दार्शनिक बिन्दुओं को प्रस्तुत करना मात्र था जिससे इन पर विभिन्न पक्षों एवं दृष्टियों से विद्वानों के बीच विचार किया जा सके।

संदर्भ-ग्रंथ एवं टिप्पणियाँ

१. *प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजनदृष्टान्त सिद्धान्तावयव-तर्क निर्णय: वाद-जल्प-वितण्डा हेत्वाभास-च्छल-जाति-निग्रह स्थानानां तत्त्वज्ञानान्निश्रेयसाधिगम: । न्यायसूत्र, १.१.१*

२. *दु:ख-जन्म-प्रवृत्ति दोष मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादप वर्ग: । न्यायसूत्र, १.१.२*

३. *तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखाऽवरणवत् ।न्यायसूत्र, ४.२.५०*

४. *इह यद्यपि यं कमपि पुरुषार्थमर्थयमाना: शुद्धबुद्धस्वभाव इत्यौपनिषदा:, आदिविद्वान् सिद्ध इति कापिला, क्लेश कर्मविपाकाशयैरपरामृष्टो निर्माणकायमधिष्ठाय- सम्प्रदाय प्रद्योतकोऽनुग्राहकश्चेति पात×जला:, लोकवेदविरुद्धैरपि निर्लेप: स्वतन्त्रश्चेति महापाशुपता:, शिव इति शैवा:, पुरुषोत्तम इति वैष्णवा:, पितामह इति पौराणिका:, यज्ञपुरुष इति याज्ञिका:, सर्वज्ञ इति सौगता: निवारण इति दिगम्बरा:, उपास्यत्वेज देशिता इति मीमांसका:, लोक व्यवहार सिद्ध इति चार्वाका:, यावदुक्तोपपन्न इति नैयायिका: किं बहुना यं कारणोऽपि विश्वकर्मेति उपासते, तस्मिन् एवं जातिगोत्रप्रवरचरणकुलधर्मादिवदासंसारं सुप्रसिद्धानुभवे भगवति भवे सन्देह एव कुत: । न्या.कु., अवतरणिका ११३*

५. *तत्र नानुपलब्धे न निर्णितिऽर्थे न्याय: प्रवतति किं तर्हि ? संशयितेऽर्थे। न्यायभाष्य, १११*

६. *न्यायचर्चेयमीशस्य मननव्यपदशभाक् ।*
उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता ।।
आगमेनानुमनेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।
विद्या प्रकल्पयन् प्रज्ञालभतेयोगमुत्तमम ।। न्या.कु., १.३

७. *तदिह संक्षेपत: प×चतयी विप्रतिपत्ति:*
   १. *अलौकिकस्य परलोक साधनस्याभावात् ।*
   २. *अन्यथापि परलोक साधनानुष्ठान संभवात् ।*
   ३. *तदभावावेदक प्रमाण सद्भावात् ।*
   ४. *सत्वेऽपि तस्याप्रमाणत्वात् ।*
   ५. *तत्साधक प्रमाणाभावात् ।*

८. *विफला विश्ववृत्तिर्नो न दु:खैकफलापि वा ।*
हष्टलाभ फलावापि विप्रलम्भोऽपिनेदृश: ।। न्या.कु., १.८

९. *हेतुभूतिनिषेधो न स्वानुपाख्यविधिर्नच ।*
स्वभाववर्णना नैवमवधे: नियतत्वत: ।। न्या.कु., १.५

१०. *चिरध्वसतं फलायालं न कर्मातिशयंबिना ।*

सम्भोगो निर्विशेषाणां न भूतैः संस्कृतैरपि।। न्या.कु., १.९

११. प्रमाया परतन्त्रत्वात् सर्ग प्रलयसंभवात्।
तदन्यस्मिन् अविश्वासात् न विद्यान्तर संभवः।।न्या.कु., २.१
जन्मसंस्कार विद्यादेः शक्तेः स्वाध्याय कर्मणोः।
ह्रासदर्शनतोह्रासः सम्प्रदायस्य मीयताम्।। न्या.कु., २.३

१२. योग्यादृष्टिः कुतोऽयोग्ये प्रतिबन्धिः कुतस्तराम्।
कायोग्यं बाध्यते शृगं कानुमानमनाप्रयम्।। न्या.कु., ३.१

१३. अप्राप्तेरधिकप्राप्तेरलक्षणमपूर्वहक ।
यथार्थोऽनुभवोमानमनपेक्षतयेष्यते।। न्या.कु., ४.१
मितिः सम्यक् परिच्छित्तिस्तद्वत्ता च प्रमातृता।
तदयोगव्यवच्छेदः प्रामाण्यं गौतमे मते।। न्या.कु., ४.५

१४. कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
नाम्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविद्व्ययः।। न्या.कु., ५.१

१५. पारिमण्डल्यभिन्नानां कारणत्वमुदाहृतम।
परमाणोः परिमितिः पारिमाण्डल्यमुच्यते।। वही

माया की अवधारणा : नागार्जुन और शंकर

हृदय नारायण मिश्र

बौद्ध चिन्तन-धारा में माध्यमिक दर्शन और वेदान्त-सिद्धान्त में अद्वैत वेदान्त अपनी चरम परिणति में प्रफुल्ल-कुसुम के समान सुशोभित हैं। यद्यपि इनकी चिन्तन-प्रक्रिया और शब्द-विन्यास में विषमता दिखाई देती है, फिर भी पुष्प में पराग के समान इनकी ज्ञान-गरिमा की गंध दोनों रूपों में हृदयग्राही है। यही कारण है कि कुछ विद्वानों ने इन मतों के प्रतिपादक आचार्यों को एक-दूसरे की चिन्तन-धांरा से प्रभावित माना है।

दोनों सिद्धान्तों में मायावाद के महत्त्वपूर्ण दार्शनिक सम्प्रत्यय को लेकर, यहाँ हम उनके चिन्तन सौष्ठव पर प्रकाश डालते हुए वैषम्य में साम्य का सूत्र खोजने का प्रयास करेंगे।

माध्यमिक दर्शन में माया की समस्या जिस विशाल वृक्ष के रूप में दिखाई देती है उसके बीज बौद्ध दर्शन में प्रारम्भ से ही विद्यमान् थे। बुद्ध के वचनों में वह अविद्या के रूप में अंकुरित हुआ और नागार्जुन दर्शन में नाना शाखाओं-प्रशाखाओं के साथ दूर तक छा गया। गौतम बुद्ध ने दुःखों के हेतुओं की खोज करते हुए अविद्या को उसका मूल कारण निर्धारित किया था। अविद्या से संस्कारों आदि की उत्पत्ति होती है और प्राणी दुःखों के चक्र में पड़ जाता है। *धम्मपद* में हम जब ये वचन देखते हैं कि "व्यक्ति इस संसार को जल बुदबुदे या मृग मरीचिका के समान देखता है तो उस पर यमराज अपनी दृष्टि डालने का साहस नहीं करते",[१] तो हमें संसार की नश्वरता और मिथ्यात्व का संकेत मिलने लगता है। वे आगे कहते हैं कि बाल बुद्धि के मनुष्यं ही इस संसार में आसक्ति रखते हैं, ज्ञानी जन इसमें लिप्त नहीं होते हैं।[२]

धम्मपद के इन वचनों में यह निहितार्थ स्पष्ट है कि यद्यपि यह जगत् नश्वर और मिथ्या है, किन्तु अविद्या के कारण मनुष्य को नित्य और सत्य प्रतीत होता है और वह उसमें आसक्त हो जाता है। विद्या का उदय होने पर जगत् का यथार्थ मिथ्या रूप दिखाई देने लगता है और उसमें मोह नहीं रह जाता।

बुद्ध के उपरान्त बौद्ध दर्शन के वैभाषिक आदि मत विकसित हुए और उनके वस्तुवाद से प्रत्ययवाद की ओर बढ़ने के साथ ही माया की प्राक्कल्पना उमड़ कर सामने आई और उसने तत्त्वमीमांसीय रूप धारण कर लिया।

सद्धर्म पुण्डरीक सूत्र में कहा गया है कि समस्त धर्म, जीव-जगन्मय पदार्थ स्वभावशून्य हैं। वे माया और स्वप्न के समान मिथ्या, कदली-स्तम्भ की भाँति निःसार,

प्रतिध्वनि के समान अलीक हैं। अज्ञान के कारण वे सत्य प्रतीत होते हैं और उनमें मोह उत्पन्न होता है जो बंधन और दुःख का कारण है। जिसमें पारमार्थिक दृष्टि उत्पन्न हो गयी है वह सर्वत्र सम देखता है। सब निश्चित रूप में सर्वदा सम है और केवल 'समत्व' का ही सार्वभौम साम्राज्य है : ऐसा समझने वाला ही निर्वाण भी जानता है।[३]

अष्टसाहस्रिका-प्रज्ञापारमिता-सूत्र में इससे भी अधिक स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि बुद्धिगम्य सभी पदार्थ स्वभावशून्य हैं। वे परस्पर संभवन से अस्तित्ववान् प्रतीत होते हैं । प्रज्ञापारमिता बुद्ध और निर्वाण भी अन्ततः मिथ्या हैं। यदि निर्वाण के बाद भी कोई अन्य धर्म बुद्धिग्राह्य हो तो उसे हम मायोपम या स्वप्नोपम कहेंगे।[४]

शतसाहस्त्रिका-प्रज्ञापारमिता-सूत्र में बुद्ध दर्शन माया की अवधारणा की ओर एक पग और आगे बढ़ जाता है। अभी तक सभी बुद्धिगम्य धर्म माया के समान मिथ्या कहे जाते थे, किन्तु अब उन्हीं को माया घोषित कर दिया गया। यहाँ कहा गया है कि सब धर्म नामरूपमय हैं और नामरूपमय होने से मायामय हैं क्योंकि नामरूप ही माया है और माया ही नामरूप है।[५] माया का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि माया न सत् है, न असत्, न सदसत् । माया का यही लक्षण है । वह विचार सहन नहीं कर सकती, विचार करते ही वह विलीन हो जाती है। उसका अपना कोई स्वभाव नहीं है।

माध्यमिक सम्प्रदाय को सुव्यवस्थित स्वरूप प्रदान करने वाले विचारक नागार्जुन ने जगत् को मायिक ही सिद्ध किया है। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ *माध्यमकशास्त्र* का आद्योपान्त यही प्रयोजन है । जितने भी इंद्रियगोचर या बुद्धिगम्य धर्म हैं उन सबको नागार्जुन ने एक-एक करके अपने चतुष्कोटि न्याय द्वारा स्वभावशून्य सिद्ध किया है। उनके मतानुसार विचार करने से ज्ञात होता है कि धर्मों का न निषेध है, न उत्पत्ति, वे न अनित्य हैं, न नित्य, वे न एक हैं और न अनेक, उनका न आना होता है और न जाना। हमारी ज्ञान-दृष्टि में यह प्रतीत्यसमुत्पाद है, और तत्त्वतः यही प्रपंचशून्यता है।[६]

पहले हम देखेंगे कि नागार्जुन जगत् का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए किन दृष्टान्तों को प्रयोग में लाते हैं। इससे स्पष्ट हो जाएगा कि जगत् के सम्बन्ध में उनकी क्या धारणा है। वे कहते हैं कि जैसे माया अथवा गंधर्वनगर अथवा स्वप्न होता है वैसे ही समस्त धर्मों की उत्पत्ति होती है; वे स्थित रहते हैं और भंग हो जाते हैं।[७] रागादि क्लेश, शुभाशुभ कर्म, शरीर, आत्मा और कर्म के फल, ये सभी गंधर्वनगर जैसे हैं, मृगमरीचिका के समान हैं अथवा स्वप्न सदृश हैं।[८]

इन प्रसंगों की व्याख्या करते हुए चन्द्रकीर्ति जगत् को मायामय मानने का

कारण बतलाते हैं। वे कहते हैं कि जैसे माया आदि स्वभाव से अनुत्पन्न और अविद्यमान हैं वैसे ही सभी धर्म स्वभाव से अविद्यमान हैं। नागार्जुन अपने शिष्यों को अनुग्रहपूर्वक यह दृष्टान्त देकर समझाते हैं।[९] चन्द्रकीर्ति पुन: स्पष्ट करते हैं कि जैसे माया-हस्ति को देखकर बालक उसे सत्य मान लेते हैं वैसे समस्त लौकिक पदार्थ मायामय हाते हुए भी बाल बुद्धि के अज्ञानी मनुष्य उसे सत्य मानते हैं। अविद्या तिमिर से उपहत मतिनयन में मिथ्या संसार भी सत् भासित होता है।[१०]

गंधर्वनगर का दृष्टान्त भी धर्मों के मिथ्यात्व का बोधक है। चन्द्रकीर्ति कहते हैं : क्लेशादि अर्थों को गंधर्वनगर के समान नि:स्वभाव समझना चाहिए।[११]

चन्द्रकीर्ति अपनी व्याख्या के समर्थन में अन्य बौद्ध ग्रन्थों का उद्धरण देते हैं जिनमें इन दृष्टान्तों का प्रयोग किया गया है और निर्णय रूप में सभी धर्मों को स्वभावशून्य या मिथ्या कहा गया है।[१२] *चतु:शतक* में अलातचक्र, जल में चन्द्रबिम्ब, प्रतिध्वनि आदि दृष्टान्त भी दिए गये हैं। चन्द्रकीर्ति ने *समाधिराज-सूत्र* का वह श्लोक कई बार उद्‌धृत किया है जिसमें उस कुमारी का दृष्टान्त दिया गया है जो स्वप्न में देखती है कि उसने एक पुत्र को जन्म दिया है और फिर वह मर भी जाता है। पुत्र पाकर कुमारी प्रसन्न होती है और उसके मर जाने पर रोने लगती है।[१३] यह स्वप्न के दृष्टान्त को विस्तृत और स्पष्ट कर देता है। *समधिराज-सूत्र* में ही यह भी कहा गया है कि जिस प्रकार गंधर्वनगर, मृगमरीचिका, माया या स्वप्न स्वभावशून्य हैं वैसे ही सभी धर्मों को स्वभावशून्य जानना चाहिए।[१४]

नागार्जुन माया और जगत् के धर्मों को समान लक्षण वाला पाते हैं। दोनों स्वभावशून्य हैं, दोनों मिथ्या हैं, दोनों कृत्रिम (बनावटी) है और दोनों अविद्या जन्य हैं।

यदि किसी वस्तु का स्वभाव है तो वह अकृत्रिम ही होगी : 'अकृत्रिम: स्वभावो हि निरपेक्ष: परत्र च'। किन्तु सभी वस्तुयें उत्पन्न और नष्ट होने वाली दिखाई देती हैं, अर्थात् वे कृत्रिम हैं। कृत्रिम और स्वभावशून्य होना एक ही बात है। इसे चन्द्रकीर्ति *लंकावतार सूत्र* का एक श्लोक उद्‌धृत करते हुए स्पष्ट करते हैं कि किसी के नेत्रों में तिमिर हो जाने पर जिस प्रकार हवा में उड़ते हुए बाल दिखायी देते हैं यद्यपि वे मिथ्या हैं, हवा में उड़ते नहीं है उसी प्रकार संसार के सभी धर्म मिथ्या हाते हुए भी अज्ञानी को सत्य प्रतीत होते हैं।[१५]

इस मायिक प्रपंच को यथार्थ मान लेने का कारण बताते हुए चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि 'अयोनिशो हि रूपादिक विकल्पयतो बालपृथग्जनस्य क्लेश उपजायते', अर्थात् गंभीरता से विचार न कर सकने वाले सामान्य मनुष्य रूपादि को सत् मान कर राग द्वेष आदि क्लेशों से पीड़ित हो जाते हैं।[१६]

नागार्जुन कहते हैं कि विचार करने से इस माया का बोध हो सकता है। विचार किस प्रकार करना चाहिए उसकी विधि का विवेचन वह *माध्यमकशास्त्र* में आद्योपान्त करते हैं। चन्द्रकीर्ति अपनी व्याख्या में *माध्यमकशास्त्र* की रचना का प्रयोजन बताते हुए कहते हैं कि इसकी रचना संशय और मिथ्या ज्ञान नष्ट करने के लिए की गयी है।[१७]

नागार्जुन के मतानुसार संसार का मूल संस्कार है और संस्कार अविद्वान् में ही उत्पन्न होते हैं। यदि अविद्या निरुद्ध हो जाय तो फिर संस्कार संभव नहीं है।[१८] चन्द्रकीर्ति के शब्दों में 'प्रहीण अविद्यस्य संस्कारा निरुध्यन्ते', अर्थात् अविद्या के नष्ट होने पर संस्कार अवरुद्ध हो जाते हैं। अविद्या को नष्ट करने के लिए नागार्जुन चतुष्कोटि न्याय का प्रयोग करते हैं। यही उनकी विचार पद्धति है।

वेदान्त में भी माया की अवधारणा क्रमशः विकसित हुई है। ऋग्वेद में माया शब्द का प्रयोग इन्द्रजाल या छद्म के अर्थ में हुआ है। उपनिषदों में वही माया जगत् की रचना करने वाली ईश्वरी शक्ति बन गई है। शंकर के अद्वैत वेदान्त में समस्त जगत् ही मायामय हो गया।

ऋग्वेद संसार का सबसे प्राचीन साहित्य है। उसमें माया शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है। उसका सब से प्रसिद्ध वाक्य है : 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'[१९] अर्थात् इन्द्र माया-शक्ति से अनेक रूप धारण कर लेता है। यहाँ माया के साथ शुभ और अशुभ दोनों भाव जुड़ें हैं। राक्षस की माया छल करने वाली और धोखा देने वाली है किन्तु मित्र और वरुण माया के द्वारा ही वर्षा करते हैं, अतः यह कल्याणकारी भी है।[२०] माया के कारण ही सूर्य और चन्द्र अस्त और उदित होते हैं। दोनों ही भावों में माया शब्द का प्रयोग किसी रहस्यमय शक्ति का सूचक है।

अथर्ववेद में हम देखते हैं कि माया उत्पन्न होती है।[२१] यहाँ माया शब्द का प्रयोग करने वाला ऋषि माया को एक रहस्यमयी शक्ति तो मानता ही है साथ ही उससे उत्पन्न होने वाली रचना (कार्य) को भी माया ही स्वीकार करता है। माया कारण और कार्य दोनों है।

उपनिषदों में ब्रह्म से संसार की उत्पत्ति बताई गई है और वहाँ माया शब्द का प्रयोग भी किया गया है। *बृहदारण्यक उपनिषद्* यद्यपि *यजुर्वेद* का एक अंश है, फिर भी उसका ऋषि *ऋग्वेद* के प्राचीन मंत्र 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' को नये प्रसंग और नये अर्थ में प्रयोग करता है। वह कहता है कि ब्रह्म नाम-रूप धारण करके नानाविध हो गया। ईश्वर माया से अनेक रूप प्रतीत होता है। ये रूप कहीं दस, कहीं हज़ार, कहीं अनन्त हैं।[२२]

श्वेताश्वतर उपनिषद् के ऋषि कहते हैं, "वेद, यज्ञ, ऋतु, व्रत, भूत, भविष्य

और वर्तमान तथा और भी जो कुछ वेद बतलाते हैं, वह सब मायावी माया से ही उत्पन्न करता है और उसमें माया से ही अन्य-सा होकर बँधे रहता है।"[२३] इससे स्पष्ट है कि समस्त देश-काल और कार्य-कारण सहित जगत् उस परमेश्वर से रचित है जो मायिक शक्ति का धारणकर्ता है, और माया के कारण ही जीव ब्रह्म से अन्य-सा होकर इस मायामय जगत् में बँधा है। अगले मंत्र में ऋषि अधिक स्पष्ट करते हुए स्वयं कहते हैं, "प्रवृत्ति को अवयवी जानना चाहिए और महेश्वर को मायावी। उसी के अवयवभूत से यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है।"[२४] यहाँ इस बात का भी संकेत मिलता है कि माया (प्रकृति) अवयवभूत है। यह लक्षण उसके स्वामी महेश्वर में नहीं है। संभव है, ऋषि का संकेत माया के अवयवभूत सत्व, रज और तम तीन गुण ही हों।

प्रश्नोपनिषद् के पिप्पलाद ऋषि कहते हैं कि जिनमें न कुटिलता है, न अनृत है और न माया है उन्हीं को वह निर्विकार ब्रह्मलोक मिलता है।[२५] यहाँ माया से तात्पर्य जगत् या जगत् कर्तृ-शक्ति नहीं है। यह माया या तो मनुष्य का छल-प्रपंच कपट जैसा कोई मानसिक दोष है या अविद्या है। पहला अर्थ मानना इसलिए उचित नहीं है क्योंकि उनके पर्यायवाची शब्द 'जिह्मम्' और 'अनृतम्' का प्रयोग स्वयं ऋषि करते हैं। अतः माया का तात्पर्य अविद्या ही होना चाहिए जिससे मुक्त होने पर मनुष्य ज्ञानस्वरूप परम सत् को जान लेता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में चार-पाँच बार माया शब्द का प्रयोग किया गया है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं यद्यपि अजन्मा हूँ और समस्त भूतों का स्वामी हूँ किन्तु प्रकृति को अपने वश में करके अपनी माया के द्वारा अवतरित होता हूँ।[२६] इसका तात्पर्य है कि अधिष्ठान में जब उसके विपरीत लक्षण दिखाई देते हैं तो वह माया के कारण है। इस माया का परिचय कराते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि, "मेरी माया गुणमयी है और उसे पार करना कठिन है, जो मेरी शरण में आते हैं वही उसके पार जा पाते हैं।"[२७] *गीता* के अनुसार गुणमयी प्रकृति माया ही है[२८] और गुण सत्व, रज और तम हैं जिनसे जगत्-रूप इन्द्र-जाल उत्पन्न हुआ है। यहाँ माया शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है : १. जगत् की रचना करने वाली त्रिगुणात्मक प्रकृति, और २. जीव को बंधन में डालने वाली मोहिनी शक्ति। अन्यत्र श्रीकृष्ण स्वयं स्पष्ट करते हैं कि माया ज्ञान को अपहृत कर लेती है।[२९] यह भी कहा गया है कि 'अज्ञान से ज्ञान आवृत्त' है। दोनों की एकवाक्यता करने पर माया को अज्ञान ही मानना पड़ता है।[३०]

इस प्रकार *श्रीमद्भगवद्गीता* के अनुसार माया सृष्टिकर्ता की शक्ति है और मनुष्य का अज्ञान भी। जीवन अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पाता।

शंकर के दादा गुरु *गौड़पादाचार्य* माया के द्वारा ही जगत् की रचना और जीव

का बंधन मानकर इस शब्द का व्यापक प्रयोग करते हैं । वे अपनी *माण्डुक्य* कारिकाओं में माया को स्वप्न और गंधर्वनगर के तुल्य मानते हैं; "जिस प्रकार स्वप्न और माया देखे गये हैं तथा जैसा गन्धर्वनगर जाना गया है उसी प्रकार ज्ञानी पुरुषों ने, वेदान्त में, इस जगत् को देखा है।"[३१] इससे स्पष्ट है कि गौड़पाद माया को एक ऐसी शक्ति मानते हैं जो प्रतीत तो सत् होती है, किन्तु तत्त्वत: उसका अस्तित्व नहीं है। यह जगत् भी ऐसा ही है। उनके मन में यह माया आत्मा की ही एक शक्ति है जो अभेद में भेद की प्रतीति उत्पन्न करती है। वे कहते हैं कि "स्वयंप्रकाश आत्मा अपनी माया से स्वयं ही कल्पना करता है और वही सब भेदों को जानता है, यही वेदान्त का निश्चय है।"[३२] इस प्रकार आत्मा माया से नानात्व की कल्पना नहीं करता, वरन् अपने स्वरूप को भूलकर जीव भाव धारण कर लेता है। वे कहते हैं, "जिस समय अनादि माया से सोया हुआ जीव जागता है उसी समय उसे अज, अनिद्र और स्वप्नरहित अद्वैत आत्म-तत्त्व का बोध होता है।"[३३] इसका तात्पर्य है कि माया अनादि है और वह जीव को सुप्तावस्था में डाले रहती है।

इस प्रकार गौड़पाद के अनुसार माया आत्मा या ब्रह्म की शक्ति है जो द्वैत का आभास उत्पन्न करती है। उससे एक ओर जगत् का विस्तार होता है और दूसरी ओर जीव उसी के कारण जगत् को सत् समझकर परम-सत् को भूल जाता है, उससे पृथक् सा हो जाता है ।

शंकर को माया विषयक अपनी अवधारणा निर्मित करने में *उपनिषद्*, *गीता* और *गौड़पादकारिका* की पृष्ठभूमि उपलब्ध थी। वे अपने पूर्ववर्ती इन वेदान्त ग्रन्थों से अवश्य प्रभावित हुए हैं। उन्होंने माया शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में किया है उसे स्वयं स्पष्ट कर दिया है। उनके अनुसार, "माया परमेश्वर की शक्ति है जिसका नाम है अव्यक्त। वह अनादि है, अविद्यारूप है, त्रिगुणात्मक है और परा है। बुद्धिमान मनुष्य उसके कार्य को देखकर कारणरूपा माया का अनुमान लगा सकते हैं। यह माया बड़ी अद्‌भुत और अनिर्वचनीय है। इसे किसी परिभाषा में नहीं बाँधा जा सकता है क्योंकि यह न सत् है, न असत् है और न उभयात्मक ही, यह परम-तत्त्व से न भिन्न है, न अभिन्न और न उभयात्मक, यह न अंगों वाली है, न अंगरहित अखण्ड एक है और न उभयात्मिका ही।"[३४]

शंकर के इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि वे माया को परमेश्वर की शक्ति मानते हैं, जैसे शक्तिवान् से शक्ति पृथक अस्तित्व नहीं रखती, वैसे ही माया का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। यह शक्ति परमेश्वर पर आश्रित है।[३५] माया से ही जगत् का विस्तार होता है। निष्क्रिय, अचिन्त्य, स्थाणु ब्रह्म स्वत: संसार की रचना नहीं करता, माया

ही इसके लिए उत्तरदायी है। इसीलिए वे माया को परा कहते हैं। कार्य से कारण 'पर' होता है। तीसरे, यह माया ही जीव की अविद्या है। *ब्रह्मसूत्र* पर भाष्य लिखते हुए शंकर माया की अवधारणा स्पष्ट करते हुए कहते हैं, "यह अविद्यात्मक बीजशक्ति अव्यक्त नाम से निर्दिष्ट है। यह परमेश्वर के आश्रित मायामयी एवं महासुषुप्ति है जिसमें स्वरूप ज्ञान से रहित संसारी जीव सोते हैं। यह माया अव्यक्त ही है क्योंकि यह सद्रूप अथवा असद्रूप है, ब्रह्म से भिन्न है अथवा अभिन्न है। इस प्रकार इसका निरुपण नहीं किया जा सकता।"[३६] उपनिषदों में जो अव्यक्त शब्द आया है वह अविद्या या माया ही है। शंकर *कठोपनिषद्* का मंत्र 'महत: परमव्यक्तम्' उद्धृत कर स्पष्ट करते हैं कि 'अविद्या ह्यव्यक्तम्'[३७], अर्थात् यह अविद्या ही अव्यक्त है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि माया का सम्प्रत्यय नागार्जुन और शंकर दोनों के दर्शनों में महत्वपूर्ण स्थान रखता है और दोनों में बहुत कुछ समानता भी है फिर भी ये दोनों दार्शनिक माया के विषय में अपने स्वतन्त्र विचार रखते हैं।

माया का स्वरूप दोनों में एक समान है, उसका कार्य भी एक समान है, किन्तु दोनों की तात्त्विक स्थिति या आधार में भेद है। स्वरूपत:, नागार्जुन माया को स्वप्न, इन्द्रजाल या गन्धर्वनगर के समतुल्य मानते हैं : 'यथा माया यथा स्वप्नो गंधर्वनगर यथा'[३८] अर्थात् जैसे माया या स्वप्न या गंधर्वनगर होता है वैसे ही यह जगत् भी है। गौड़पादाचार्य की एक कारिका भी इसी के समतुल्य इस प्रकार है : 'स्वप्नमाये यथा दृष्टे गंधर्वनगरं यथा, तथा विश्वमिदं'[३९], अर्थात् जैसे स्वप्न माया, गंधर्वनगर दिखाई देते हैं वैसे ही यह विश्व भी है। शंकर भी इन्हीं शब्दों का प्रयोग करते हुए इस प्रकार कहते हैं : 'क्षेत्र च मायानिर्मितहस्ति स्वप्नदृष्टवस्तु गंधर्वनगरादिवद् असद्', अर्थात् क्षेत्र जगत् माया से रचे हुए हाथी, स्वप्न में देखी हुई वस्तु या गंधर्वनगर आदि की भाँति असत् है।[४०]

इससे स्पष्ट है कि माया स्वप्न या गंधर्वनगर की भाँति देखने में सत्यवत् प्रतीत होती है किन्तु वस्तुत: वह असत् होती है। इस जगत् की प्रकृति या स्वरूप भी ऐसा ही है, इसलिये यह सब माया है। इस दृष्टि से दोनों दार्शनिक एक मत हैं।

इसके अतिरिक्त माया में अज्ञान की अवधारणा भी सम्मिलित है। उसके प्रति भी इन दोनों दार्शनिकों में मतभेद नहीं है। हम मायिक जगत् को अविद्या के कारण जैसा है वैसा न समझ कर अन्यथा मान बैठते हैं, अर्थात् उस असत् को हम सत् समझते हैं। हमारी यह भ्रांति अविद्या जन्य है। यह अविद्या भी माया ही है या माया का ही रूप है।

नागार्जुन के मतानुसार अविद्या के नष्ट होने से माया नष्ट हो जाती है।

हमारी अविद्या नष्ट करने के लिए ही वह चतुष्कोटि न्याय या प्रसंगापत्ति[४१] का प्रयोग करते हैं। इसके द्वारा भ्रांत धारणायें नष्ट हो जाती हैं। भ्रांति-निवृत्त ज्ञान के स्वच्छ प्रकाश में मायिक जगत् की सीमा विलुप्त हो जाती है। नागार्जुन इसी को निर्वाण या बुद्धत्व मानते हैं।[४२]

शंकर भी कहते हैं कि, 'असद् एव सद्इव अवभासते इति एवं निश्चित विज्ञानों यः तस्य मिथ्या ज्ञानं अपगच्छति', अर्थात् जो व्यक्ति, "यह वास्तव में नहीं है तो भी सत् की भाँति प्रतीत होता है, ऐसा निश्चय पूर्वक जान लेता है, उस का मिथ्या ज्ञान नष्ट हो जाता है।"[४३]

यह अविद्यात्मक माया दोनों आचार्यों के मत से अनादि है। दोनों ही जीव का पुनर्जन्म मानते हैं। इसलिये इस जन्म के पहले भी अनेक जन्म हो चुके हैं और उन सब जन्मों में अविद्या का बंधन रहा है। यह नहीं कहा जा सकता कि इसका प्रारम्भ कब हुआ। नागार्जुन इस प्रश्न पर सीधे विचार नहीं करते कि अविद्या का प्रारम्भ कब हुआ किन्तु बौद्ध दर्शन में सर्वमान्य द्वादश निदान पर विचार करते हैं जिसमें संसार का कारण अविद्या माना गया है। अविद्या की उत्पत्ति इसी जन्म के साथ नहीं हुई है, वह तो पूर्व जन्मों से चली आ रही है। इसलिये उसे अनादि ही माना जायेगा।

शंकर अविद्या को स्पष्ट रूप से अनादि मानते हैं। 'अनादि अविद्या' : अविद्या अनादि है।[४४] जगत् की उत्पत्ति करने वाली माया भी अनादि है, किन्तु वह अव्यक्त और व्यक्त दोनों रूपों में देखी जाती है। अव्यक्त माया परमेश्वर की शक्ति है। वह प्रलय और सृष्टि काल में सदा विद्यमान है। व्यक्त माया सृष्टि काल में ही उपलब्ध होती है। व्यक्त माया अव्यक्त माया का कार्य है।

शंकर और नागार्जुन में माया के संप्रत्यय में उस समय बिल्कुल भेद हो जाता है जब हम देखते हैं कि शंकर माया को ईश्वराश्रित मानते हैं और नागार्जुन ऐसे किसी आश्रय पर न विश्वास करते हैं और न उसका उल्लेख ही। यदि माया के पीछे किसी नित्य, स्थिर, अचल वस्तु की कल्पना की जाय तो वह भी माया ही होगी। उसका शून्यवाद न किसी नित्य वस्तु को टिकने देता है और न निरन्त अभाव ही स्वीकार करता है। जैसे तिमिर रोग होने पर नेत्रों के सामने रोयें से उड़ते दिखाई देते हैं और उनका आधार कुछ भी नहीं होता है वैसे ही यह सभी सृष्टि जिसमें अपना व्यक्तित्व भी सम्मिलित है, निराश्रित मायिक सृष्टि है ।

शंकर अविद्या के निवृत्त होने पर अपने नित्य सच्चिदानन्द स्वरूप को पाते हैं। उसे आत्मा, सर्वात्मा या ब्रह्म कहते हैं। नागार्जुन अविद्या निवृत्त होकर किसी नित्य का दर्शन नहीं करते हैं। वह समस्त दृष्टियों या धारणाओं से मुक्त होकर ही

निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं। उनके निर्वाण का अर्थ किसी नित्य आत्म-तत्त्व की उपलब्धि नहीं है, वरन् सर्व प्रकार के आत्मभाव से निवृत्त होना ही निर्वाण है।

नागार्जुन विद्या से अविद्या की निवृत्ति और उसमें समस्त दृष्टियों का निषेध मान कर माया मुक्त हो जाते हैं, किन्तु अज्ञानी व्यक्तियों के लिए विषयगत जगत् अनन्त काल तक चला करता है। वे व्यक्ति से स्वतन्त्र मायिक जगत् के आदि-अन्त पर विचार करना आवश्यक नहीं मानते हैं। वे इस प्रश्न पर चुप रहते हैं कि यह जगत् कभी लय होगा या नहीं। यदि वे संसार का लय मानें तो उन्हें यह भी बताना पड़ेगा कि वह किस नित्य वस्तु में लय होता है और यदि पुनः उत्पन्न होता है तो क्यों और कैसे ? इन सब प्रश्नों से बचने के लिए वे जगत् की उत्पत्ति आदि प्रश्नों में नहीं पड़ते हैं।

दोनों आचार्यों की माया विषयक अवधारणाओं का तुलनात्मक मूल्यांकन करने पर हम देखेंगे कि वे अपनी सम्प्रदाय-परम्परा से विमुक्त नहीं होना चाहते हैं। बौद्ध और वेदान्त दर्शनों में प्रारम्भ से ही संसार से विरक्त रहने का उपदेश दिया जा रहा था। वे विरक्त रहने के लिए संसार को नश्वर, क्षणिक और भ्रान्तिरूप बता रहे थे। नागार्जुन और शंकर ने भी उनके कथन को सत्य प्रमाणित करने के लिए तर्क की युक्तियाँ खोज लीं और अपने चिन्तन की अंतिम अवस्था में इस जगत् को मायामय देखने लगे।

दोनों में जो अन्तर दिखाई देता है वह उनकी चिन्तन प्रक्रिया के कारण है। नागार्जुन का चिन्तन निषेधात्मक है और शंकर का विधेयात्मक। नागार्जुन की निषेधात्मकता उस समय पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है जब वे कह देते हैं कि 'मेरी कोई प्रतिज्ञा ही नहीं है'। यदि वे जगत् या परम-तत्त्व के विषय में कुछ अस्ति-नास्ति कहते हों तब तो उसकी आलोचना या खण्डन किया जा सकता है। वे 'सर्व दृष्टि प्रहाणाय' माध्यमिक दर्शन की उद्भावना करते हैं। परिणामस्वरूप यह नहीं कहा जा सकता कि मायिक जगत् के मूल में कोई सत् वस्तु है। कदाचित् हो भी तो नागार्जुन उसके अस्ति-नास्ति के अथवा लौकिक पारमार्थिक स्वरूप के विषय में कोई प्रतिज्ञा नहीं कर सकते। वे निर्वाण की भी कोई विधेयात्मक अवस्था नहीं मानते हैं। वैसा करने पर एक निश्चित दृष्टि बन जाती है और वह उनके भूत सिद्धान्त के विरुद्ध पड़ती है।

इसके विपरीत शंकर की दृष्टि विधेयात्मक है। वे एक अखण्ड, अद्वितीय सत् तत्त्व (ब्रह्म) का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। उसका ज्ञाता उससे पृथक या भिन्न नहीं है। यदि कहीं कोई नानात्व दिखाई देता है तो वह इन्द्रियादि उपकरणों के माध्यम से

प्रतीत होने वाला आभास मात्र है। उसे शंकर मायिक रचना मानते हैं। विधेयात्मक दृष्टि से यदि कुछ सत् माना जाता है तो वह अद्वितीय होना ही चाहिए । समान स्तर के दो सत् हो ही नहीं सकते क्योंकि उस स्थिति में वे सीमित, परिछिन्न और नश्वर होंगे। नश्वर वस्तु सत् नहीं हो सकती है। इसलिए शंकर का विधेयात्मक तर्क ब्रह्म से पृथक् जगत् का अस्तित्व स्वीकार नहीं कर सकता है। जगत् नामरूप मात्र मायिक प्रतीति है जो परम सत् पर अध्यारोपित है। यह मत हमारी बुद्धि की इस स्वाभाविक माँग की पूर्ति करता है कि कोई भी नश्वर या परिवर्तनशील वस्तु का एक स्थिर आधार होना चाहिए ।

शंकर के मत में यह एक दोष हो सकता है कि परम-सत् उसके कार्य रूप बुद्धि के द्वारा ग्राह्य या अनुमान में आनेवाला न होने पर भी बुद्धि उसके विषय में कुछ परिकल्पना करके एक मिथ्या धारणा बना सकती है। यह अनुचित है। इसे शंकर भी स्वीकार करते हैं और उसके लिए बुद्धि के परे जाने का आग्रह करते हैं। नागार्जुन इस कठिनाई से बचने के लिए बुद्धि में किसी प्रतिज्ञा करने या किसी दृष्टि को निर्धारित करने की स्वीकृति नहीं देते। समस्त दृष्टि विहीन होकर 'तथता' प्राप्त की जा सकती है। भले ही शंकर के ब्रह्मज्ञान से नागार्जुन की 'तथता' अधिक यथार्थ हो किन्तु इतना तो हर प्रकार से निश्चित है कि जगत् का नानात्व मायिक आभास मात्र है।

संदर्भ-ग्रंथ एवं टिप्पणियाँ

१. *यथा बुद्बुदकं पस्से, यथा पस्से मरीचिकं ।*
एवं लोक अवेक्खन्तं, मच्चुराजा न पस्सति ।। (धम्मपद-१७०)

२. *वही, १७१ ।*

३. *सर्वधर्माः समाः सर्वे समाः समसमाः सदा ।*
एवं ज्ञात्वा विजानाति निर्वाणममृतं शिवम् ।। (सद्धर्म., पृ. १४३)

४. *यदि निर्वाणादप्यन्यः कश्चिद् धर्मो विशिष्टतरः स्यात् ।*
तमप्यहं मायोपमं स्वप्नोपमिति वदेयम् ।। (अष्ट., पृ. ४०)

५. *नामरूपमेव मायैव नामरूपम् । (शत.सा., पृ. ८९८)*

६. *माध्यमकशास्त्र, कारिका १ व २ ।*

७. *यथा माया यथा स्वप्नो गंधर्वनगरं यथा।*
तथोत्पादस्तथा स्थानं भंग उदीरितः।। (मा.शा., ७.३४)

८. *क्लेशाः कर्माणि देहाश्च कर्तारश्च फलानि च।*
गन्धर्वनगराकारा मरीचिस्वप्नसंनिभाः।। (मा.शा., १७.३३)

९. *प्रसन्नपदा, पृ. ७४ ।*

१०. *वही, पृ. ७२ ।*

११. *वही, पृ. १४३ ।*

१२. चतुःशतक, १३.२५ ।
१३. समाधिराज-सूत्र, ९.१७ ।
१४. वही, ९.११ ।
१५. केशाण्डुकं यथा मिथ्या गृह्यते तैमिरिकैर्जनैः ।
तथा भावविकल्पोऽयं मिथ्या बलैर्विकप्यते ।। (लंकावतारसूत्र ३:५१)
१६. मा.शा., पृ. १४९ ।
१७. मा.शा., पृ. १३ ।
१८. वही, पृ. २४४ ।
१९. ऋग्वेद, ६.४७.१८ ।
२०. वही, ५-६३.३ ।
२१. अथर्ववेद, ८.९.५ ।
२२. रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय । इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेति .... । (बृह., २.५.१९)
२३. छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि, भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति ।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धा ।। (श्वे., ४.९)
२४. मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ।। (श्वे., ४.१०)
२५. तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्यमनृतं न माया चेति ।
(प्रश्न., १.१६)
२६. संभवाम्यात्ममायया (गीता, ४.६)
२७. दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया (गीता, ७.१४)
२८. गीता, १४.५ ।
२९. गीता, ७.१५ ।
३०. गीता, ५.१५ ।
३१. स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरे यथा ।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ।। (गौ.का., २.३१)
३२. कल्पयत्यात्मनात्मानमात्मा देवः स्वमायया ।
स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्त निश्चयः ।। (गौ.का., २.१२)
३३. गौ.का., १.१६ ।
३४. अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा ।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते ।। (वि.चू., १०८)
३५. सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो ।
भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो ।।
सांगाप्यनंगा ह्युभयात्मिका नो ।
महाद्भुताऽनिर्वचनीय रूपा ।। (वि.चू., १०९)
३६. अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी

महासुषुप्तिः यस्यां स्वरूप प्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः । .... अव्यक्ता हि सा माया, तत्वान्यत्वनिरूपणस्याशक्यत्वात्, (ब्र.सू., १.४.३)

३७. ब्र.सू., ९.४.३ ।

३८. मा.शां., ७.३४ ।

३९. गौडपादकारिका ।

४०. गीता, १३.२९ ।

४१. चन्द्रकीर्ति लिखते हैं : 'आचार्यो भूयसा प्रसंगापत्तिमुखनैक परपक्ष निराकरोति स्म' अर्थात् नागार्जुन बार-बार प्रसंगापति के द्वारा परपक्ष का निराकरण करते हैं। मा.शा., १-३ पृ. ८।

४२. संसारमूलान्संस्कारानविद्वान् संस्करोत्यतः। मा.शा., २९.१० । अविद्या निरुद्धा संस्कारणामसंभवः। मा.शा., २९-११ ।

४३. गीता, १३.२३ ।

४४. विवेक चूड़ामणि ।

भारतीय दार्शनिक चिन्तन में अनेकांत

सागरमल जैन

अनेकांतवाद को मुख्यत: जैन दर्शन का पर्याय माना जाता है। यह कथन सत्य भी है क्योंकि अन्य दार्शनिकों ने उसका खण्डन मुख्यत: उसके इसी सिद्धान्त के आधार पर किया है। दूसरी ओर, यह भी सत्य है कि अनेकांतवाद का विकास और तार्किक आधारों पर उसकी पुष्टि जैन दार्शनिकों ने की है। अत: अनेकांतवाद को जैन दर्शन का पर्याय मानना समुचित भी है। किन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं है कि अन्य भारतीय दर्शनों में इसका पूर्णत: अभाव है। अनेकांत एक अनुभूत सत्य है और अनुभूत सत्य को स्वीकार करना ही होता है। विवाद या मत-वैभिन्य अनुभूति के आधार पर नहीं, उसकी अभिव्यक्ति के आधार पर होता है : अभिव्यक्ति के लिए भाषा का सहारा लेना होता है किन्तु भाषायी अभिव्यक्ति अपूर्ण, सीमित और सापेक्ष होती है। अत: उसमें मतभेद होता है और उन मतभेदों की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार करने या उनमें परस्पर विरोधी कथ्यों के बीच समन्वय लाने के प्रयास में ही अनेकांतवाद का जन्म होता है। वस्तुत: अनेकांतवाद या अनैकांतिक दृष्टिकोण का विकास तीन आधारों पर होता है :

(१) बहु-आयामी वस्तु-तत्त्व के सम्बन्ध में ऐकांतिक विचारों या कथनों का निषेध।

(२) भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं के आधार पर बहु-आयामी वस्तु-तत्त्व के सम्बन्ध में प्रस्तुत विरोधी कथनों की सापेक्षिक सत्यता की स्वीकृति।

(३) परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली विचारधाराओं को समन्वित करने का प्रयास।

प्रस्तुत आलेख में हमारा प्रयोजन इन अवधारणाओं के आधार पर जैनेतर भारतीय चिन्तन में अनैकांतिक दृष्टिकोण कहाँ-कहाँ और किस रूप में उल्लिखित हैं, इसका दिग्दर्शन कराना है।

वेदों में प्रस्तुत अनेकांत दृष्टि

भारतीय साहित्य में वेद प्राचीनतम है। उनमें भी *ऋग्वेद* सबसे प्राचीन माना जाता है। *ऋग्वेद* न केवल परम-तत्त्व के सत् और असत् पक्षों को स्वीकार करता है अपितु इनके मध्य समन्वय भी करता है। *ऋग्वेद*[1] में परम-तत्त्व के सत् या असत् होने के सम्बन्ध में न केवल जिज्ञासा प्रस्तुत की गई अपितु ऋषि ने यह भी कह दिया कि परम सत्ता को हम न सत् कह सकते हैं और न असत्। इस प्रकार वस्तु-तत्त्व

की बहु-आयामिता और उसके अपेक्षा भेद से परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले पक्षों की युगपदीय उपस्थिति की स्वीकृति हमें वेद-काल से ही मिलने लगती है। मात्र इतना ही नहीं, *ऋग्वेद* का यह कथन 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'[२] परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली मान्यताओं की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार करते हुए, उनमें समन्वय करने का प्रयास ही तो है। इस प्रकार हमें अनैकांतिक दृष्टि के अस्तित्व के प्रमाण *ऋग्वेद*-काल से ही मिलने लगते हैं। यह बात न केवल वैदिक ऋषियों द्वारा अनैकांतिक दार्शनिक दृष्टि की स्वीकृति की सूचक है अपितु इस सिद्धान्त की त्रैकालिक सत्यता और प्राचीनता की भी सूचक है। चाहे विद्वानों की दृष्टि में सप्तभंगी का विकास एक परवर्ती घटना हो, किन्तु अनेकांत तो उतना ही पुराना है जितना *ऋग्वेद* का यह अंश।

ऋग्वेद ऋषियों के समक्ष सत्ता या परम-तत्व के बहु-आयामी होने का पृष्ठ खुला हुआ था और यही कारण है कि वे किसी ऐकान्तिक दृष्टि में आबद्ध होना नहीं चाहते थे। *ऋग्वेद*[३] इस तथ्य का सबसे बड़ा प्रमाण है : नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं नासीद्रजो न व्योमपरोयत्।

सत्य तो यह है कि उस परम सत्ता को, जो समस्त अस्तित्व के मूल में है, सत्, असत्, उभय या अनुभय किसी एक कोटि में आबद्ध नहीं किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, उसके सम्बन्ध में जो भी कथन किया जा सकेगा वह भाषा की सीमितता के कारण सापेक्ष ही होगा, निरपेक्ष नहीं। यही कारण है कि वैदिक ऋषि उस परम सत्ता या वस्तु-तत्त्व को सत्-असत् नहीं कहना चाहते हैं, किन्तु प्रकारान्तर से वे उसे सत् भी कहते हैं, यथा, 'एकम् सद् विप्रा वदन्ति' और असत् भी कहते हैं, यथा, 'देवानाम् पूर्वे युगे असतः सद्जायत', इससे यही फलित होता है कि वैदिक ऋषि अनाग्रही एवं अनेकांत दृष्टि के ही सम्पोषक रहे हैं।

औपनिषदिक साहित्य और अनेकांतवाद

न केवल वेदों में, अपितु उपनिषदों में भी इस अनैकांतिक दृष्टि के उल्लेख के अनेक संकेत उपलब्ध हैं। उपनिषदों में अनेक स्थलों पर परम सत्ता के बहु-आयामी होने और उसमें परस्पर विरोधी कहे जाने वाले गुण-धर्मों की उपस्थिति के संदर्भ मिलते हैं। जब हम उपनिषदों में अनैकांतिक दृष्टि के सन्दर्भों की खोज करते हैं तो उनमें हमें निम्न तीन प्रकार के दृष्टिकोण उपलब्ध होते हैं :

(१) अलग-अलग सन्दर्भों में परस्पर विरोधी विचारधाराओं का प्रस्तुतीकरण।

(२) ऐकान्तिक विचारधाराओं का निषेध।

(३) परस्पर विरोधी विचारधाराओं के समन्वय का प्रयास।

सृष्टि का मूलतत्त्व सत् है या असत्? इस समस्या के सन्दर्भ में हमें उपनिषदों में दोनों ही प्रकार की विचारधाराओं के संकेत उपलब्ध होते हैं। *तैतिरीय उपनिषद्*[४] में कहा गया है कि प्रारम्भ में असत् ही था, उसी से सत् उत्पन्न हुआ। इसी विचारधारा की पुष्टि *छान्दोग्योपनिषद्*[५] में भी उपलब्ध होती है। उसमें भी कहा गया है कि सर्वप्रथम असत् ही था। उससे सत् हुआ और सत् से सृष्टि हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन दोनों में असत्वादी विचारधारा का प्रतिपादन हुआ, किन्तु इसके विपरीत उसी *छान्दोग्योपनिषद्*[६] में यह भी कहा गया कि पहले अकेला सत् ही था, उसी से यह सृष्टि हुई है। *बृहदारण्यकोपनिषद्*[७] में भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए कहा गया है कि जो कुछ भी सत्ता है उसका आधार लोकातीत सत् ही है। प्रपंचात्मक जगत् इसी सत् से उत्पन्न होता है।

इसी तरह विश्व का मूल तत्त्व जड़ है या चेतन? इस प्रश्न को लेकर उपनिषदों में दोनों ही प्रकार के सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं। एक ओर *बृहदारण्यकोपनिषद्*[८] में याज्ञवल्क्य मैत्रेयी से कहते हैं कि चेतना इन्हीं भूतों में से उत्पन्न होकर उन्हीं में लीन हो जाती है तो दूसरी ओर *छान्दोग्योपनिषद्*[९] में कहा गया है कि पहले अकेला सत् (चित-तत्त्व) ही था, दूसरा कोई नहीं था। उसने सोचा कि मैं अनेक हो जाऊँ और इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति हुई। इसी तथ्य की पुष्टि *तैतिरीयोपनिषद्*[१०] से भी होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषदों में परस्पर विरोधी विचारधारायें प्रस्तुत की गयीं हैं। यदि ये सभी विचारधारायें सत्य हैं तो इससे औपनिषदिक ऋषियों की अनेकान्त दृष्टि का ही परिचय मिलता है। यद्यपि ये सभी संकेत एकान्तवाद को प्रस्तुत करते हैं, किन्तु विभिन्न एकान्तवादों की स्वीकृति में ही अनेकान्तवाद का जन्म होता है, अतः हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि औपनिषदिक चिन्तन में विभिन्न एकान्तवादों को स्वीकार करने की अनैकान्तिक दृष्टि अवश्य थी। पुनः उपनिषदों में हमें ऐसे अनेक संकेत मिलते हैं जहाँ एकान्तवाद का निषेध किया गया है। *बृहदारण्यकोपनिषद्*[११] में ऋषि कहता है कि वह स्थूल भी नहीं है और सूक्ष्म भी नहीं है। वह ह्रस्व भी नहीं है और दीर्घ भी नहीं है। इस प्रकार यहाँ हमें स्पष्टतया एकान्तवाद का निषेध प्राप्त होता है। एकान्त के निषेध के साथ-साथ सत्ता में परस्पर विरोधी गुण-धर्मों की उपस्थिति के संकेत भी हमें उपनिषदों में मिल जाते हैं। *तैतिरीयोपनिषद्*[१२] में कहा गया है कि वह परम सत्ता मूर्त-अमूर्त, वाच्य-अवाच्य, विज्ञान (चेतन)-अविज्ञान (जड़), सत्-असत् रूप है। इसी प्रकार *कठोपनिषद्*[१३] में उस परम सत्ता में सूक्ष्मता और महत्ता दोनों ही परस्पर विरोधी धर्म एक साथ स्वीकार

करने का अर्थ अनेकान्त की स्वीकृति के अतिरिक्त क्या हो सकता है ? पुनः, उसी *उपनिषद्*[१४] में एक ओर आत्मा को ज्ञान का विषय बताया गया है, वहीं दूसरी ओर, उसे ज्ञान का अ-विषय बताया गया है। जब इसकी व्याख्या का प्रश्न आया तो आचार्य शंकर को भी कहना पड़ा कि यहाँ अपेक्षा भेद से जो अज्ञेय है उसे सूक्ष्म ज्ञान का विषय बताया गया है। यही उपनिषद्कारों का अनेकान्त है। इसी प्रकार *श्वेताश्वरोपनिषद्*[१५] में भी उस परम सत्ता को क्षर एवं अक्षर, व्यक्त एवं अव्यक्त ऐसे परस्पर विरोधी धर्मों से युक्त कहा गया है। यहाँ भी सत्ता या परम-तत्त्व की बहु-आयामिता या अनैकान्तिकता स्पष्ट होती है। मात्र यही नही, यहाँ परस्पर विरुद्ध धर्मों की एक साथ स्वीकृति इस तथ्य का प्रमाण है कि उपनिषदकारों की शैली अनेकान्तात्मक रही है। यहाँ हम देखते हैं कि उपनिषदों का दर्शन, जैन दर्शन के समान ही, सत्ता में परस्पर विरोधी गुण-धर्मों को स्वीकार करता प्रतीत होता है। मात्र यही नहीं, उपनिषदों में परस्पर विरोधी मतवादों के समन्वय के सूत्र भी उपलब्ध होते हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि उपनिषद्कारों ने न केवल एकान्त का निषेध किया, अपितु सत्ता में परस्पर विरोधी गुण-धर्मों की स्वीकृति भी प्रदान की। जब औपनिषदिक ऋषियों को यह लगा होगा कि परम-तत्त्व में परस्पर विरोधी गुण-धर्मों की एक ही साथ स्वीकृति तार्किक दृष्टि से युक्तिसंगत नहीं होगी तो उन्होंने इस परम-तत्त्व को अनिर्वचनीय या अवक्तव्य भी मान लिया। *तैत्तरीय उपनिषद्* में यह भी कहा गया है कि वहाँ वाणी की पहुँच नहीं है और उसे मन के द्वारा भी प्राप्त नहीं किया जा सकता : 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्यमनसा सह'। इससे ऐसा लगता है कि *उपनिषद्*-काल में सत्ता के सत्, असत्, उभय और अवक्तव्य/अनिर्वचनीय, ये चारों पक्ष स्वीकृत हो चुके थे। किन्तु औपनिषदिक ऋषियों की विशेषता यह है कि उन्होंने उन विरोधों के समन्वय का मार्ग भी प्रशस्त किया। इसका सबसे उत्तम प्रतिनिधित्व हमें *ईशावास्योपनिषद्* में मिलता है। उसमें कहा गया है कि 'अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्', अर्थात् वह गतिरहित है, फिर भी मन से एवं देवों से तेज गति करता है। 'तदेजति तन्नेजति तद्दूरे तद्वन्तिके', अर्थात् वह चलता है और नहीं भी चलता है, वह दूर भी है और पास भी है।

इस प्रकार उपनिषदों में जहाँ विरोधी प्रतीत होने वाले अंश हैं, वहीं उनमें समन्वय को मुखरित करने वाले अंश भी प्राप्त होते हैं। परम सत्ता के एकत्व-अनेकत्व, जड़त्व-चेतनत्व आदि विविध आयामों में से किसी एक को स्वीकार कर उपनिषद् काल में अनेक दार्शनिक दृष्टियों का उदय हुआ। जब ये दृष्टियाँ अपने-अपने मन्तव्यों को

ही एक मात्र सत्य मानते हुए, दूसरे का निषेध करने लगीं तब सत्य के अन्वेषकों को एक ऐसी दृष्टि का विकास करना पड़ा जो सभी की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार करते हुए उन विरोधी विचारों का समन्वय कर सके। यह विकसित दृष्टि अनेकान्त दृष्टि है जो वस्तु में प्रतीति के स्तर पर दिखाई देने वाले विरोध के अन्तस् में अविरोध को देखती है और सैद्धान्तिक द्वन्द्वों के निराकरण का एक व्यावहारिक एवं सार्थक समाधान प्रस्तुत करती है। इस प्रकार अनेकान्तवाद विरोधों के शमन का एक व्यावहारिक दर्शन है। वह उन्हें समन्वय के सूत्र में पिरोने का सफल प्रयास करता है।

ईशावास्य में पग-पग पर अनेकान्त जीवन-दृष्टि के संकेत प्राप्त होते हैं। वह अपने प्रथम श्लोक में ही 'त्येन त्यक्तेन भुन्जीथा मा गृध: कस्य स्विद्धनम्' कह कर त्याग एवं भोग जैसे इन दो विरोधी तथ्यों का समन्वय करता है एवं एकान्त त्याग और एकान्त भोग दोनों को सम्यक् जीवन दृष्टि के लिए अस्वीकार करता है। जीवन न तो एकान्त त्याग पर चलता है और न एकान्त भोग पर, बल्कि जीवन यात्रा त्याग और भोगरूपी दोनों चक्रों के सहारे चलती है। इस प्रकार *ईशावास्य* सर्वप्रथम अनेकान्त की व्यावहारिक जीवन दृष्टि को प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार कर्म और अकर्म सम्बन्धी ऐकान्तिक विचारधाराओं में समन्वय करते हुए *ईशावास्य* कहता है कि 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतां समा:', अर्थात् मनुष्य निष्कामभाव से कर्म करते हुए सौ वर्ष जिये। निहितार्थ यह है कि जो कर्म सामान्यतया सकाम या सप्रयोजन होते हैं वे बन्धनकारक होते हैं, किन्तु यदि कर्म निष्काम भाव से बिना किसी स्पृहा के हों तो उसमें मनुष्य लिप्त नहीं होता, अर्थात् वे बन्धनकारक नहीं होते। निष्काम कर्म की यह जीवन-दृष्टि व्यावहारिक जीवन-दृष्टि है। भेद-अभेद की व्यावहारिक दृष्टि से समन्वय करते हुए उसी में आगे कहा गया है कि :

यस्तु सर्वाणिभूतान्यात्मन्येवानु पश्यति।
सर्वभूतेषुचात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।[१६]

अर्थात् , जो सभी प्राणियों में अपनी आत्मा को और अपनी आत्मा में सभी प्राणियों को देखता है वह किसी से भी घृणा नहीं करता। यहाँ जीवात्माओं में भेद एवं अभेद दोनों को एक साथ स्वीकार किया गया है। यहाँ भी ऋषि की अनेकान्त दृष्टि ही परिलक्षित होती है जो समन्वय के आधार पर पारस्परिक घृणा को समाप्त करने की बात कहती है।

एक अन्य स्थल पर विद्या (अध्यात्म) और अविद्या (विज्ञान)[१७] में तथा असम्भूति (कारण-ब्रह्म)[१८] अथवा वैयक्तिकता और सामाजिकता में भी समन्वय करने

का प्रयास किया गया है। ऋषि कहता है कि जो अविद्या की उपासना करता है वह अन्धकार में प्रवेश करता है, और जो विद्या की उपासना करता है वह उससे भी गहन अन्धकार में प्रवेश करता है,[१९] और जो दोनों को जानता है या दोनों का समन्वय करता है वह अविद्या से मृत्यु पर विजय प्राप्त कर विद्या से अमृत तत्त्व को प्राप्त करता है।[२०] यहाँ विद्या और अविद्या, अर्थात् अध्यात्म और विज्ञान की परस्पर समन्वित साधना अनेकान्त दृष्टि के व्यावहारिक पक्ष को प्रस्तुत करती है। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि सत्ता की बहु-आयामिता और समन्वयवादी व्यावहारिक जीवन दृष्टि का अस्तित्व बुद्ध और महावीर से पूर्व उपनिषदों में भी था, जिसे अनेकान्त दर्शन का आधार माना जा सकता है।

सांख्य दर्शन और अनेकांतवाद

भारतीय षट्दर्शनों में सांख्य एक प्राचीन दर्शन है। इसकी कुछ अवधारणाएँ हमें उपनिषदों में भी उपलब्ध होती हैं। यह भी जैन दर्शन के जीव एवं अजीव की तरह पुरुष एवं प्रकृति, दो मूल तत्त्व, मानता है। उसमें पुरुष को कूटस्थ नित्य और प्रकृति को परिणामी नित्य माना गया है। इस प्रकार उसके द्वैतवाद में एक तत्त्व परिवर्तनशील है और दूसरा अपरिवर्तनशील। इस प्रकार सत्ता के दो पक्ष परस्पर विरोधी गुण-धर्मों से युक्त हैं। फिर भी उनमें एक सह सम्बन्ध है। पुनः, यह कूटस्थ नित्यता भी उस मुक्त पुरुष के सम्बन्ध में है जो प्रकृति से अपनी पृथकता की अनुभूति कर चुका है। सामान्य संसारी जीव/पुरूष में तो प्रकृति के संयोग से, अपेक्षा भेद से, नित्यत्व और परिणामीत्व दोनों ही मान्य किये जा सकते हैं। पुनः, प्रकृति तो जैन दर्शन के सत् के समान परिणामी-नित्य मानी गई है, अर्थात् उसमें परिवर्तनशील एवं अपरिवर्तनशील दोनों विरोधी गुण-धर्म अपेक्षा भेद से रहते हैं। पुनः, त्रिगुण - सत्त्व, रजस् और तमस् - परस्पर विरोधी हैं, फिर भी प्रकृति में वे तीनों एक साथ रहते हुए सांख्य दर्शन के सत्त्वगुण स्थिति का, रजोगुण उत्पाद या क्रियाशीलता का, तमोगण विनाश या निष्क्रियता का प्रतीक हैं। अतः मेरी दृष्टि में सांख्य का त्रिगुणात्मकता का सिद्धान्त और जैन दर्शन का उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मकता का सिद्धान्त एक दूसरे से अधिक दूर नहीं है। सत्ता की बहु-आयामिता और परस्पर गुण-धर्मों की युगपद् अवस्थिति, यही तो अनेकांत है। द्रव्य की नित्यता और पर्याय की अनित्यता, जैन दर्शन के समान, सांख्यों को भी मान्य है। पुनः, प्रकृति और विकृति दोनों परस्पर विरोधी हैं, किन्तु सांख्य दर्शन में बुद्धि (महत्), अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ प्रकृति और विकृति दोनों ही माने गये हैं। पुनः, निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों परस्पर

विरोधी हैं, किन्तु सांख्य दर्शन की प्रकृति में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों गुण पाये जाते हैं। सांसारिक पुरुषों की अपेक्षा से वह प्रवृत्यात्मक और मुक्त पुरुष की अपेक्षा से निवृत्यात्मक देखी जाती है। इसी प्रकार पुरुष में अपेक्षा भेद से भोक्तृत्व और अभोक्तृत्व दोनों गुण देखे जाते हैं। यद्यपि मुक्त पुरुष कूटस्थ नित्य है फिर भी सांसारिक दशा में उसमें कर्तृत्व गुण देखा जाता है, चाहे वह प्रकृति के निमित्त ही क्यों न हो। सांसारिक दशा में पुरुष में ज्ञान-अज्ञान, कर्तृत्व-अकर्तृत्व, भोक्तृत्व-अभोक्तृत्व के विरोधी गुण रहते हैं। सांख्य दर्शन की इस मान्यता का समर्थन महाभारत में लिखा गया है :[२१]

> यो विद्वान् सहसवासं विवासं चैव पश्यति।
> तथैवैकत्व नानात्वे स दुःखात् परिमुच्यते।।

अर्थात् जो विद्वान जड़-चेतन के भेदाभेद को तथा एकत्व और नानात्व को देखता है वह दुःख से छूट जाता है। जड़ (शरीर) और चेतन (आत्मा) का यह भेदाभेद तथा एकत्व में अनेकत्व और अनेकत्व में एकत्व की यह दृष्टि अनेकांतवाद की स्वीकृति के अतिरिक्त और क्या हो सकती है। वस्तुतः सांख्य दर्शन में पुरुष और प्रकृति में आत्यन्तिक भेद माने बिना मुक्ति/कैवल्य की अवधारणा सिद्ध नहीं होगी किन्तु दूसरी ओर उन दोनों में आत्यन्तिक भेद मानेंगे तो संसार की व्याख्या सम्भव नहीं होगी। संसार की व्याख्या के लिए उनमें आंशिक या सापेक्षिक अभेद और मुक्ति की व्याख्या के लिए उनमें सापेक्षिक भेद मानना भी आवश्यक है। पुनः, प्रकृति और पुरुष को स्वतंत्र तत्त्व मानकर भी किसी न किसी रूप में उसमें उन दोनों की पारस्परिक प्रभावकता मानी गई है। प्रकृति में जो विकार उत्पन्न होता है वह पुरुष का सानिध्य पाकर ही होता है। इसी प्रकार चाहे हम बुद्धि (महत्) और अहंकार को प्रकृति का विकार माने किन्तु उनके चैतन्य रूप में प्रतिभाषित होने के लिए उनमें पुरुष का प्रतिबिम्बित होना आवश्यक है। चाहे सांख्य दर्शन बन्धन और मुक्ति को प्रकृति के आश्रित माने, फिर भी जड़ प्रकृति के तादात्म्य बुद्धि का कर्ता तो किसी न किसी रूप में पुरुष को स्वीकार करना होगा क्योंकि जड़ प्रकृति के बन्धन और मुक्ति की अवधारणा तार्किक दृष्टि से सबल सिद्ध नहीं होती है।

वस्तुतः द्वैतवादी दर्शनों की, चाहे वह सांख्य हो या जैन, कठिनाई यह है कि उन दो तत्त्वों की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया या आंशिक तादात्म्य माने बिना संसार और बन्धन की व्याख्या सम्भव नहीं होती है, और दोनों को एक दूसरे से निरपेक्ष या स्वतंत्र माने बिना मुक्ति की अवधारणा सिद्ध नहीं होती है। अतः किसी न किसी

स्तर पर उनमें अभेद और किसी न किसी स्तर पर उनमें भेद मानना आवश्यक है। यही भेदाभेद की दृष्टि ही अनेकांत की आधार-भूमि है जिसे किसी न किसी रूप में सभी दर्शनों को स्वीकार करना ही होता है। सांख्य दर्शन चाहे बुद्धि, अहंकार आदि को प्रकृति का विकार माने किन्तु संसारी पुरुष को उससे असम्पृक्त नहीं किया जा सकता है। *योगसूत्र*[२२] *भाष्य* में कहा गया है :

'स पुरुषोबुद्धेः प्रति संवेदी सबुद्धेर्नस्वरूपो नात्यन्तविरूप इति। न तावत्स्वरूपः कस्मात् ज्ञाता-ज्ञातविषयत्वात् अस्तु तर्हि विरूप इति नात्यन्तं विरूपः कस्मात् शुद्धोऽप्यसौ प्रत्ययानुपश्यो यतः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति।'

अतः प्रकृति और पुरुष दो स्वतन्त्र तत्त्व होकर भी उनमें पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया घटित होती है। उन दो तत्त्वों के बीच भेदाभेद ही बंधन और मुक्ति की व्याख्याओं का आधार है।

योग दर्शन और अनेकांतवाद

जैन दर्शन द्रव्य और गुण या पर्याय, दूसरे शब्दों में, धर्म और धर्मी में एकांत अभेद को स्वीकार नहीं करके भेदाभेद स्वीकार करता है और यही उसके अनेकांतवाद का आधार है। यही दृष्टिकोण हमें *योगसूत्र भाष्य* में भी मिलता है :[२३]

'न धर्मीत्र्यध्वा धर्मास्तु त्र्यध्वान ते लक्षिता-अलक्षिताश्च तान्तामवस्थां प्राप्नुवन्तो ऽन्यत्वेन प्रति निर्दिश्यन्ते अवस्थान्तरतो न द्रव्यान्तरतः। यथैक रेखा शत-स्थाने शतं दशस्थाने दशैकं चैकस्थाने। यथाचैकत्वेपि स्त्री माताचोच्यते दुहिता च स्वसा चेति।'

इसी तथ्य को उसमें इस प्रकार भी प्रकट किया गया है : 'यथा सुवर्ण भाजनस्य भित्वान्यथा क्रियमाणस्य भावान्यथात्वं भवति न सुवर्णान्यथात्वम्।'

इन दोनों सन्दर्भों से यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार एक ही स्त्री अपेक्षाभेद से माता, पुत्री अथवा सास कहलाती है, उसी प्रकार एक ही द्रव्य अवस्थान्तर को प्राप्त होकर भी वही रहता है। एक स्वर्ण पात्र को तोड़कर जब कोई अन्य वस्तु बनाई जाती है तो उसकी अवस्था बदलती है किन्तु स्वर्ण वही रहता है, अर्थात् नहीं बदलता है, किन्तु अवस्था बदलती है। यही सत्ता का नित्यानित्यत्व या भेदाभेद है जो जैन दर्शन में अनेकांतवाद का आधार है। इस भेदाभेद को आचार्य वाचस्पति मिश्र इसी स्थल की टीका में स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हुए लिखते हैं : 'अनुभव एव ही धर्मिणो धर्मादिनां भेदाभेदो व्यवस्थापयन्ति।'

मात्र इतना ही नहीं, वाचस्पति मिश्र तो स्पष्ट रूप से एकान्तवाद का निरसन करके अनेकांतवाद की स्थापना करते हैं। वे लिखते हैं : 'नह्यैकान्तिकेऽभेदे धर्मादीनां

धर्मिणो धर्मोरूपवद् धर्मादित्वं नाप्यैकान्तिके भेदे गवाश्चवद् धर्मादित्वं स चानुभवोऽनेकान्तिकत्वमस्थापयन्नपि धर्मादिषूपजनापाय धर्मकेष्वपि धर्मिणमेंकमनुगमयन् धर्माश्च परस्रतो व्यवर्तयन् प्रत्यात्मनुभूतयत इति।' एकान्त का निषेध और अनेकांत की पुष्टि का योग दर्शन में इससे बड़ा कोई और प्रमाण नहीं हो सकता है।

योग दर्शन भी जैन दर्शन के समान ही सत्ता को सामान्य विशेषात्मक मानता है, *योग सूत्र*[२४] में कहा गया है :

'सामान्य विशेषात्मनोऽर्थस्य'। इसी बात को किन्चित् शब्दभेद के साथ विभूतिपाद[२५] में भी कहा गया है : 'सामान्य विशेष समुदायोऽत्र द्रव्यम्'। मात्र इतना ही नहीं, योग दर्शन में द्रव्य की नित्यता-अनित्यता को उसी रूप में स्वीकार किया गया है जिस रूप में अनेकांत दर्शन में। *महाभाष्य* के पशपशाह्निक में प्रतिपादित है : 'द्रव्यनित्यमाकृतिरनित्या, सुवर्णं कयाचिदाकृत्यायुक्तं पिण्डो भवति पिण्डाकृतिमुपमृद्य रूचका: क्रियन्ते, रूचकाकृतिमुपमृद्य कटका: क्रियन्ते ......आकृतिरन्याचान्याभवति द्रव्यं पुनस्त्तदेव आकृत्युपमृदेन द्रव्यमेवावशिष्यते।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि सांख्य और योग दर्शन की पृष्ठभूमि में कहीं न कहीं अनेकांत दृष्टि अनुस्यूत है।

वैशेषिक दर्शन और अनेकांत

वैशेषिक दर्शन में जैन दर्शन के समान ही प्रारम्भ में तीन पदार्थों की कल्पना की गई, वे हैं : द्रव्य, गुण और कर्म, जिन्हे हम जैन दर्शन के द्रव्य, गुण और पर्याय कह सकते हैं। यद्यपि वैशेषिक दर्शन भेदवादी दृष्टि से इन्हें एक दूसरे से स्वतन्त्र मानता है, फिर भी उसे इनमें आश्रय-आश्रयीभाव तो स्वीकार करना ही पड़ता है। ज्ञातव्य है कि जहाँ आश्रय-आश्रयीभाव होता है, वहाँ उनमें कथंचित् या सापेक्षिक सम्बन्ध तो मानना ही पड़ता है। उन्हें एक दूसरे से पूर्णत: निरपेक्ष या स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता है। चाहे वैशेषिक दर्शन उन्हें एक दूसरे से स्वतंत्र कहें, फिर वे असम्बद्ध नहीं हैं। अनुभूति के स्तर पर द्रव्य से पृथक गुण और द्रव्य, और गुण से पृथक कर्म नहीं होते हैं। यही उनका भेदाभेद है, अनेकांत है।

पुन:, वैशेषिक दर्शन में सामान्य और विशेष नामक दो स्वतंत्र पदार्थ माने गये हैं। उनमें भी सामान्य के दो भेद किये गये हैं : पर सामान्य और अपर सामान्य। पर सामान्य को ही सत्ता भी कहा गया है वह शुद्ध अस्तित्व सामान्य है, किन्तु जो अपर सामान्य है वह सामान्य विशेष रूप है। द्रव्य, गुण और कर्म अपर सामान्य हैं और अपर सामान्य होने से सामान्य विशेष उभय रूप हैं। *वैशेषिक सूत्र*[२६] में कहा भी गया है : 'द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाश्च।'

द्रव्य, गुण और कर्म को युगपद् सामान्य-विशेष उभय रूप मानना तो अनेकांत है। द्रव्य किस प्रकार सामान्य विशेषात्मक है, इसे स्पष्ट करते हुए[२७] कहा गया है : 'सामान्यं विशेषं इति बुद्धयपेक्षम्।'

सामान्य और विशेष यह ज्ञान बुद्धि या विचार की अपेक्षा से है। इसे स्पष्ट करते हुए भाष्यकार प्रशस्तपाद कहते हैं : 'द्रव्यत्वं पृथ्वीत्वापेक्षया सामान्यं सत्तापेक्षया च विशेष इति।' द्रव्यत्व पृथ्वी नामक द्रव्य की अपेक्षा से सामान्य है और सत्ता की अपेक्षा से विशेष है। दूसरे शब्दों में, एक ही वस्तु अपेक्षाभेद से सामान्य और विशेष दोनों ही कही जा सकती हैं। अपेक्षाभेद से वस्तु में विरोधी प्रतीत होने वाले पक्षों को स्वीकार करना, यही तो अनेकांत है। उपस्कार कर्ता ने तो स्पष्टतः कहा है, 'सामान्यं विशेषसंज्ञामपि लभते', अर्थात् वस्तु केवल सामान्य अथवा केवल विशेष रूप न होकर सामान्य-विशेष रूप है और इसी तथ्य में अनेकांत की प्रस्थापना है।

पुनः, वस्तु सत्-असत् रूप है, इस तथ्य को भी कणाद महर्षि ने अन्योन्याभाव के प्रसंग में स्वीकार किया है। वे लिखते हैं : 'सच्चासत्। यच्चान्यदसदतस्तदसत'।[२८] व्याख्या में उपस्कार कर्ता ने जैन दर्शन के समान ही कहा है : 'यत्र सदैव घटादि असदितिव्यवर्वियते तत्र तादात्म्याभावः प्रतीयते। भवति हि असनश्वो गवात्मना असन् गौरश्वरात्मना, असन् पटो घटात्मना।' तात्पर्य यह है कि वस्तु स्व स्वरूप की अपेक्षा से अस्ति-रूप है और पर स्वरूप की अपेक्षा से नास्ति-रूप है। वस्तु में स्व की सत्ता की स्वीकृति और पर की सत्ता का अभाव मानना यही तो अनेकांत है जो वैशेषिकों को भी मान्य है। अस्तित्व नास्तित्व पूर्वक और नास्तित्व अस्तित्व पूर्वक है।

न्याय दर्शन और अनेकांत

न्याय दर्शन में *न्यायसूत्र* के भाष्यकार वात्स्यायन ने[२९] अनेकांतवाद का आश्रय लिया है। वे लिखते हैं : 'एतच्च विरुद्धयोरेकधर्मिस्थयोर्बोधव्यं, यत्र तु धर्मी सामान्यगतो विरुद्धौधर्मौ हेतुतः सम्भवतः तत्र समुच्चयः हेतुतोऽर्थस्य तथाभावोपपतेः...', अर्थात् जब एक ही धर्मी में अनेक विरुद्ध धर्म विद्यमान हों तो विचार पूर्वक ही निर्णय लिया जाता है, किन्तु जहाँ धर्मी सामान्य में (अनेक) धर्मों की सत्ता प्रामाणिक रूप से सिद्ध हो, वहाँ पर तो उसे समुच्चय रूप, अर्थात् अनेक धर्मों से युक्त ही मानना चाहिए, क्योंकि वहाँ पर तो वस्तु उस रूप में ही सिद्ध है। तात्पर्य यह है कि यदि दो धर्मों में आत्यन्तिक विरोध नहीं है और वे सामान्य रूप से एक ही वस्तु में अपेक्षाभेद से पाये जाते हैं तो उन्हें स्वीकार करने में न्याय दर्शन को आपत्ति नहीं है।

इसी प्रकार जाति और व्यक्ति में कथंचित् अभेद और कथंचित् भेद मानकर

जाति को भी सामान्य विशेषात्मक माना गया है। भाष्यकार वात्स्यायन[३०] लिखते हैं : 'उच्च केषांचिदभेदं कुतश्चिद् भेदं करोति तत्सामान्य विशेषो जातिरिति।'

यह सत्य है कि जाति सामान्य रूप भी है किन्तु जब वह पदार्थों में कथंचित् अभेद और कथंचित् भेद करती है तो वह जाति सामान्य-विशेषात्मक होती है। यहाँ जाति को, जो सामान्य की वाचक है, सामान्य-विशेषात्मक मानकर अनेकांतवाद की पुष्टि की गई है। क्योंकि अनेकांतवाद व्यष्टि और समष्टि का अन्तर्भाव मानता है। व्यक्ति के बिना जाति की और जाति के बिना व्यक्ति की कोई सत्ता नहीं है। उनमें कथंचित् भेद और कथंचित अभेद है। सामान्य में विशेष और विशेष में सामान्य अपेक्षा भेद से निहित रहते हैं, यही तो अनेकांत है।

सत्ता सत्-असत् रूप है। यह बात भी न्याय दर्शन में कार्य-कारण की व्याख्या के प्रसंग में प्रकारान्तर से स्वीकृत है। पूर्वपक्ष के रूप में[३१] यह कहा गया है कि उत्पत्ति के पूर्व कार्य को न तो सत् कहा जा सकता है, न असत् ही कहा जा सकता है और न उभय रूप ही कहा जा सकता है क्योंकि दोनों मे वैधर्म्य है (नासन्न सन्नसदसत् सदसतोर्वैधर्म्यात्)।

इसका उत्तर टीका में विस्तार से दिया गया है। किन्तु हम विस्तार में न जाकर संक्षेप में उनके उत्तर पक्ष को प्रस्तुत करेंगें। उनका कहना है कि कार्य उत्पत्ति के पूर्व कारण रूप से सत् है क्योंकि कारण के असत् होने से कोई उत्पत्ति ही नहीं होगी। पुनः, कार्य रूप से वह असत् भी है क्योंकि यदि सत् होता तो फिर उत्पत्ति का क्या अर्थ होता। अतः उत्पत्ति पूर्व कार्य कारण रूप से सत् और कार्य रूप से असत् होता है। इस प्रकार कार्य उत्पत्ति पूर्व सत्-असत् उभय रूप है, यह बात बुद्धि सिद्ध है। (विस्तृत विवेचना के लिए देखें *न्यायसूत्र* (४/१/४८-५०) की वैदिक मुनि हरिप्रसाद स्वामी की टीका)

मीमांसा दर्शन और अनेकांतवाद

जिस प्रकार अनेकांतवाद के सम्पोषकों ने जैन-दर्शन में वस्तु को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक माना है, उसी प्रकार मीमांसा दर्शन में भी सत्ता को त्रयात्मक माना गया है। उसके अनुसार उत्पत्ति और विनाश तो धर्मों के हैं, धर्मी तो नित्य है। वह उत्पत्ति और विनाश के भी पूर्व है, अर्थात् नित्य है। वस्तुतः जो बात जैन दर्शन में द्रव्य की नित्यता और पर्याय की अनित्यता की अपेक्षा से कही गई है, वही बात धर्मी और धर्म की अपेक्षा से मीमांसा दर्शन में कही गई है। यहाँ पर्याय के स्थान पर धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है। स्वयं कुमारिल भट्ट [३२] लिखते हैं :

१. वर्द्धमानक भंगे च रूचक क्रियते यद्।
तदा पूर्वार्थिन शोकः प्रीतिश्चाभ्युत्तरार्थिनः।।
२. हेमर्थिनस्तु माध्यस्थं तस्माद्वस्तु भयात्कम्।
नोत्पद स्थिति भंगानामभावे स्यान्मतित्रयम्।।
३. न नाशेन बिना शोको नोत्पादेन बिना सुखम्।
स्थित्या बिना न माध्यास्थ्यं तेन सामान्य नित्यता।।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप त्रिपदी की जो स्थापना जैन दर्शन में है, वही बात शब्दान्तर से उत्पत्ति-विनाश और स्थिति के रूप में मीमांसा दर्शन ने कही है। कुमारिल भट्ट के द्वारा पदार्थ को उत्पत्ति, विनाश और स्थिति-युक्त मानना, अवयवी और अवयव में भेदाभेद मानना, सामान्य और विशेष को सापेक्ष मानना आदि तथ्य इसी बात को स्पष्ट करते हैं कि उनके दार्शनिक चिन्तन की पृष्ठभूमि में कहीं न कहीं अनेकांत के तत्त्व उपस्थित हैं। *श्लोकवार्तिक वनवाद*[३३] में तो वे स्वयं अनेकांत की प्रमाणिकता सिद्ध करते हैं :

वस्त्वनेकवादाच्च न संदिग्धा प्रमाणता।
ज्ञानं संदिह्यते यत्र तत्र न स्यात् प्रमाणता।।
इहानैकांतिकं वस्त्वित्येवं ज्ञानं सुनिश्चितम्।

इसी अंक की टीका में पार्थसारथी मिश्र ने भी स्पष्टतः अनेकांतवाद शब्द का प्रयोग किया है। यथा, 'ये चैकान्तिकं भेदमभेदं वाऽवयविनः समाश्रयन्ते तैरेवायमनेकांतवाद।'

मात्र इतना ही नहीं, उसमें वस्तु को स्व-स्वरूप की अपेक्षा सत्, पर स्वरूप की अपेक्षा असत् और उभय रूप से सदासत् रूप माना गया है, यथा, 'सर्व हि वस्तु स्वरूपतः सद्रूपं पररूपतश्चासद्रूपं यथा घटो घट रूपेण सत्, पटरूपेण.....'।[३४]

यहाँ कुछ ही सन्दर्भ प्रस्तुत किये गये हैं। यदि भारतीय दर्शनों के मूल ग्रन्थों और उनकी टीकाओं का सम्यक् परिशीलन किया जाये तो ऐसे अनेक तथ्य परिलक्षित होंगे जो उन दर्शनों की पृष्ठभूमि में रही हुई अनेकांत दृष्टि को स्पष्ट करते हैं। अनेकांत एक अनुभूत्यात्मक सत्य है। इसे नकारा नहीं जा सकता है। अन्तर मात्र उसके प्रस्तुतीकरण की शैली का होता है।

वेदांत दर्शन और अनेकांतवाद

भारतीय दर्शनों में वेदान्त दर्शन वस्तुतः एक दर्शन नहीं अपितु दर्शन समूह वाचक है। *ब्रह्मसूत्र* को केन्द्र में रखकर जिन दर्शनों का विकास हुआ वे सभी इस वर्ग में समाहित किये गये हैं। इसके अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैत आदि अनेक

सम्प्रदाय हैं। 'नैकस्मिन्न तत्तुसमन्वयात्' (*ब्रह्मसूत्र* २/२/३३) की व्याख्या करते हुए इन सभी दार्शनिकों ने जैन दर्शन के अनेकांतवाद की समीक्षा की है। मैं यहाँ, उनकी समीक्षा कितनी उचित है या अनुचित है, इस चर्चा में नहीं जाना चाहता हूँ क्योंकि उनमें से प्रत्येक ने कमोवेश रूप में शंकर का ही अनुसरण किया है। यहाँ मेरा प्रयोजन मात्र यह दिखाना है कि वे अपने मन्तव्यों की पुष्टि में किस प्रकार अनेकांतवाद का सहारा लेते हैं।

आचार्य शंकर सृष्टिकर्ता ईश्वर के प्रसंग में प्रवृत्त-अप्रवृत्त दो परस्पर विरोधी गुणों को स्वीकारते हैं। वे लिखते हैं[३५] :

ईश्वरस्य तु सर्वज्ञत्वात् सर्व शक्तिमत्वात्
महामायत्वाच्च प्रवृत्त्यप्रवृत्त न विरुध्यते।।

पुनः, माया को न ब्रह्म से पृथक् कहा जा सकता है और न अपृथक क्योंकि पृथक् मानने पर अद्वैत खण्डित होता है और अपृथक् मानने पर ब्रह्म माया के कारण विकारी सिद्ध होता है। पुनः, माया को न सत् कह सकते हैं और न असत्। यदि माया असत् है तो सृष्टि कैसे होगी और यदि माया सत् है तो फिर मुक्ति कैसे होगी। वस्तुतः, माया न सत् और न असत्, न ब्रह्म से भिन्न है और न अभिन्न। यहाँ अनेकांतवाद जिस बात को विधिमुख से कह रहा है, शंकर उसे ही निषेधमुख से कह रहे हैं। अद्वैतवाद की कठिनाई यही है। वह माया की स्वीकृति के बिना जगत् की व्याख्या नहीं कर सकता है और माया को सर्वथा असत् या सर्वथा सत् अथवा ब्रह्म से सर्वथा भिन्न या सर्वथा अभिन्न ऐसा कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। वह परमार्थ के स्तर पर असत् और व्यवहार के स्तर पर सत् है। यहीं तो उनके दर्शन की पृष्ठभूमि में अनेकांत का दर्शन होता है। शंकर इन्हीं कठिनाइयों से बचने हेतु माया को जब अनिवर्चनीय कहते हैं तो वे किसी न किसी रूप में अनेकांतवाद को ही स्वीकार करते प्रतीत होते हैं।

आचार्य शंकर के अतिरिक्त भी *ब्रह्मसूत्र* पर टीका लिखने वाले अनेक आचार्यों ने अपनी व्याख्याओं में अनेकांत दृष्टि को स्वीकार किया है। महामति भास्कराचार्य[३६] लिखते हैं :

यदप्युक्तं भेदाभेदयोर्विरोध इति,
तदभिधीयते अनिरूपित प्रमाण प्रमेय तत्वस्येदं चोद्यम्।
अतो भिन्नाभिन्नरूपं ब्रह्मेतिस्थितम् ।।
संग्रह श्लोक :
कार्यरूपेण नानात्वमभेदः कारणात्मना।
हेमात्मना यथाऽभेद कुण्डलाद्यात्मनाभिदा।। (पृ. १६-१७)

यद्यपि यह कहा जाता है कि भेद-अभेद में विरोध है किन्तु यह बात वही व्यक्ति कह सकता है जो प्रमाण-प्रमेय तत्त्व से सर्वथा अनभिज्ञ है।

इस कथन के पश्चात् अनेक तर्कों से भेदाभेद का समर्थन करते हुए, अन्त में, वह कह देते हैं कि ब्रह्म भिन्नाभिन्न रूप से स्थित है, यह सिद्ध हो गया। कारण रूप में वह अभेद रूप है और कार्य रूप में वह नाना रूप है, जैसे, स्वर्ण कारण रूप मे एक है किन्तु कुण्डल आदि कार्यरूप में अनेक।

यह कथन भास्कराचार्य को प्रकारान्तर से अनेकांतवाद का सम्पोषक ही सिद्ध करता है। अन्यत्र भी 'भेदाभेद रूपं ब्रह्मेति समाधिगत'[३७] कहकर उन्होंने अनेकांत दृष्टि का ही पोषण किया है।

भास्कराचार्य के समान यति प्रवर विज्ञान भिक्षु ने *ब्रह्मसूत्र* पर *विज्ञानामृत भाष्य* लिखा है, उसमें वे अपने भेदाभेदवाद का न केवल पोषण करते हैं, अपितु अपने मतं की पुष्टि में *कर्मपुराण, नारद पुराण, स्कन्द पुराण* आदि से सन्दर्भ भी प्रस्तुत करते हैं।[३८] यथा,

त एते भगवद्रूपं विश्वं सदासदात्कम्।
चैतन्यापेक्षया प्रोक्तं व्यमादि सकलं जगत्।।
असत्यं सत्यरूपं तु कुम्भकुण्डाद्यपेक्षया।।[३९]

ये सभी सन्दर्भ अनेकांत के सम्पोषक हैं, यह तो स्वत: सिद्ध है। इसी प्रकार निम्बार्काचार्य ने भी अपनी *ब्रह्मसूत्र* की *वेदान्त पारिजात सौरभ* नामक टीका में 'तत्तुसमन्वयात्' (१/१/४) की टीका करते हुए लिखा है : 'सर्वभिन्ना भिन्नौ भगवान् वासुदेवो विश्वात्मैव जिज्ञासा विषय इति।'

शुद्धाद्वैत मत के संस्थापक आचार्य वल्लभ भी *ब्रह्मसूत्र* के श्री[४०] में लिखते हैं :

सर्ववादानसरं नानावादानुरोधि च।
अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म कूटस्थं चलमेव च।।
विरुद्ध सर्वधर्माणां आश्रयं युक्त्यगोचरं।

अर्थात्, वह अनन्तमूर्ति ब्रह्म कूटस्थ भी है और चल (परिवर्तनशील) भी है, उसमें सभी वादों के लिए अवसर (स्थान) है, वह अनेक वादों का अनुरोधी है, सभी विरोधी धर्मों का आश्रय है और युक्ति से अगोचर है। यहाँ रामानुजाचार्य जो बात ब्रह्म के सम्बन्ध में कह रहे हैं, प्रकारान्तर से अनेकान्तवादी जैन दर्शन तत्त्व के स्वरूप के सम्बन्ध में कहता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि न केवल वेदान्त में अपितु ब्राह्मण परम्परा में मान्य छहों दर्शनों के दार्शनिक चिन्तन में अनेकांतवादी दृष्टि अनुस्यूत है।

श्रमण परम्परा का दार्शनिक चिन्तन और अनेकांत

भारतीय दार्शनिक चिन्तन में श्रमण परम्परा के दर्शन न केवल प्राचीन हैं अपितु वैचारिक अर्थात् अनेकांत के सम्पोषक भी रहे हैं। वस्तुत: भारतीय श्रमण परम्परा का अस्तित्व औपनिषदिक काल से भी प्राचीन है। उपनिषदों में श्रमणधारा और वैदिक धारा का समन्वय देखा जा सकता है। उपनिषद्-काल में दार्शनिक चिन्तन की विविध धाराएँ अस्तित्व में आ गई थीं, अत: उस युग के चिन्तकों के सामने मुख्य प्रश्न यह था कि इनके एकांगी दृष्टिकोण का निराकरण – इनमें समन्वय किस प्रकार स्थापित किया जाये। इस सम्बन्ध में हमारे समक्ष तीन विचारक आते हैं – संजय वेलट्ठी पुत्त, गौतमबुद्ध और वर्द्धमान महावीर।

संजय वेलट्ठीपुत्त और अनेकांत

संजय वेलट्ठीपुत्त बुद्ध के समकालीन छह तीर्थंकारों में एक थे। उन्हें अनेकांतवाद सम्पोषक इस अर्थ में माना जा सकता है कि वे एकांतवादों का निरसन करते थे। उनके मन्तव्य का निर्देश बौद्ध ग्रन्थों में इस रूप में पाया जाता है :

(१) है ? नहीं कहा जा सकता।

(२) नहीं है ? नहीं कहा जा सकता।

(३) है भी और नहीं भी ? नहीं कहा जा सकता।

(४) न है और न नहीं है ? नहीं कहा जा सकता।

इस सन्दर्भ से यह फलित है कि वह किसी भी दृष्टि से एकान्तवादी दृष्टि के समर्थक नहीं थे। एकान्तवाद का निरसन अनेकांतवाद का प्रथम आधार बिन्दु है और इस अर्थ में उन्हें अनेकांतवाद के प्रथम चरण का सम्पोषक माना जा सकता है। यही कारण रहा होगा कि राहुल सांकृत्यायन जैसे विचारकों ने यह अनुमान किया कि संजय वेलट्ठीपुत्त के दर्शन के आधार पर जैनों ने स्याद्वाद (अनेकांतवाद) का विकास किया। किन्तु उनका यह प्रस्तुतीकरण वस्तुत: उपनिषदों के सत्, असत्, उभय (सत्-असत्) और अनुभय का ही निषेध रूप से प्रस्तुतीकरण है। इसमें एकान्त का निरसन तो है किन्तु अनेकांत स्थापना नहीं है। संजय वेलट्ठीपुत्त की यह चतुर्भंगी किसी रूप में बुद्ध के एकांतवाद के निरसन की पूर्वपीठिका है।

प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन और अनेकांतवाद

भगवान् बुद्ध का मुख्य लक्ष्य अपने युग के ऐकान्तिक दृष्टिकोणों का निरसन करना था, अत: उन्होंने विभज्यवाद को अपनाया। विभज्यवाद प्रकारान्तर से अनेकांतवाद का ही पूर्व रूप है। बुद्ध और महावीर दोनों ही विभज्यवादी थे।

सूत्रकृतांग[४१] में भगवान महावीर ने अपने भिक्षुओं को स्पष्ट निर्देश दिया था कि वे विभज्यवाद की भाषा का प्रयोग करें (विभज्जवायं वियणरेज्जा) अर्थात् किसी भी प्रश्न का निरपेक्ष उत्तर नहीं दें। बुद्ध स्वयं अपने को विभज्यवादी कहते थे। विभज्यवाद का तात्पर्य है प्रश्न का विश्लेषण पूर्वक सापेक्ष उत्तर देना। *अगंतुर निकाय* में किसी प्रश्न का उत्तर देने की चार शैलियाँ वर्णित हैं :

(१) एकांशवाद, अर्थात् सापेक्षिक उत्तर देना।

(२) विभज्यवाद, अर्थात् प्रश्न का विश्लेषण करके सापेक्षिक उत्तर देना।

(३) परिप्रश्न पूर्वक उत्तर देना।

(४) मौन रह जाना (स्थापनीय) अर्थात् जब उत्तर देने में एकान्त में पड़ना पड़े तो वहाँ मौन रह जाना।

हम देखते हैं कि एकान्त से बचने के लिए बुद्ध ने या तो मौन का सहारा लिया या फिर विभज्यवाद को अपनाया। उनका मुख्य लक्ष्य यही रहा कि परम-तत्त्व या सत्ता के सम्बन्ध में शाश्वतवाद, उच्छेदवाद जैसी परस्पर विरोधी विचारधाराओं में से किसी को भी स्वीकार नहीं करना। *त्रिपिटक* में ऐसे अनेक सन्दर्भ हैं जहाँ भगवान बुद्ध ने एकान्तवाद का निरसन किया है। जब उनसे पूछा गया, क्या आत्मा और शरीर अभिन्न हैं? वे कहते हैं, मैं ऐसा नहीं कहता। फिर, जब यह पूछा गया, क्या आत्मा और शरीर भिन्न हैं ? उन्होंने कहा, मैं ऐसा भी नहीं कहता हूँ। जब उनसे यह पूछा गया कि गृहस्थ आराधक होता है या प्रव्रजित ? तो उन्होंने अनेकांत शैली में कहा कि यदि गृहस्थ और त्यागी मिथ्यावादी हैं तो आराधक नहीं हो सकते। यदि दोनों सम्यक् आचरण करने वाले हैं तो वे आराधक हो सकते हैं।[४२] इसी प्रकार जब महावीर से जयंती ने पूछा, भगवन् सोना अच्छा या जागना ? तो उन्होंने कहा, कुछ का सोना अच्छा है, कुछ का जागना। पापी का सोना अच्छा है और धर्मात्मा का जागना। इस प्रकार प्रारम्भिक बौद्ध धर्म में एकान्तवाद का निरसन और विभज्यवाद के रूप में अनेकांत-दृष्टि का समर्थन देखा जा सकता है।

यदि बुद्ध और महावीर के दृष्टिकोण में कोई अन्तर देखा जाता है तो वह यही कि बुद्ध ने एकान्तवाद के निरसन पर अधिक बल दिया। उन्होंने या तो मौन रहकर या फिर विभज्यवाद की शैली को अपना करके एकान्तवाद से बचने का प्रयास किया। बुद्ध की शैली प्रायः निरसन या निषेधपरक रही, परिणामतः उनके दर्शन का विकास शून्यवाद में हुआ, जबकि महावीर की शैली विधानपरक रही, अतः उनके दर्शन का विकास अनेकांत या स्याद्वाद में हुआ।

स्याद्वाद और शून्यवाद

बौद्ध दार्शनिक चेतना का विकास शून्यवाद के रूप में देखा जाता है, किन्तु हमें स्मरण रखना होगा कि शून्यवाद और स्याद्वाद का विकास विभज्यवाद से ही हुआ है। भगवान बुद्ध ने शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनों को अस्वीकार कर अपने मार्ग को मध्यम प्रतिपदा कहा और महावीर ने शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनों की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार कर अपने मार्ग को अनैकान्तिक बताया। बौद्ध परम्परा में विकसित मध्यम प्रतिपदा या शून्यवाद और जैन परम्परा में विकसित अनेकांतवाद या स्याद्वाद दोनों का लक्ष्य ऐकान्तिक दार्शनिक अवधारणाओं की अस्वीकृति ही था। दोनों में फर्क इतना ही है कि जहाँ शून्यवाद एक निषेध-प्रधान शैली को अपनाता है, वहाँ स्याद्वाद एक विधानपरक शैली को अपनाता है। शून्यवाद के प्रमुख ग्रन्थ *माध्यमककारिका* के प्रारम्भ में ही नागार्जुन लिखते हैं :

अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम्।
अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम्।।
यः प्रतीत्य समुत्पादं प्रपंचोपशमं शिवम्।
देशयामास संबुद्धस्तं वन्दे द्विपदां वरम्।।

प्रस्तुत कारिका का तात्पर्य यही है कि वह परम सत्ता न तो विनाश को प्राप्त होती है और न उसका उत्पाद होता है, वह उच्छिन्न भी नहीं होती और वह शाश्वत भी नहीं होती, वह एक भी नहीं है और अनेक भी नहीं है। उसका आगम भी नहीं है और उसका निर्गम भी नहीं है। इसी बात को प्रकारान्तर से इस प्रकार भी कहा गया है [४१] :

न सद् नासद् न सदसत् न चानुभयात्मकम्।
चतुष्कोटि विनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदु।।

अर्थात्, परम तत्त्व न सत् है, न असत् है, न सत्-असत् है और न सत्-असत् दोनों नहीं है। यही बात प्रकारान्तर से विधिमुख शैली में जैनाचार्यों ने भी कही है:

यदेवतत्तदेवातत् यदेवैकं तदेवानेकं।
यदेवसत् तदेवासत्, यदेवनित्यं तदेवानित्यम्।।

अर्थात्, जो तत् रूप है वही अतत् रूप भी है, जो एक है वही अनेक भी है, जो सत् है वही असत् भी है, जो नित्य है वही अनित्य भी है।

उपरोक्त प्रतिपादनों में निषेधमुख शैली और विधिमुख शैली का अन्तर अवश्य है, किन्तु तात्पर्य में इतना अन्तर नहीं है, जितना समझा जाता है। एकान्तवाद का

निरसन दोनों का उद्देश्य है। शून्यवाद और स्याद्वाद में मौलिक भेद निषेधात्मक और विधानात्मक शैली का है। ऐकान्तिक दोष को शून्यवादी और स्याद्वादी दोनों ही देखते हैं। किन्तु जहाँ शून्यवादी उस एकान्त के दोष के भय से उसे अस्वीकार कर देता है, वहाँ अनेकांतवादी उसके आगे स्यात् शब्द रखकर उस दूषित एकान्त को निर्दोष बनाने का प्रयत्न करता है।

शून्यवाद तत्त्व को चतुष्टकोटि विनिर्मुक्त शून्य कहता है तो स्याद्वाद उसे अनन्तधर्मात्मक कहता है, किन्तु स्मरण रखना होगा कि शून्य और अनन्त का गणित एक जैसा ही है। शून्यवाद जिसे परमार्थ सत्य और लोक-संवृत्ति सत्य कहता है उसे जैन दर्शन निश्चय और व्यवहार कहता है। तात्पर्य यह है कि अनेकांतवाद और शून्यवाद की पृष्ठभूमि में बहुत कुछ समरूपता है।

उपसंहार

प्रस्तुत विवेचन से यह स्पष्ट है कि समग्र भारतीय दार्शनिक चिन्तन की पृष्ठभूमि में अनैकांतिक दृष्टि रही हुई है, चाहे उन्होंने अनेकांत के सिद्धान्त को उसके सम्यक् परिप्रेक्ष्य में ग्रहण न कर उसकी खुलकर समालोचना ही की हो। वस्तुतः अनेकांत एक सिद्धान्त नहीं, एक पद्धति है। फिर चाहे कोई भी दर्शन हो, बहु-आयामी परम-तत्त्व की अभिव्यक्ति के लिए उसे इस पद्धति को स्वीकार करना ही होता है। चाहे हम सत्ता को निरपेक्ष मान लें और यह भी मान लें कि उसकी निरपेक्ष अनुभूति भी सम्भव है किन्तु निरपेक्ष अभिव्यक्ति सम्भव नहीं होती है। निरपेक्ष अनुभूति की अभिव्यक्ति का जब भी भाषा के माध्यम से कोई प्रयत्न किया जाता है, वह सीमित और सापेक्ष बन कर रह जाती है। अनन्त धर्मात्मक परम-तत्त्व की अभिव्यक्ति का जो भी प्रयत्न होगा वह तो सीमित और सापेक्ष ही होगा। एक सामान्य वस्तु का चित्र भी जब बिना किसी कोण के सम्भव नहीं है तो फिर उस अनन्त और अनिर्वचनीय के निर्वचन का दार्शनिक प्रयत्न अनेकांत की पद्धति को अपनाये बिना कैसे सम्भव है। यही कारण है कि चाहे कोई भी दर्शन हो, उसकी प्रस्थापना के प्रयत्न में अनेकांत की भूमिका अवश्य निहित है और यही कारण है कि भारतीय दार्शनिक चिन्तन की पृष्ठभूमि में अनेकांत का दर्शन रहा है।

• सभी भारतीय किसी न किसी रूप में अनेकांत को स्वीकृति देते हैं, इस तथ्य का निर्देश आचार्य यशोविजय ने *आध्यात्मोपनिषद्* में किया है। हम प्रस्तुत आलेख का उपसंहार उन्हीं के शब्दों में अगले पृष्ठ पर करेंगे।

चित्रमेकमनेकं च रूपं प्रामाणिक वदन्।
योगोविशेषको वापि नानेकांतं प्रतिक्षिपेत्।।
विज्ञानस्यमैकाकारं नानाकार करम्वितम्।
इच्छंस्तथागतः प्राज्ञो नानेकांतं प्रतिक्षिपेत्।।
जातिवाक्यात्मकं वस्तु वदन्ननुभवोचितम्।
भाट्टो वा मुरारिर्वा नानेकांतं प्रतिक्षिपेत्।।
अबद्धं परमार्थेन बद्धं च व्यवहारतः।
ब्रुवाणो ब्रह्मवेदान्ती नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत्।।
ब्रुवाण भिन्न-भिन्नार्थन् नयभेद व्यपेक्षया।
प्रतिक्षिपेयुर्नो वेदाः स्याद्वादं सार्वतान्त्रिकं।।

सन्दर्भ-ग्रंथ और टिप्पणियाँ

१. नासदीयसूक्त, १०/१२१ ।
२. ऋग्वेद, १/१६४/४६ ।
३. नासदीय सूक्त, १०/१२१/१ ।
४. तैत्तिरीयोपनिषद्, २.७ ।
५. छान्दोग्योपनिषद्, ३/१९/१ ।
६. वही, ६:२:१-३ ।
७. बृहदारण्यकोपनिषद्, १:४:१-४ ।
८. वही, २:४:१२ ।
९. छान्दोग्योपनिषद्, ६:२:१,३ ।
१०. तैत्तिरीयोपनिषद्, २:६ ।
११. बृहदारण्यकोपनिषद्, ३:८:८ ।
१२. तैत्तिरीयोपनिषद्, २:६ ।
१३. कठोपनिषद्, १:२० ।
१४. वही, ३:१२ ।
१५. श्वेताश्वरोपनिषद्, १.७ ।
१६. ईशावास्य, ६ ।
१७. वही, १० ।
१८. वही, १२ ।
१९. वही, ९ ।
२०. वही, ११ ।
२१. आश्वमेधिक, अनुगीता, ३५वाँ अध्याय, १७वाँ श्लोक ।
२२. योगसूत्र, साधनापाद, सूत्र २० ।
२३. योगसूत्र, विभूतिपाद, सूत्र १३ का भाष्य ।

२४. योगसूत्र, समाधिपाद का सूत्र ७ ।
२५. योगसूत्र, विभूतिपाद, सूत्र ४४ ।
२६. वैशेषिकसूत्र, १/२/५ ।
२७. वैशेषिकसूत्र, ९/२/३ ।
२८. वैशेषिकसूत्र, ९/९/४-५ ।
२९. न्यायसूत्र, १/१/४१ का भाष्य ।
३०. न्याय सूत्र, २/२/६६ की टीका ।
३१. न्यायसूत्र, ४/१/४८/५० ।
३२. मीमांसा श्लोकवार्तिक, २१-२३ ।
३३. वही, श्लोक ७५-८० ।
३४. अभाव प्रकरण टीका ।
३५. ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य, २/२/४ ।
३६. ब्रह्मसूत्र, के 'तत्तु समन्वयात्', १/१/४ सूत्र की टीका ।
३७. वही, २/१/२२, टीका, पृ. १६४ ।
३८. विज्ञानामृत भाष्य, पृ. १११ ।
३९. वही, पृ. ६३ ।
४०. ब्रह्मसूत्र का भाष्य, पृ. ११५ ।
४१. सूत्रकृतांग, १/१/४/२२ ।
४२. मज्झिम निकाय, १९ ।
४३. माध्यमिक कारिका, २१३ ।

विवेकानंद और विनोबा दर्शन : तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य

गीता मेहता

स्वामी विवेकानंद और आचार्य विनोबा दोनों वेदांती थे। एक स्वतत्रंता के पूर्व हुए, दूसरे स्वातंत्र्य संग्राम के पश्चात् पनपे। दोनों ने उस जमाने की जरूरत और अपनी तेजस्वी मेधा से सामान्य जनों को वेदांत समझाने का प्रयत्न किया। दोनों ने वेदांत के स्वरूप को स्पष्ट करने वाले गूढ़ सिद्धांतों को सरल एवं सुग्राह्य रूप में हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया। दोनों ने भली-भाँति दर्शाया है कि व्यक्तिगत हित तथा समष्टिगत हित दोनों के लिए वेदांत कितना उपयोगी है।

वेदांत : भावी युग का धर्म

विवेकानंद सेन फ्रान्सिस्कों में ८ अप्रैल १९०० के भाषण में धर्म की आवश्यकतायें गिनाते हुए कहते हैं : एक आवश्यकता है ग्रंथ, दूसरी व्यक्ति विशेष के प्रति पूज्यभाव, तीसरी आवश्यकता यह है कि सबल और आत्म-विश्वास युक्त होने के लिए उसे केवल अपने को ही सत्य मानना चाहिए।

वेदांत इनमें से किसी पर भी विश्वास नहीं करता। उसकी सबसे मौलिक कठिनाई यही है कि किसी ग्रन्थ पर उसकी आस्था नहीं है। एक ग्रन्थ का दूसरे पर अधिकार उसे मान्य नहीं। कोई भी ग्रन्थ ईश्वर, जीव, परम-तत्त्व आदि सम्बन्धी सभी सत्यों का आश्रय हो सकता है, इस दावे का वह प्रबल विरोध करता है। वेदांत व्यक्ति विशेष की आराधना को और भी अधिक अग्राह्य मानता है। कोई भी एक स्त्री या पुरुष वेदान्तियों की आराधना का पात्र नहीं बन सका है। इससे भी अधिक कठिनता ईश्वर सम्बन्धी है; वेदांत जनतन्त्रतीय ईश्वर का ही उपदेश करता है। शायद यह कोई भी नहीं समझ पाता कि यथार्थ शक्ति, यथार्थ जीवन एवं वास्तविक बल अदृश्य-निरपेक्ष में छिपे हैं। वेदांत पूर्णरूपेण यही है। वेदांत का अभिमत है – तुम सब ईश्वर हो।[१]

विवेकानंद मानते हैं कि जनतन्त्र में विश्वास करने वाले समझना चाहें तो आसानी से वेदांती बन सकते हैं। उस समय भारत परतंत्र था लेकिन अमेरिका जनतांत्रिक था। इसलिए उन्हें अमेरिका से यह आशा थी। आज तो अधिकांश देश जनतंत्र हो गये हैं, इसलिए वेदांत के वैश्विक-धर्म बनने की पूरी संभावना है।[२]

विवेकानंद आगे कहते हैं : महापुरुषों के आविर्भाव का अनुकूल समय आयेगा और उनके सतत् प्रयास से धर्म की शिशुशालाएँ विनष्ट हो जायेंगी और यथार्थ धर्म - आत्मा से आत्मा की आराधना - अधिक सजीव और शक्तिशाली हो सकेगा।[३]

विनोबाजी विवेकानंद का महत्त्व बताते हुए कहते हैं कि एक बार किसी ने

स्वामी विवेकानंद के बारे में एक प्रबंध सुनाया था, उसमें एक बहुत बड़ी बात बतायी गयी थी। सभी धर्म सत्य नहीं हैं बल्कि सभी धर्मों में सत्य है। यह बिल्कुल ठीक बात है। जिनको धर्म का दर्शन हुआ था, वे अनुभवी द्रष्टा थे, साक्षात्कारी थे। उन्हें जो दर्शन हुआ, वह समाधि में हुआ। गौतम बुद्ध, कपिल महामुनि, महावीर, ईसा, मोहम्मद पैगम्बर, इन सबको जो अनुभव आया, वह समाधि में ही आया था। इस वास्ते वह सत्य ही होना चाहिए। फिर भी, उनके द्वारा फैलाये गये धर्मों में सब सत्य नहीं हो सकता । क्योंकि महापुरुषों को जो दर्शन हुआ, वह उनका अपना नहीं था, ईश्वर प्रदत्त था, लेकिन उन्होंने लोगों के सामने जो धर्म रखा, उसमें उनकी मानवता दाखिल हो गयी।[४]

स्वामी विवेकानंद की सराहना करते हुए विनोबाजी

स्वामी विवेकानंद के एक जन्मदिन पर विनोबा जी ने अपने व्याख्यान में कहा कि एक तीस बत्तीस साल का युवक, परतंत्र हिंदुस्तान में जन्मा हुआ, एक परकीय भाषा में पारंगत होकर, सन्यासी के रूप में मल्ल की तरह दंड ठोकते हुए, शिकागो की विश्वधर्म परिषद् में खड़ा होता है और भारत की तरफ से वेदांत की गर्जना सुनाता है। उस एक प्रवचन से समूची दुनिया पर प्रभाव पड़ता है कि हिंदुस्तान में एक जिंदा धर्म है। इससे सारी दुनिया में हिन्दुस्तान की इज़्ज़त स्थापित होती है। वह एक असाधारण घटना है। उस घटना से भारत की जो इज़्ज़त दुनिया में हुई उसको वे लोग नहीं भूल सकते जो उस परतंत्रता के काल में मृतप्राय भारतीय जनता को देख चुके हैं। वह एक नेता थे जिन्होंने भारत के लोगों पर आध्यात्मिक असर डाला।[५]

आगे विनोबाजी कहते हैं कि विवेकानंद ने जो विशेष बात की वह यह कि अद्वैत के साथ, जिसमें परमेश्वर की भिन्न-भिन्न उपासनाएँ समाविष्ट होती हैं, उसमें आर्त-सेवा और दरिद्रनारायण की सेवा को जोड़ दिया। यह दरिद्रनारायण शब्द भी उनका अपना है। प्लेग के दिनों में, जैसे महाराष्ट्र में लोकमान्य तिलक ने वैसे बंगाल में विवेकानंद ने साक्षात् सेवा का बहुत कार्य किया था। दरिद्रनारायण की सेवा का विचार अद्वैत के साथ जोड़ने की प्रक्रिया स्वामी विवेकानंद ने की थी। वह शब्द तिलक जी को भी बड़ा प्रिय था और देशबंधु चित्तरंजन दास ने उसे प्रचलित किया। उस शब्द को घर-घर पहुँचाने का काम और तदनुसार रचनात्मक कार्य को इससे जोड़ने का काम महात्मा गांधी ने किया। महात्मा गांधी और तिलक जी अन्तर्निष्ठ थे, इसलिए वाह्य जीवनाकार में वे विवेकानंद के बहुत नजदीक आते हैं।[६]

विवेकानंद द्वारा की गयी वेदांत सेवा की सराहना करते हुए विनोबाजी कहते हैं जहाँ तक भारतीय वेदांत का ताल्लुक है, अद्वैत के साथ मानव सेवा को जोड़ने का कार्य सर्वप्रथम विवेकानंद ने किया। उन्होंने यह बहुत बड़ी चीज की, जिसके

परिणामस्वरूप अद्वैत तत्त्व ज्ञान का, तत्त्साधक विभिन्न उपासनाएँ, तत्त्प्रकाशक भूत सेवा और तदतंर्गत मानव सेवा की उत्पत्ति हुयी। इस प्रकार जीवन में एकरसता का विचार भारत को मिल गया। महात्मा गांधी ने उस मानव सेवा के विचार को और भी व्यापक बनाकर उसके साथ उत्पादक शरीर परिश्रम की भी आवश्यकता स्पष्ट की।

विवेकानंद ने प्रतिपादित किया कि दरिद्र लोगों की सेवा करना और उन्हें नारायण - स्वरूप देखना ही नारायण की भक्ति है। इस तरह जनता और दरिद्र लोगों के प्रथम प्रतिनिधि स्वामी विवेकानंद हैं। उन्होंने दरिद्रनारायण की उपासना का आध्यात्मिक स्वरूप लोगों के सामने रखा। विवेकानंद 'दरिद्रनारायण' मंत्र के द्रष्टा थे, गाँधी जी ने उसे सार्थक किया। और हम उनके दासानुदास हैं। ऐसी यह नारायण परायण की परंपरा है।[७]

रामकृष्ण मिशन ने ईसाई धर्म से सेवा विचार की प्रेरणा लेकर उसे अद्वैत का अति सुंदर आधार दिया। जनसेवा से अद्वैत का प्रकाश फैलता है, अद्वैत से जनसेवा को आधार मिलता है। एक है बुनियाद, दूसरी है उस पर की गयी रचना। दोनों अत्यंत स्वाभाविक हैं। अद्वैत के आधार पर भूत-दया का किला और भी मजबूत बनता है। अद्वैत में सेवक और सेव्य का भेद मिट जाता है। यानी जिसकी हम सेवा करते हैं, उसे अपने से अलग नहीं समझते, मानो अपनी ही सेवा करते हैं। इसीलिए अहंकार का लेस नहीं रहता। अद्वैत और सेवा का यह मिश्रण अत्युत्तम रसायन बन गया। इस जमाने में यह बहुत बड़ी बात हुई।[८]

विनोबा भी वेदांत की नींव पर समाज खड़ा करना चाहते हैं । वह शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त का सार लोगों के समक्ष रखते हुए लिखते हैं :

वेदांतो विज्ञानं विश्वासः चेति शक्तयः तिस्त्रः।
यासां स्थर्ये नित्यं शांति समृद्धि भविष्यतो जगति ।।[९]

अर्थात् वेदांत, विज्ञान और विश्वास - ये तीनों शक्तियाँ हैं, जिसमें स्थिरता होने पर जगत् में शांति और समृद्धि आयेगी ।

शास्त्रीय ढंग से भी अद्वैत विचार का निरूपण करते हुए वे लिखते हैं :

अ) एकाग्र अद्वैत : जो एक साधन-निष्ठ होने के कारण दूसरे साधन सोच नहीं सकता।

ब) सामंजस्य अद्वैत : जो एक साधन-निष्ठ होकर दूसरे साधनों को मान्यता देता है।

स)   सारग्राही अद्वैत :   जो साधन समुच्चय-निष्ठ होता है।
द)   आत्यन्तिक अद्वैत :   जो साधन मात्र में अभेद का अनुभव करता है।[१०]

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति

विवेकानंद श्रुतिवाक्य 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्तिः' को मान्य करते हुए कहते हैं, "सत्ता एक ही है परन्तु मुनियों ने भिन्न-भिन्न नामों से उसका वर्णन किया है। और इस अत्यन्त अद्भुत भाव को हमें अब भी दुनिया को देना है। हमारे जातीय जीवन का मूल-मन्त्र यही है। और इस मूल-मन्त्र को चरितार्थ करने में ही हमारी जाति की समग्र जीवन समस्या का समाधान है।"[११]

विनोबा भी *गीता प्रवचन* में 'भी' वाद को मान्य करते हैं। 'यही सच है', कहने के बजाय 'यह भी सत्य है', कहने में ज्यादा विवेक और बुद्धिमानी समझते हैं। जैनों के स्यादवाद को वे 'यथा-योग्य' कहते हैं ।

ब्रह्म की अवधारणा

वेदांत के अनुसार 'सत्, चित्, आनंद' ब्रह्म का निरूपण है। विवेकानंद ने सत् की परिभाषा करते हुए कहा है कि जो देश, काल और कार्यकारण से अविछिन्न हो वही सत्य है। उनके अनुसार सत्, चित् और आनन्द ब्रह्म के गुण नहीं हैं, वे स्वयं ब्रह्म हैं। वे तीन पृथक् वस्तुएँ अथवा सत्ताएँ नहीं हैं। वास्तव में, वे तीन होते हुए भी एक हैं। ब्रह्म परम-सत् (सर्वोपरि सत्ता) है। अर्थात् उन्होंने निरपेक्ष, निराकार ब्रह्म को ही परम-सत् माना। ब्रह्म का विवेचन करते हुए विवेकानंद ने कहा है कि "वह एक है, स्वयंभू है। उसका कोई कारण नहीं है। न उसमें दिक् है, न काल और न कार्य-कारण।"[१२]

वह अविकल है, गुणातीत है, सुख-दुःख विर्निमुक्त है, न वह जड़ है, न चेतना वह सर्वोपरि है, अनंत है, निर्गुण आत्मा हर वस्तु में व्याप्त है, विश्व की अनन्त आत्मा है।[१३]

विनोबा ने अपने तात्त्विक विचारों को शास्त्रकार की भाँति एक श्लोक में आबद्ध करते हुए *गुरुबोध* की प्रस्तावना में लिखा है :

वेद-वेदांत-गीतानां विनुना सार उद्धतः ।
ब्रह्म सत्यं जगत् स्फूर्तिः जीवनं सत्य शोधनम् ।।

विनोबा यह मानते हैं कि ब्रह्म प्रचलित अर्थ में न तो सगुण है और न निर्गुण। यह दोनों से परे है । उनकी राय में 'ब्रह्म' केवल 'नेति' नहीं है। ब्रह्म 'नेति-नेति' है, जो सगुण भी नहीं, निर्गुण भी नहीं, वही वास्तविक निर्गुण है।[१४]

इस अर्थ में ब्रह्म शून्यता, एकता एवं अनन्तता का पर्यायवाची है।[१५]

ब्रह्म का विश्लेषण विनोबा निम्न प्रकार से भी करते हैं[१६] :

ब्रह्म = आत्मा

प्रत्यक्ष जनित ब्रह्म	अनुमित ब्रह्म	श्रुति ब्रह्म
(संसार)	(ईश्वर)	(वेद)

ईश्वर अनुमित ब्रह्म है जो ब्रह्म से अभिन्न है। यद्यपि इसे पूर्ण ब्रह्म नहीं कहा जा सकता।

सगुण ईश्वर

विवेकानंद ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "ईश्वर उतना ही सत्य है, जितना विश्व की अन्य कोई वस्तु।"[१७] वह अनंत, शुद्ध, नित्य, मुक्त, सर्व शक्तिमान, सर्वज्ञ, परम कारुणिक और गुरुओं का भी गुरु है। वह ईश्वर सर्वोपरि, अनिर्वचनीय और प्रेम-स्वरूप है।[१८] इसका मतलब यह नहीं कि ब्रह्म दो है। "वह सच्चिदानंद ही प्रेममय भगवान् है, वह सगुण और निर्गुण दोनों है। यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि भक्त का उपास्य सगुण ईश्वर, ब्रह्म से भिन्न अथवा पृथक नहीं है। सब कुछ वही एकमेवाद्वितीय ब्रह्म है। पर ब्रह्म का यह निर्गुण निरपेक्ष स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण प्रेम एवं उपासना के योग्य नहीं। इसलिए भक्त ब्रह्म के सापेक्ष भाव, अर्थात् परम नियन्ता ईश्वर, को ही उपास्य के रूप में ग्रहण करता है।"[१९] वे कहते हैं, "जब तक हमारा शरीर है, तब तक हम स्थूल जगत् की ओर दृष्टि किए हुए हैं, तब तक हमें सगुण ईश्वर को स्वीकार करना ही होगा। ऐसी अवस्था में ईश्वर को स्वीकार न करना निरा पागलपन है।"[२०] संसार के अधिकांश व्यक्ति द्वैतवादी हैं । ऐसे व्यक्ति जो साधारण बुद्धि के हैं, निर्गुण ब्रह्म की धारणा को ग्रहण करने में असमर्थ हैं।[२१] अतः एक व्यक्ति विशेष के रूप में ईश्वर की उपासना किये बिना मनुष्यों का काम नहीं चल सकता।[२२] वेदांत दर्शन का एक ही उद्देश्य है और वह है एकत्व की खोज।[२३]

हम जानते हैं कि हम जो कोई भी व्यावहारिक सत्ता देखते हैं, अनुभव करते हैं अथवा उसका चिन्तन करते हैं, वह अवश्य ही हमारे ज्ञान के द्वारा सीमाबद्ध है, अतएव वह ससीम होती है, और सगुण ईश्वर के सम्बन्ध में हमारी जैसी धारणा है उससे वह ईश्वर भी व्यावहारिक मात्र है। कार्य-कारण भाव केवल व्यावहारिक जगत् में ही संभव है और सगुण ईश्वर को जब मैं जगत् का कारण मानता हूँ तो अवश्य ही उसे ससीम जैसा मानना पड़ेगा। फिर भी, वह वही निर्गुण ब्रह्म है।[२४]

विवेकानंद इसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं। हम यद्यपि सूर्य को देख रहे हैं, उससे बड़ा सूर्य हजार मील उसके निकट पहुँचने पर दिखाई देगा। एकदम निकट जाने पर करोड़ों मील विशाल सूर्य दिखेगा। यदि सूर्य का चित्र हरेक स्थान से लिया

जाए और बाद में तुलना की जाए तो वे चित्र भिन्न प्रतीत होंगे, हालाँकि सूर्य वही है। उसी तरह, अनंत सत्ता को हम भिन्न-भिन्न दृष्टि बिन्दुओं से, मन के भिन्न-भिन्न स्तरों से, देखते हैं। ईश्वर के संबंध में हमारी धारणा हमारी अपनी प्रतिछाया है।[२५]

सगुण की मर्यादाओं को विनोबा भी पहचानते हैं : "शंकर भगवान् को लड़के हुए, उन लड़कों के भजन। विष्णु भगवान् - का परिवार, उस परिवार के भजन। सांकेतिक मूर्तियाँ और उनके रूपक। ये सब आत्मा की उन्नति के लिए जरुरी या लाभदायी होते हैं, ऐसा नहीं है। आत्मा की उन्नति के लिए जो चीज जितनी जरुरी है उतनी ही लेनी चाहिए। मतलब यह नहीं कि मैं सगुणोपासना का खंडन कर रहा हूँ। सगुण अपनी मर्यादा नहीं संभालता है तो वह सगुण नहीं रहता, बल्कि सदोष बन जाता है, यही समझने की बात है।"[२६]

जिस प्रकार स्पिनोजा ने यह बताया कि ईश्वर के अनंत गुण हैं और उसमें से हम सिर्फ 'विचार और विस्तार' (*थॉट एण्ड एक्सटेंशन*) ही देख सकते हैं। उसी तरह विनोबाजी कहते हैं कि ईश्वर का ऐश्वर्य नापा नहीं जा सकता, वह अवर्णनीय है। भक्त अपनी जरूरत के मुताबिक ईश्वर के गुण देखता है। मुझे ईश्वर सत्य, प्रेम और करुणामय लगता है। यदि मुझे ईश्वर का नाम याद करना हो तो मैं यह तीन गुण ही याद करुँगा। ईश्वर की गंगा में अपार जल है लेकिन यह तीन बाल्टी ही मेरे लिए काफी हैं।[२७]

विनोबा का ईश्वर कोई व्यक्ति नहीं है । वह विभिन्न प्रकार की शक्तियों एवं मूल्यों का ही सूचक है । इसके स्मरण से हमारी आत्मा में मांगलिक मूल्यों का जागरण होता है। ईश्वर गुण स्वरूप होने के कारण इस संसार में व्याप्त भी है और अनन्त गुण संपन्न होने के कारण इससे बाहर भी है ।

ईश्वर को मूल्यात्मक रूप में देखने के कारण विनोबा आस्तिक एवं नास्तिक दोनों प्रकार के विरोधी दर्शनों का आपस में समन्वय करते हैं। नास्तिक दर्शन आत्म प्रयत्नवाद में ही समाप्त होता है। आस्तिक दर्शन मोक्ष की प्राप्ति के लिए ईश्वर-विश्वास एवं उसकी कृपा आवश्यक मानता है। दोनों में कोई मौलिक भेद नहीं है।[२८]

विश्व विषयक अवधारणा

अद्वैत के अनुसार 'विश्व' की अवधारणा को समझाते हुए विवेकानंद कहते हैं कि समस्त विश्व ब्रह्म का प्रतिभासिक रूप है। ब्रह्म विश्व का वास्तविक नहीं, केवल आभासी उपादान कारण है। इस संबंध में रज्जु और सर्प का प्रसिद्ध उदाहरण दिया जाता है। रज्जु सर्प जैसी आभासित होती है, वह वास्तव में सर्प नहीं है। उसका अस्तित्व सर्प में परिवर्तित नहीं होता। इसी तरह सारा विश्व वास्तव में सत् है। सत्

का परिवर्तन नहीं होता। हम इसमें जितने भी परितर्वन पाते हैं, सभी आभास मात्र हैं। ये परिवर्तन देश, काल तथा निमित्त के कारण होते हैं। नाम और रूप के द्वारा ही एक वस्तु का दूसरी वस्तु से भेद किया जाता है। अत: नाम और रूप ही उन वस्तुओं के भेद के कारण हैं। वास्तव में, दोनों वस्तुएँ एक हैं।[२९]

विवेकानंद ने सृष्टि की उत्पत्ति के जिस क्रम को स्वीकार किया है वह सांख्य दर्शन के अधिक समीप है। समस्त जड़ पदार्थों का मूल उपादान कारण आकाश तत्त्व है और समस्त शक्तियों का मूल स्रोत प्राण है। परन्तु आकाश और प्राण की उत्पत्ति 'महत्' तत्त्व से हुई है।[३०] मन जड़ तत्त्व है। अत: अंतिम तत्त्व चैतन्य ही है।[३१] उनके मतानुसार एक तत्त्व नित्य है, शेष सब तत्त्व इसी एक से उत्पन्न हुए हैं। इस मूल तत्त्व को 'आकाश' की संज्ञा प्राप्त है।

जगत् के संबंध में विनोबा का विचार स्फूर्तिवाद कहलाता है। विश्व को ब्रह्म की स्फूर्ति कहा जाता है तो इसका अर्थ ब्रह्म के विकास, उसकी शक्ति और उसके आकारिक गतिशील रूप से है। ब्रह्म अपनी मौलिक अवस्था में निर्गुण, निष्क्रिय और निराकार रहता है। विश्व ब्रह्म का व्यक्त रूप है। इसलिए विनोबा ने इसे 'प्रत्यक्ष ब्रह्म' कहा है। ब्रह्म के विविध रूप विकास का ही यह जगत् परिणाम है। विवर्तवाद की समीक्षा करते हुए विनोबा कहते हैं कि यदि रस्सी में पहले से सर्प का धर्म विद्यमान नहीं हो तो लाख कोशिश करने पर भी वह सर्प की तरह दिखाई नहीं पड़ सकता क्योंकि असत् से किसी भी वस्तु का प्रादुर्भाव नहीं होता। यदि ब्रह्म में जगत् का धर्म विद्यमान नहीं हो तो वह कभी भी विश्व की भाँति प्रतीत नहीं हो सकता। अतएव यह संसार ब्रह्म का विवर्त नहीं बल्कि परिणाम है। इसे उन्होंने 'रज्जु-सर्पवत् परिणाम' कहा है ।[३२]

रामानुज के विचार को खंडित करते हुए विनोबा उनके 'कांचन-कंकणवत्-परिणाम' के न्याय को व्यर्थ कहते हैं। स्वर्णकार आभूषण और सोना .... दोनों का बराबर मूल्य आँकता है। इसी प्रकार ब्रह्म और विश्व दोनों में ब्रह्म ही वास्तविक है। एक प्रकार से विश्व मिथ्या है। इसे विनोबा ने 'कंकणवत् विवर्त' की संज्ञा दी है।[३३] इस तरह जगत्, न तो शंकर जैसे कहते है वैसे अवास्तविक है, न तो जैसे रामानुज कहते हैं वैसे वास्तविक है। अत: जगत् को वास्तविक मानकर इसमें रमण करने वाले और माया कहकर इससे भागकर सन्यास लेने वाले दोनों सत्य से दूर हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि एक रज्जु-सर्प से डरकर भागता है और दूसरा उसे सत्य समझकर उसकी पिटाई करता है।[३४] विनोबा के स्फूर्तिवाद पर ज्ञानेश्वर की छाप है। परिवर्तनशीलता के कारण सृष्टि में नवीनता, ताजगी और अमरता बनी हुई रहती है।[३५] इसमें वेदांत और विज्ञान का समन्वय है।

विश्व में छिपे शुभ अशुभ

विश्व में छिपे शुभ-अशुभ तत्त्व के बारे में विवेकानंद कहते हैं कि दो शक्तियाँ सदा समान भाव से कार्य कर रही है - एक अहं और दूसरी नाहं। ये शक्तियाँ केवल मनुष्यों में नहीं, किन्तु तिर्यण् जाति में भी देखी जाती है - यहाँ तक कि क्षुद्रतम कीटाणुओं में भी इन शक्तियों का विकास दिखाई पड़ता है। सृष्टि के भीतर ये दोनों शक्तियाँ पास-पास ही काम कर रही हैं - जहाँ एक शक्ति देखोगे, वहाँ दूसरी भी दिखाई पड़ेगी। एक स्वार्थपरता है और दूसरी निःस्वार्थपरता। एक है ग्रहण, दूसरी त्याग। क्षुद्रतम प्राणी से लेकर उच्चतम प्राणी तक समस्त ब्रह्माण्ड इन्हीं दोनों शक्तियों का लीला क्षेत्र है। इसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं, यह स्वतः प्रमाण है।[३६] यह प्रेम, अहंशून्यता अथवा त्याग ही जगत् की एकमात्र भावरूपिणी शक्ति है ? दूसरी शक्ति इस नाहं अथवा प्रेम-शक्ति का ही विपरीत रूप से प्रयोग करना है और उसी से प्रतिद्वन्द्विता की उत्पत्ति होती है । अशुभ की उत्पत्ति भी निःस्वार्थपरता से होती है और अशुभ का परिणाम भी शुभ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । वह केवल मंगल विधायिनी शक्ति का दुरुपयोग मात्र है।[३७]

वेदांती कहते हैं कि इस आपात् प्रतीयमान अशुभ का कारण है असीम का सीमाबद्ध भाव। जो प्रेम सीमाबद्ध होकर श्रुद्र भावोत्पन्न हो जाता है तथा अशुभ प्रतीत होता है, वही फिर चरमावस्था में ब्रह्म को प्रकाशित करता है और वेदान्त यह भी कहता है कि आपात् प्रतीयमान सम्पूर्ण अशुभ का कारण हमारे भीतर ही है।[३८]

विनोबा जी पूरे विश्व को मंगलमय मानते हैं। संसार की कोई भी वस्तु अशुभ नहीं है, यदि कहीं कुछ बुरी वस्तुएँ हैं तो वे हमारी दृष्टि के कारण बुरी मालूम पड़ती हैं। सचमुच विनोबा यह मानते हैं कि संपूर्ण विश्व ही मानव की दृष्टि पर निर्भर है।[३९] लाइब्नीज़ की तरह वे विश्व को शुभ मान लेते हैं । दुःखों के लिए वे मनुष्य को स्वयं जिम्मेवार घोषित करते हैं और उसके लिए पुरुषार्थ का रास्ता बताते हैं ।

मनुष्य में ईश्वर-दर्शन

यदि दर्शन मनुष्य के सामाजिक जीवन की समस्याओं पर समुचित चिंतन प्रस्तुत न करे तो ऐसा दर्शन समस्याओं से संत्रस्त मानव को अनुप्रेरित नहीं कर सकता। हमारी सबसे निकट की समस्या सामाजिक या सामूहिक जीवन की समस्याएँ हैं। यदि दर्शन इन समस्याओं के समाधान के लिए सुचिंतित विचार हमारे सामने नहीं रखता है तो वह अपने सामाजिक मूल्य को खो देता है।

दार्शनिकों का यह दायित्व हो जाता है कि वे व्यक्ति और समाज तथा उससे संबंधित संस्थाओं और समस्याओं की व्याख्या इस रूप से करें कि व्यक्ति की चेतना

अधिक से अधिक सामाजिक जीवन की ओर बढ़ सके, अधिक से अधिक सामाजिक बुराइयों को दूर किया जा सके तथा उन्मुक्त और शोषणहीन समाज की स्थापना हो सके। विवेकानंद और विनोबा ने अपने इस दायित्व को अच्छी प्रकार समझा है और अपने चिंतन में उन्होंने दर्शन की अन्य समस्याओं के साथ सामाजिक समस्याओं पर भी विचार किया है।

'मानव सेवा ही प्रभुसेवा', यह मंत्र विवेकानंद का रहा और गाँधी तथा विनोबा का भी रहा। सेन फ्रान्सिस्को के ८ अप्रैल १९०० के प्रवचन में वे कहते हैं "तुम सगुण ईश्वर हो। इस क्षण मैं तुम्हारा उपासक हूँ। यही महत्तम प्रार्थना है।" इसी अर्थ में सम्पूर्ण विश्व की उपासना करते हुए वे आगे कहते हैं,[४०] "अनन्त सत्य अप्राप्य है। वह सतत् ही इस लोक में विद्यमान है, वह अमर है, अज है। वह, जो विश्व का प्रभु है, जन-जन में है। मन्दिर केवल एक है, वह है देह-मन्दिर। यही अकेला मन्दिर सनातन है। इसी देह में उसका, परमात्मा का, राजराजेश्वर का, निवास है। हम देख नहीं पाते, इसलिए हम उसकी पाषाण प्रतिमाएँ बनाते हैं।"[४१]

नास्तिकता की परिभाषा देते हुए वे कहते हैं, "अपनी आत्मा की महिमा में विश्वास न करने को ही वेदान्त में नास्तिकता कहते हैं।"[४२]

१२ नवंबर १८९६ को लन्दन में दिये हुए भाषण में वे कहते हैं कि एक शब्द में वेदांत का आदर्श है जगत् में मनुष्य की उपासना, और वेदांत की यही घोषणा है कि यदि तुम व्यक्त ईश्वर रूप अपने भाई की उपासना नहीं कर सकते तो वेदान्त तुम्हारी उपासना में विश्वास नहीं करता।[४३] जगह-जगह पर रामकृष्ण मिशन की स्थापना करके विवेकानंद ने सेवा की परंपरा ही आगे बढ़ाई है।

विनोबा जी भी इसीलिए 'ब्रह्म सत्यं, जगत् स्फूर्ति: जीवनं सत्यशोधनम्' कहते हैं जिससे कि हम लोग जगत् की सेवा करें। गाँधी और विनोबा की विशेषता यह है कि उन्होंने सत् को जगत् में यानी विशेषत: मनुष्य रूप में ही खोजा। ब्रह्म - परमसत् को खोजने वे कही गिरि-कंदराओं में नहीं गये। उन्होंने कहा है, "जिस तरह शरीर के सारे अवयव मिलजुल कर काम करते हैं उसी तरह सब व्यक्तियों को मिलजुल कर काम करना चाहिए, तभी समाज सुखी हो सकेगा।"[४४] शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों की भाँति व्यक्ति के काम भी भिन्न-भिन्न होते हैं।[४५] लोगों की सेवा को ही उन्होंने मूर्ति पूजा माना और पाँच से पचास गांवों के सेवा क्षेत्र को उन्होंने ईश्वर का आश्रय स्थान कहा।[४६] सेवामय जीवन ही उन्होंने जीवन माना है, अन्यथा मृत्यु का ही रूप समझा है। सेवा भी यदि नि:स्वार्थ न हो तो वह सेवा नहीं रहती।[४७] अहंकार रहित सेवा को भक्ति का मूल्य देते हुए वे लिखते हैं $\frac{\text{अहंकार}}{\text{सेवा}} = \text{भक्ति}$ ।

विनोबा ने एक सूत्र बनाया है, "सेवा व्यक्ति की, भक्ति समाज की। व्यक्ति की भक्ति में आसक्ति बढ़ती है, इसलिए भक्ति समाज की करनी चाहिए। सेवा समाज की करना चाहें तो कुछ भी नहीं कर सकते। समाज तो एक कल्पना मात्र है। कल्पना से हम सेवा नहीं कर सकते। माता की सेवा करने वाला लड़का दुनिया भर की सेवा करता है, यह मेरी धारणा है। सेवा प्रत्यक्ष वस्तु की ही हो सकती है, अप्रत्यक्ष वस्तु की नहीं। समाज प्रत्यक्ष, अव्यक्त या निर्गुण वस्तु है।"[४९]

विनोबा जी खुद विवेकानंद का योगदान सेवा क्षेत्र में मान्य करते हैं। वे कहते हैं, "भारत के सेवा क्षेत्र में स्वामी विवेकानंद का बहुत बड़ा योगदान है। शंकराचार्य ने अद्वैत सिखाया, यानी भूत मात्र का हृदय एक रूप है, इस बात पर जोर दिया, तो विवेकानंद ने उसे स्वीकार कर मानव सेवा को उसके साथ जोड़ दिया। इस जमाने में यह बहुत बड़ी बात हुई। अद्वैत और जनसेवा, दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। अद्वैत का प्रकाश जनसेवा के रूप में भली-भाँति प्रकट होता है। जनसेवा से अद्वैत का प्रकाश फैलता है तो अद्वैत से जनसेवा को आधार मिलता है। एक है बुनियाद, तो दूसरी उस पर की गई रचना। दोनों अत्यंत स्वाभाविक हैं।"[५०]

विवेकानंद ने अद्वैत के साथ दरिद्रनारायण की, भूत-मात्र की, सेवा जोड़ दी। जहाँ अद्वैत नहीं, वहाँ भेद बना रहता है। हम सेवा करने वाले हैं और जिनकी सेवा करते हैं, वे हमसे अलग। दोनों का भेद बना रहता है। परन्तु अद्वैत में वह भेद ही मिट जाता है। यानी जिसकी हम सेवा करते हैं, उसे अपने से अलग नहीं समझते, मानो हम अपनी ही सेवा करते हैं । इसीलिए अहंकार का लेश भी नहीं रहता । सेवा में हमने किसी दूसरे पर उपकार नहीं किया। अपनी ही सेवा करते हैं तो अहंकार को स्थान ही कहाँ ? .... सेवा की कीमत उसके परिणाम पर निर्भर नहीं है। सेवा में वृत्ति जितनी निरहंकार रहेगी, उतनी सेवा की कीमत बढ़ेगी। सेवा से अहंकार को भगा देना होगा। मैंने दस सेर सेवा की लेकिन चालिस सेर मेरा अहंकार रहा तो मेरी सेवा की कीमत १०/४० या १/४ हो गयी। इससे उलटे एक मनुष्य ने एक तोला भर सेवा की लेकिन उसका अहंकार शून्य है तो उसकी सेवा की कीमत १/० तोला, यानी अनंत होगी। निरहंकारिता से सेवा की कीमत बढ़ती है और अहंकार से घटती है।[५१]

अहंकार निवृत्ति तीन प्रकार से होती है। अपना सारा कर्तव्य, जिस समाज ने हमको विविध ज्ञान दिया है उसकी बदौलत है, इस बात के भान से। देह, इंद्रियाँ, मन, बुद्धि आदि से हम भिन्न हैं और कर्तृत्व उनका है, हमारा नहीं है, इस ज्ञान। इस ज्ञान को कराने वाला परमेश्वर है, हम उसके हाथ में काष्ठपुतलीवत् हैं, इस श्रद्धा से।

सामाजिक क्रांति भी विनोबा सेवा या करुणा के माध्यम से ही करना चाहते हैं, न कि कत्ल और कानून से। इसीलिए तो वे गाँव-गाँव 'हमारा तंत्र ग्रामदान' और 'हमारा मंत्र जय जगत्' का विचार और कार्यक्रम लेकर घूमे। वे इस प्रकार के क्रांति-त्रिकोण[५२] की कल्पना करते हैं जिसमें एक भुजा हृदय परिवर्तन की, दूसरी विचार परिवर्तन की और तीसरी स्थिति परिवर्तन की होगी।

मानव–जीवन का परम प्राप्तव्य

विवेकानंद ने रामकृष्ण के समान आत्म-साक्षात्कार को मानव जीवन का उद्देश्य माना। उनकी मानव सेवा में इतनी गहरी निष्ठा थी कि वे व्यक्तिगत मोक्ष प्राप्ति के प्रयत्नों को स्वार्थपरता समझते थे। मनुष्य के रूप में ईश्वर की सेवा को वे आदर्श मानते थे। वे मानते थे कि जो व्यक्तिगत मुक्ति से संतुष्ट होता है वह कभी मुक्त नहीं हो सकता। इन्हीं आदर्शों को स्थापित करने हेतु विवेकानंद ने 'रामकृष्ण मिशन की स्थापना की जिसका उद्देश्य मात्र मानव सेवा ही है।

साधनों के प्रति विवेकानंद ने समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाया है। ज्ञान, भक्ति, कर्म और राजयोग का साधन के रूप में उन्होंने विशद विश्लेषण किया है।

विनोबा की राय में 'मेरी मुक्ति' आध्यात्मिक व्यक्तिवाद है, स्वार्थवाद है। दोनों परस्पर विरुद्ध शब्द हैं, दोनों एक-दूसरे को काटते हैं। 'मैं का हटना', इसी का नाम मुक्ति है। जब तक 'मैं' है तब तक मुक्ति नहीं। 'मैं' का लोप मुक्ति का साधन है।[५३] रामकृष्ण परमहंस के जन्म स्थान पर पहली बार विनोबा जी ने सामूहिक समाधि की बात रखी थी। 'मैं' के स्थान पर 'हम' की साधना पर विचार ही, विनोबा के अनुसार, सामूहिक समाधि है।[५४]

समाधि का अर्थ है 'समत्वयुक्त चित्त', 'जिस चित्त में विकार स्पर्श नहीं, अहंता-ममता नहीं, संकुचित भाव नहीं' ऐसा वैज्ञानिक चित्त, समाधि कहलाता है।[५५] सामूहिक समाधि में सारा समूह अपनी मन की अवस्था से ऊपर उठ जाता है। इस भूमिका में आने पर व्यक्तिगत, साम्प्रदायिक, जातीय अथवा राष्ट्रीय अहंकार समाप्त हो जाते हैं तथा संपूर्ण समाज स्वतन्त्र चिंतन और तटस्थ निर्णय के आधार पर चलता है।[५६] इसमें साधना का विषय सामुदायिक सेवा है,[५७] जिसमें समाज के भौतिक कल्याण के अतिरिक्त, नैतिक और आध्यात्मिक विकास की चिंता की जाती है।

विनोबा साम्य योग को मानव जीवन के परम प्राप्तव्य का मार्ग मानते हैं । ज्ञान, कर्म, भक्ति इत्यादि को व्यावर्तक चीजें कहते हैं।[५८] संपूर्ण जीवन का रहस्य व्यावर्तक और भावात्मक दोनों तत्त्वों की साधना में सन्निहित है जो हमें साम्य योग में प्राप्त होता है।[५९] साम्य का अर्थ है सामाजिक, आर्थिक, राजकीय जीवन में संतुलन। साम्य का दूसरा अर्थ है स्थिरता; मानसिक स्थिरता ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग से उच्च-योग है। साम्य का तीसरा अर्थ है तादात्म्यता, दीन, दुःखी, पीड़ितों के लिए

तादात्म्यता। साम्य का चौथा अर्थ अभिप्रेत है; परम साम्य या ब्रह्मसाम्य, जो साम्य जगत् में है ही, हमारे अज्ञान के कारण हमें वह महसूस नहीं होता। साम्य के ये अर्थ जीवन के संपूर्ण आयामों के लिए ग्राह्य है।

साम्य योग का आधार समन्वय का तत्त्व ज्ञान है।[६०] समन्वय के तत्त्व ज्ञान पर ही व्यक्ति और समाज की बुनियाद कायम रह सकती है। साम्य योग में कई प्रकार के समन्वय देखे जाते हैं : आत्मा और शरीर का समन्वय, व्यक्ति और समाज का समन्वय, नास्तिक-आस्तिक तत्त्वज्ञान का समन्वय, योग और सन्यास का समन्वय तथा सगुण-निर्गुण का समन्वय; ये साम्य योग के सार हैं। साम्य का अर्थ गणितीय साम्य नहीं।[६१] उससे दुनिया का आनंद ही समाप्त हो जाएगा। साम्य में सभी का समाधान होता है, साम्यं समाधानं।[६२]

सन्दर्भ-ग्रंथ और टिप्पणियाँ

१. स्वामी विवेकानंद, वेदांत, रामकृष्ण मठ, नागपुर, १९९८, पृ. १०३।
२. वही, पृ. १२७।
३. वही, पृ. १२९।
४. विनोबा साहित्य, खंड नं. १९, परंधाम प्रकाशन, वर्धा, १९९९, पृ. २६।
५. वही, पृ. ४२१-४२२।
६. वही, पृ. ४२२-४२३।
७. वही।
८. वही, पृ. ४२४।
९. विनोबा साहित्य, खंड नं. १२, परंधाम प्रकाशन, वर्धा, पृ. ४९६।
१०. विचारपोथी (मराठी), नं. ६९४, ग्राम सेवा मंडल, वर्धा, १९५४, पृ. १०९।
११. द कम्प्लीट वर्क्स ऑफ विवेकानंद, खंड नं. ३, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, १९६०, पृ. १३।
१२. १८९६ के लंदन के भाषण 'द एब्सोल्यूट एण्ड मेनिफेस्टेशन' से।
१३. विवेकानंद साहित्य, नवम् खंड, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, १९७३, पृ. ३१४।
१४. विचार पोथी, दिल्ली, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, १९६१, पृ. ७।
१५. वही, पृ. ३२।
१६. वही, पृ. ७७।
१७. विवेकानंद साहित्य, चतुर्थ खंड, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, पृ. १३।
१८. वही, पृ. ९।
१९. वही।
२०. द कम्प्लीट वर्क्स ऑफ विवेकानंद, खंड नं. ३, उपरिवत्, पृ. २८१।
२१. उपरिवत्, खंड नं. २, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, १९५८, पृ. २४१।
२२. उपरिवत्, खंड नं. ३, पृ. ३८७।
२३. उपरिवत्, खंड नं. २, पृ. २६३।
२४. व्यवहारिक जीवन में वेदांत, चतुर्थ संस्करण, श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर, १९७०, पृ. ७१।
२५. विवेकानंद साहित्य, अष्टम् खंड, पृ. ११८-११९।
२६. विनोबा साहित्य, खंड नं. १४, परंधाम प्रकाशन, वर्धा, पृ. ५०।

२७. 'मैत्री' हिंदी मासिक, 'विनोबा के आशीर्वाद' वर्धा, पवनार आश्रम, १९८९ का विशेष अंक, आखिरी पृ. ८६ ।
२८. प्रेरणा प्रवाह, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, १९६८, पृ. ११३ ।
२९ वेदांत : उपरिवत्, पृ. ९ ।
३०. द कम्प्लीट वर्क्स ऑफ विवेकानंद, खंड नं. ३, उपरिवत् पृ. ४००-४०१ ।
३१. द कम्प्लीट वर्क्स ऑफ विवेकानंद, खंड नं. २, उपरिवत् पृ. २०९ ।
३२. 'विनोबा चिंतन', अंक १६, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, मई १९६७, पृ. २०८।
३३. वही ।
३४. विचारपोथी, उपरिवत्, पृ. ९ ।
३५. गीता प्रवचन, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, १९६५, पृ. २३७-२३८ ।
३६. व्यावहारिक जीवन में वेदांत, उपरिवत्, पृ. ९३ ।
३७. वही, पृ. ९४ ।
३८. वही, पृ. ९५ ।
३९. गीता प्रवचन, उपरिवत्, पृ. ८९ ।
४०. वेदांत, उपरिवत्, पृ. १२० ।
४१. वही ।
४२. व्यवहारिक जीवन में वेदांत, उपरिवत्, पृ. ७ ।
४३. वही, पृ. ५३ ।
४४. निर्मला देशपांडे, विनोबा के साथ, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, १९५५, पृ. १५६।
४५. वही, पृ. १५७ ।
४६. विनोबा भावे, क्रांतिदर्शन, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, १९६२, पृ. ३।
४७. 'सर्वोदय', हिंदी मासिक, सितंबर १९५४, पृ. ७२ ।
४८. विचारपोथी (मराठी), ग्राम सेवा मंडल, वर्धा, १९५४, विचार नं. ३४ ।
४९. विनोबा साहित्य, खंड १४, परंधाम प्रकाशन, वर्धा, पृ. १०६ ।
५०. वही ।
५१. वही, पृ. १०७-१०८ ।
५२. विनोबा भावे, सर्वोदय और साम्यवाद, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, ९६८, पृ. ९९।
५३. विनोबा साहित्य, खंड : १४, उपरिवत्, पृ. ३१ ।
५४. विनोबा भावे, आत्मज्ञान और विज्ञान, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, १९६४, पृ. ४५ ।
५५. 'विनोबा-चिंतन', अंक २६-२७, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, १९६८, पृ. ९०।
५६. वही, पृ. ९१ ।
५७. 'विनोबा चिंतन', अंक २३, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, १९६७, पृ. ५१५।
५८. विनोबा भावे, साम्यसूत्र, काशी : अ.भा. सर्व सेवा संघ, १९५८, पृ. ९ ।
५९. वही ।
६०. 'विनोबा-चिन्तन', अंक १०-११, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, १९६६, पृ. ३७।
६१. विनोबा भावे, आत्मज्ञान और विज्ञान, उपरिवत्, पृ. ६६ ।
६२. वही ।

मानवेन्द्र नाथ राय का भौतिकवादी दर्शन एवं उसका आदर्श

शोभा निगम

दर्शनशास्त्र की दो विचारधाराओं भौतिकवाद एवं अध्यात्मवाद के संबंध में प्राय: समझा जाता है कि भौतिकवाद जहाँ 'खाओ पिओ और मौज करो' की नीति को प्रश्रय देता है वहाँ अध्यात्मवाद आदर्शवादी है, जिसका लक्ष्य शारीरिक सुखों की उपेक्षा करते हुए आध्यात्मिक मूल्यों या ईश्वर तक पहुँचना है। इसलिए समाज में, विशेषकर भारतीय समाज में, अध्यात्मवादी विचारक जहाँ सम्मानित होता है, वहाँ भौतिकवादी प्राय: तिरस्कृत होता है, लांछित होता है। ऐसी स्थिति में एम.एन. राय द्वारा दृढ़तापूर्वक स्वयं को भौतिकवादी कहना, परम्परागत् अध्यात्मवाद की कटु आलोचना करना तथा भारत की आध्यात्मिक परम्परा को सांस्कृतिक दर्प मानते हुए तुच्छ घोषित करना, हमें चौंकाता है। ऐसे एम.एन. राय के संबंध में डी.पी. वर्मा लिखते हैं, "वह बड़े दुर्दान्त जड़वादी थे। वह भी भारत भूमि में, जहाँ ऋग्वेद के समय से ही हिरण्यगर्भ और प्रजापति की ध्वनि निकलती है, जहाँ जिसने भी नास्तिक बनने का स्वाँग रचा, यहाँ के याज्ञिक कर्मकांड ने उसे पीसने की कोशिश की, जहाँ भगवान बुद्ध को भी पलायन करना पड़ा, चार्वाक का सारा साहित्य नष्ट कर दिया गया, जहाँ कपिल, महावीर एवं जैमिनी जैसे अनीश्वरवादी भी जड़वादी नहीं हो पाये। ऐसी स्थिति में बिना झुके जड़वाद का समर्थन करने वाला मजबूत हृदय का जबर्दस्त आदमी ही होगा।"[१]

किन्तु स्वयं राय यह नहीं मानते थे कि भारत-भूमि में वे कोई नये विचार रख रहे हैं या यहाँ भौतिकवादी विचारक कम हुये हैं। उनका निष्कर्ष था कि भौतिकवाद के बीज वेदों में भी दिखाई देते हैं। यहाँ से प्रारम्भ हुई भौतिकवाद की यात्रा तमाम विरोधों के बावजूद निरंतर चलती रही है। वेदों के विषय में वे कहते हैं कि वेदमंत्रों में नास्तिकों की स्पष्ट चर्चा की गई है। ये नास्तिक प्राकृत धर्मशास्त्र के विरोधी थे तथा ये ही भारतीय दर्शन के पूर्वज थे। उपनिषदों को सामान्यता आत्मिक ज्ञान का भंडार कहा जाता है किन्तु राय अनेक उदाहरण देकर यह सिद्ध करते हैं कि उनका मुखर स्वर आध्यात्मिक नहीं, वरन् भौतिकवाद, निरीश्वरवाद एवं नास्तिकता है।[२] अपने *मैटेरियलिज्म*[३] नामक ग्रंथ में राय ने अनेक उदाहरण देकर यह भी सिद्ध कर दिया है कि वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग मीमांसा भी अपने मूल रूप में भौतिकवादी ही थे। वैशेषिक दर्शन का अणुवाद, सांख्य दर्शन का प्रकृति और विकासवाद मूलत: भौतिकवाद का ही पोषण करते हैं। कणाद का मूल तत्त्व अणु को नित्य परिमंडलम् कहना तथा कपिल का वस्तुगत वास्तविक प्रकृति को भौतिक जगत् का आधार स्वीकार करना उन्हें

भौतिकवादी ही सिद्ध करता है। कालान्तर में इन पर आस्तिकता एवं वेदों का मुलम्मा लगाकर इन्हें विपरीत रूप में प्रस्तुत किया गया। इतना ही नहीं रॉय बौद्ध एवं जैन दर्शन को भी मूलत: भौतिकवादी कहते हैं। बौद्ध दर्शन यद्यपि नैतिक और आध्यात्मिक वाक्यों से भरा हुआ है किन्तु उसका भौतिकवादी सारतत्त्व भी असंदिग्ध है। जैन दर्शन में भी जगत् अपनी निरंतर परिवर्तनशीलता के साथ एक वास्तविक जगत् है। इस तरह वह भी मूलत: भौतिकवादी ही है। किन्तु कालान्तर में इनके अनुयायी भी आध्यात्मवादी, आदर्शवादी कहलाने लगे।

प्राचीन भारतीय दर्शनों की इन विभिन्न श्रृंखलाओं के बीच एक चार्वाक दर्शन ही ऐसा है जो तमाम कटु आलोचनाओं और प्रहारों के बीच प्रारंभ से अंत तक भौतिकवादी बना रहा। रॉय के शब्दों में इसमें प्रकृतिवादी, बुद्धिवादी, संशयवादी तथा भौतिकवादी विचारों की चरम परिणति देखने को मिलती है।[४] चार्वाक ने जड़ परमाणुओं को परम तत्त्व घोषित कर जगत् के मूल में किसी ईश्वरीय तत्त्व को अस्वीकार किया जिससे आम मनुष्य को परलोकवाद से और साथ ही पुरोहितवाद तथा ब्राह्मणों और उनके कर्मकांड से भी मुक्ति मिले। वस्तुत:, तथाकथित अध्यात्मवाद ने हमेशा ही चार्वाक का विरोध किया। यह विरोध इतना कठोर था कि धीरे-धीरे चार्वाक का सारा साहित्य ही नष्ट कर दिया गया। जैसा कि नेहरु ने लिखा है, "संभवत: भारत में भौतिकवाद के अधिकांश साहित्य को बाद के काल में पुरोहितों ने तथा रुढ़िवादी धर्म में यकीन करने वाले दूसरे लोगों ने नष्ट कर दिया।"[५]

अस्तु, भारत में भौतिकवादी दर्शन की यह टूटी कड़ी बीसवीं शती में जुड़ पाई। यूँ तो पाश्चात्य जगत् में भी लंबे समय तक चर्च की प्रभुसत्ता के कारण भौतिक दर्शन एक तरह से दबा रहा, किन्तु १४-१५वीं शताब्दी में विज्ञान की उन्नति के प्रभाव के फलस्वरूप *रेनेशाँ* एवं *रिफार्मेशन* इन दो वैचारिक आंदोलनो के कारण भौतिकवादी दर्शन ने सिर उठाना प्रारंभ कर दिया था। चूँकि उस काल में भारत में ऐसा कोई आंदोलन नहीं हुआ इसलिए भौतिकवादी दर्शन दबा ही रहा। हाँ, बीसवीं शताब्दी में यूरोपीय जगत् के संपर्क के कारण यह प्रवृत्ति उभरती गई। यहाँ जवाहरलाल नेहरु, के. दामोदरन, डी.डी. कौशाम्बी, डी.पी. चट्टोपाध्याय तथा इसी श्रृंखला में एम.एन. राय भौतिकवादी विचारक हुये हैं।

किन्तु, राय भौतिकवाद के समर्थक क्यों हैं ? क्या वे भी चार्वाकों और एपीक्युरियन दार्शनिकों की भाँति 'खाओ पियो और मोज करो' दर्शन के हिमायती हैं? क्या उनके भौतिकवाद का भी उद्देश्य मनुष्य के लिए अधिकतम शारीरिक सुख, सांसारिक सुख की वकालत करना है ? क्या वे भी अन्य भौतिकवादियों के समान किसी आध्यात्मिक, अतिभौतिक सत्ता के खिलाफ खड़े होते हैं ?

हाँ, यह तो सत्य है कि राय अध्यात्मकवाद के कड़े आलोचक थे। न तो वे परलोक को, न ईश्वर को और न ही आत्मा और पुनर्जन्म को स्वीकार करते थे । इतना ही नहीं वे भारतीय सामाजिक जीवन के ह्रास, राजनीतिक दासता, आर्थिक पिछड़ेपन, बौद्धिक जड़ता एवं सांस्कृतिक पतन के लिए आध्यात्मवादी चिंतन को ही दोषी कहते थे।[६] उनके अनुसार भारतीय जीवन की ग्रन्थियों के लिए यही उत्तरदायी है।[७] अत: वे मानते हैं कि आज इस बात की आवश्यकता है कि इन सड़ी हुई ग्रन्थियों को निकालकर भारतीय जीवन में नये प्राण फूँके जायें।[८]

किन्तु अध्यात्मवाद की आलोचना का मतलब यह नहीं कि राय आदर्शवाद के खिलाफ थे। उनके अनुसार '*आइडियलिज्म* ' का तात्पर्य *आइडियलिस्टिक* दर्शन से नहीं है। दोनों में पर्याप्त अंतर है। *आइडियलिज्म आइडियल* शब्द से बना है जबकि दूसरा *आइडिया* से बना है। कहने का तात्पर्य है कि जिसे हम आध्यात्मवादी दर्शन कहते हैं वह आदर्शवादी दर्शन का अर्थ नहीं रखता है। तथाकथित अध्यात्मवाद की तुलना में वह दार्शनिक भौतिकवाद को सबसे बड़ा व्यावहारिक आदर्शवाद कहते हैं।[९]

हम राय द्वारा प्रस्तुत उन आदर्शों की चर्चा करेंगे जिन्हें रॉय भौतिकवादी होते हुये भी दृढ़तापूर्वक अपने सामने रखते हैं और इस हेतु वे चार्वाक एवं मार्क्सवादी खेमे से अलग होते हैं। किन्तु उसके पूर्व हम रॉय द्वारा प्रस्तुत भौतिकवादी तत्त्वमीमांसा का अवलोकन करेंगे क्योंकि यही उनके आदर्शों का आधार है।

प्राचीन भौतिकवाद, चाहे वह चार्वाक का बहुतत्त्ववादी जड़वाद हो या ग्रीक दार्शनिक डेमॉक्रिटस का परमाणुवाद, यह मानता है कि मूलतत्त्व जड़ पदार्थ है। इसे वे स्वयमेव गतिशील कहते हैं। अत: जगत् से परे किसी गतिदाता ईश्वर को स्वीकार करना इनके लिए अनावश्यक है। और जब ईश्वर नहीं है तब आत्मा, पुनर्जन्म, स्वर्ग, परलोक आदि रद्द हो जाते हैं। रॉय भी सहर्ष इन्हें रद्द करते हैं। किन्तु भौतिकवाद की इस मूलभूत प्राचीन धारणा का तो स्वयं विज्ञान खंडन कर चुका है कि इस जगत् के मूल जड़ परमाणु हैं। इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण से आज सब सहमत हैं कि ऐसा कोई जड़ द्रव्य नहीं जो देशकाल में विद्यमान कणों का पुंज है । अब परमाणु कोई अविभाज्य सत्ता नहीं रह गया है। निश्चय ही भौतिकवाद के आलोचकों को इससे बड़ा बल मिला। जैसे, जेम्सवार्ड ने कहा था, विश्व के भौतिकवादी दृष्टिकोण का आधार सदा ही विस्तारयुक्त, ठोस, अक्षय परमाणु रहे हैं। लेकिन इस दृष्टिकोण वाले इस बात से निराश होंगे कि नये अभिवर्धित ज्ञान की माँग से परमाणु के ठोस और विस्तारयुक्त होने की पुष्टि नहीं होती है । इसी तरह एल. हूलेविग ने अपनी किताब *द रिवोल्युशन ऑफ द साइंसेज़* के पदार्थ के नये सिद्धांत के विषय में अपने अध्याय का शीर्षक दिया

था, 'क्या पदार्थ की सत्ता है' और इसमें उन्होंने लिखा था, 'परमाणु पदार्थ नहीं रह जाता - पदार्थ अदृश्य हो जाता है'।[१०]

लेलिन ने भौतिकवाद के विरुद्ध ऐसे आरोपों का विस्तार से उत्तर दिया था।[११] राय यहाँ लेलिन के इस विचार से सहमति व्यक्त करते हैं कि किसी वाह्य पदार्थ की सत्ता है जो हमारे अनुभवों का आधार है। फिर भी परम्परागत भौतिकवाद से स्वयं को पृथक करने के लिए वे उसे भौतिक वस्तुवाद की संज्ञा देते हैं।[१२] वे मानवीय प्रत्यक्ष को ही संपूर्ण ज्ञान का मूल आधार मानते हैं। मनुष्य द्वारा जिस वस्तु का प्रत्यक्ष संभव है वास्तव में उसी का अस्तित्व है और मानव के लिए जिस वस्तु का प्रत्यक्ष संभव नहीं उसका अस्तित्व भी संभव नहीं है।

आध्यात्मवादी भौतिकवादियों के खिलाफ अक्सर यह प्रश्न रखते हैं कि जड़ से चेतन की उत्पत्ति कैसे हो सकती है। यहाँ राय कहते हैं कि भले ही इसे प्रयोग द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सका है किन्तु कुछ निश्चित रासायनिक प्रक्रियाओं से जीवन की उत्पत्ति को सैद्धांतिक रूप से स्वीकार किया जा सकता है तथा अपनी विशिष्ट संरचना के कारण मानवी मस्तिष्क भौतिक होते हुये भी मानसिक समझी जाने वाली सभी क्रियाओं के लिए उत्तरदायी है।[१३]

वस्तुत: राय के दर्शन में चेतना परम्परागत अर्थ में पूर्ण रूप से भले ही भौतिक न हो तथापि मूल रूप से वह भौतिक ही है। इस तरह भौतिक तत्त्व ही आदिम द्रव्य है किन्तु उसमें विकास होते-होते अभौतिक तत्त्व उसमें से निकलते हैं। वस्तुत: राय सृजनात्मक तरह के विकासवाद में विश्वास रखते हैं जिसका अर्थ है : पुरानी चीजों का सृजन होना। यहाँ राय अपना एक नया स्पष्टीकरण विकासवाद के सिद्धान्त में जोड़ते हैं। उनके अनुसार मानव निर्मित होने के बाद विकास का क्रम पहले जैसा नहीं रह जाता। मनुष्य न केवल चेतन प्राणी है - वह सोच समझ कर काम करता है। मनुष्य के अस्तित्त्व में आने के पूर्व विकास अपने आप होता गया था किन्तु मनुष्य अपने आप होने वाले इस विकास को बदलने का प्रयत्न कुछ सीमा तक कर सकता है। इस अर्थ में मनुष्य क्रांति कर सकता है - वह इतिहास का निर्माता है।[१४] वस्तुत: यह राय के दर्शन का मुख्य विचार है।

राय ने इस बात पर भी जोर दिया है कि चिंतन एक शारीरिक प्रक्रिया है जो शरीर तथा परिवेश की परस्पर क्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न होता है किन्तु एक बार उत्पन्न होने के बाद विचार अपने विकास के नियम का अनुसरण करते हैं। एक बार जब शरीर द्वारा निर्धारित चिंतन प्रक्रिया पूरी हो जाती है तब विचार बन जाते हैं और फिर उनका स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। इस तरह विचार ही परिवर्तन का कारण होते हैं।[१५]

विचारों का महत्व प्रतिपादित करते हुए राय लिखते हैं कि प्रत्येक युग के निर्माणकारी सामाजिक एवं राजनैतिक घटना के पहले उनसे संबंधित विचार सामने आये हैं। इस बात को दोहराने की आवश्यकता नहीं है कि किसी भी युग में विचारों की दैवी उत्पत्ति नहीं हुई है। इतिहास के हर युग में विचारों की शारीरिक उत्पत्ति को खोजा जा सकता है जो भौतिकवादी जगत् की पृष्ठभूमि में उत्पन्न होते हैं। यहाँ राय पुनर्जागरण एवं सुधार आंदोलनों के इतिहास को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं,[१६] जिसका हम प्रारंभ में उल्लेख कर चुके हैं।

राय यहीं पर कार्ल मार्क्स से अपना अंतर स्पष्ट करते हैं। जहाँ तक हमारे दर्शन का प्रश्न है, हम मानव के विकास का प्रारंभ भौतिक जगत् से मानते हैं, यह भौतिकवादी दर्शन है। लेकिन यह मार्क्सवादी भौतिकवाद निश्चयवाद के सिद्धांत से भिन्न है क्योंकि इसमें मानसिक संसार की स्वायत्तता स्वीकार की गई है जो स्वत: भौतिक प्रकृति से उद्भूत है। राय भौतिकवाद के आधार पर सामाजिक दर्शन का प्रतिपादन करते समय विचारों का महत्त्व गौण नहीं समझते हैं।[१७]

दरअसल मनुष्य को प्राप्त वैचारिक स्वतंत्रता ही उसे स्वयं उसका तथा सारी मानव जाति का भाग्यविधाता तय करती है अन्यथा अध्यात्मवाद तो प्राय: ईश्वर संचालित इस जगत् में मनुष्य को कठपुतली मात्र सिद्ध करता है। राय इसीलिए ईश्वर के अस्तित्व का खंडन करते हैं - विश्व को कौन चलाता है ?, यह प्रश्न ही गलत है। यहाँ कोई चालक नहीं है। यह अपने आप गतिशील है।[१८]

प्राय: आस्तिक विचारक कहते हैं कि ईश्वर ने मनुष्य का निर्माण किया है। इसके विपरीत राय कहते हैं कि ईश्वर ने मनुष्य का निर्माण नहीं किया, मनुष्य ने ईश्वर का निर्माण किया है - इसलिए कि वह विश्व की घटनाओं को स्पष्ट कर सके।[१९] बाइबिल के अनुसार ईश्वर ने मनुष्य को अपने जैसा बनाया। राय इसके विपरीत कहते हैं कि मनुष्य ने ईश्वर को अपने जैसा बनाया है। कुछ लोग कहते हैं कि उन्होंने ईश्वर का दर्शन किया है। राय इसे भावुक व्यक्ति के विभ्रम या अर्द्धनिद्रा से अधिक कुछ नहीं कहते हैं।[२०]

ईश्वर के समान ही राय अजर-अमर आत्मा के अस्तित्व का भी खंडन करते हैं। वे इसे आदिम मनुष्य की अज्ञानता से जोड़ते हैं जो वस्तुत: मनुष्य के आध्यात्मिक विश्वास की उपज नहीं वरन् उसके बौद्धिक पिछड़ेपन की निशानी है। यह मानवीय इतिहास के उस काल का प्रतिनिधित्व करता है जब मनुष्य वस्तुगत सत्य के आविष्कार के अयोग्य था। आत्मा की अमरता के साथ ही राय पुनर्जन्म के सिद्धांत का भी खंडन करते हैं : आत्मा एवं उसके जन्म से संबंधी सिद्धांत का विकास अतिभौतिक जीववाद

से हुआ है जिसका संबंध स्वप्न से जोड़ा गया है।[२१] विशेषकर भारतीयों को इस तरह के पिछड़े विचारों का त्याग करने का आवाहन करते हुए वे कहते हैं कि भारतवासियों को यह विश्वास अवश्य रखना चाहिए कि मानव स्वयं अपनी नियति का निर्माता है। कर्म, भाग्य, पुर्नजन्म, अनासक्ति, अमरता, आध्यात्मिक सत्व आदि सभी मृत अतीत के प्रेत हैं।[२२]

सामान्यतया भारत स्वयं को आध्यात्मिक देश कहता है : सोचता है कि वह पश्चिम से श्रेष्ठ है क्योंकि वहाँ भौतिकता है, अध्यात्म नहीं है। प्रायः वह भविष्य में जगद्‌गुरु होने का दम भी भरता है। राय *हमारा सांस्कृतिक दर्प* नामक किताब में इस मिथ्या दंभ के चिथड़े उड़ाते हुए लिखते हैं कि भारत जिस क्षेत्र में अपनी विशेषता और एकाधिकार मानता आया है, उसके पास दूसरों को देने के लिए मामूली ही कुछ है : उसके लिए यही उक्ति उचित है कि पहले डाक्टर अपना इलाज करे।[२३]

जहाँ तक पश्चिम को कुछ देने का प्रश्न है, राय लिखते हैं, क्रिश्चियनिटी में सब कुछ है - अध्यात्म, नैतिकता, कष्ट-सहन - अतः फूहड़ भौतिकवादी बीमारी का इलाज ढूँढना है तो पश्चिम उसका इलाज स्वयं ही ढूँढ सकता है। उसे पूर्व से आध्यात्मिक संदेश लेने की जरुरत नहीं। अंत में वे कहते हैं कि भारत का यह दुर्भाग्य रहा है कि मृत आध्यात्मवादी दंभ में वह बहुत लंबे समय तक लिपटा रहा है। यदि वह चाहता है कि वह भी मनुष्यता की प्रगति की दौड़ में शामिल हो तो उसे उस अंधकार से निकलना होगा। आज दुनिया को उसके रहस्यवादी, सर्वेश्वरवादी, आध्यात्मवादी संदेश की जरुरत नहीं है। पश्चिमी सभ्यता भौतिकवादी आनंद का उपभोग कर चुकी है और अंत में उसने श्रेष्ठतम् उपलब्धियाँ प्राप्त की है। भारत को खुद अपनी प्राचीन संस्कृति का सही संदेश सीखना चाहिए - अपने रहस्यमय दर्शन के सही आकलन के माने हैं : उसमें निहित भौतिकवादी बीज को अंकुरण देना। अपनी प्राचीन संस्कृति से प्रेरणा पाने के लिए भारत को इसके सार्थक नतीजों को समझना एवं सीखना होगा - धार्मिक सोच को खत्म कर वैज्ञानिक ज्ञान को अर्जित करने की प्रेरणा लेना - प्राचीन संस्कृति का सर्वोच्च आकलन कर यह पता लगाना होगा कि वह अध्यात्मवाद के दुराचार से निकलने में कैसे मदद करे जिससे वास्तविक आजादी की ओर जाने का मार्ग प्रशस्त हो।[२४]

राय के उपरोक्त विचारों से स्पष्ट है कि उनका भौतिकवाद अध्यात्मवाद का महज मल्लयुद्ध नहीं था। तार्किक रूप से किसी भी प्रकार से अध्यात्मवाद को पछाड़ना उनका उद्देश्य नहीं था। अवश्य ही चार्वाकों के समान वे ईश्वर, आत्मा और पुर्नजन्म को नहीं मानते थे । चार्वाकी-स्वर में वे भी कहते थे कि एक वर्ग ऐसे विचारों को

जानबूझ कर फैलाता है ताकि आदमी भाग्यवादी बने और अपने दिए हुए स्थान पर चुपचाप कार्यरत रहे। चार्वाकों के समान वे भी शारीरिक सुख को बुरा नहीं कहते किन्तु तथाकथित अध्यात्मवाद की तुलना में उनके नैतिक आदर्श कहीं कम नहीं थे। तत्त्कालीन भारतीय समाज का गहन अध्ययन करके उन्होंने निष्कर्ष निकाला, जैसा कि हमने प्रारंभ में उल्लेख किया है, कि भारतीय जीवन की ग्रन्थियों की सड़न के लिए अध्यात्मवाद ही दोषी है। अत: भौतिकवादी होते हुए भी वे अध्यात्मवाद से बढ़कर आदर्श मनुष्य के सामने रखना चाहते थे। वे अपने भौतिकवाद को व्यावहारिक आदर्शवाद कहते थे। ऐसे दर्शन को ही वे सच्चा अध्यात्मवाद कहते थे क्योंकि इसका उद्देश्य ऐसे संसार का निर्माण करना है जिसमें मनुष्य के समकक्ष विचार और प्रकृति की अनंत संभावनायें हो तथा जिसमें मनुष्य स्वतंत्र, सुखी एवं समृद्ध जीवन जी सके। राय धर्म का बंधन हटाने के लिए, इसलिए परामर्श नहीं देते हैं कि हम मनमाना जीवन जी सकें अर्थात् चार्वाकी जीवन पद्धति अपनाएँ, बल्कि इसलिए देते हैं ताकि उससे (धर्म से) उन्मुक्त होकर मानव अपने पैरों पर खड़ा हो सके। अपने भीतर निहित अनंत संभावनाओं, जिसका कोई तत्वमीमांसीय रहस्य नहीं है, के बोध से मनुष्य अपने भाग्य का निर्माण कर सकता है – एक स्वतंत्र संसार के निर्माण में योगदान दे सकता है। इस तरह राय की दृष्टि में भौतिकवाद ही सच्चा अध्यात्मवादी दर्शन है। धर्म निकृष्टतम् अर्थों में भौतिकवाद है।[२५]

अपनी नैतिक निष्ठा के कारण राय का दर्शन मार्क्सवाद से भी ऊपर उठ जाता है जहाँ मनुष्य केवल एक स्वार्थी प्राणी है, आर्थिक प्राणी है। स्टालिन को लिखे अपने एक पत्र में मार्क्सवाद-साम्यवाद से असहमति जताते हुए राय ने लिखा कि मैं इस विचार से समझौता नहीं कर सकता कि क्रांतिकारी सद्गुणों की सूची में सत्य, ईमानदारी और निष्ठा जैसे गुणों का कोई स्थान नहीं है।[२६]

अत:, निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि राय भौतिकवादी होते हुए भी सच्चे आदर्शवाद का प्रसार करते हैं । अंत में, आलेख का समापन करते हुए, मैं कुछ बातें राय के दर्शन के संबंध में और कहना चाहूँगी । भारतीय समाज की अवनति में धर्म और अध्यात्म की भूमिका को लेकर राय की चिंता और पीड़ा बड़ी मार्मिक है। राय को गुज़रे आज करीब अर्ध-शताब्दी होने जा रही है किन्तु आज भी, स्वतंत्रता की स्वर्ण जयन्ती के बाद भी, हमारी स्थिति अनेक विकसित देशों की तुलना में अपनी गरीबी, अशिक्षा, बेरोजगारी, बीमारी को देखते हुए शर्मनाक है। एक ओर हम अपने आध्यात्मिक मूल्यों की दुहाई देते हैं और दूसरी ओर दलितों, स्त्रियों एवं बच्चों का शोषण करने में सबसे आगे रहते हैं। आँकड़े बताते हैं कि अंध, अपाहिज, कोढ़ी तथा और भी

अनेक बीमारियों से ग्रस्त लोग भारत में ही सबसे ज्यादा हैं। निरक्षता का ग्राफ भी हमारे देश में कम ऊँचा नहीं है। और हर तरह के भ्रष्टाचार में तो हम संभवत: सबसे आगे हैं - इस तथ्य को भी ध्यान में रखना होगा कि आज धार्मिक स्थलों में जाने वालों की संख्या, धार्मिक स्थलों के लिए मर-मिटने वालों की संख्या, हमारे देश में तुलनात्मक रूप से कहीं अधिक बढ़ी है। अत:, निश्चय ही राय का दर्शन आज हमारे लिए अत्यन्त प्रासंगिक है। फिर भी एक प्रश्न उठता है : क्या इन सब दोषों का कारण हमारा आध्यात्मिक दर्शन, हमारे प्राचीन आध्यात्मिक मूल्य और हमारा सनातन धर्म और हमारे आध्यात्मिक गुरू ही हैं ? मुझे लगता है कि इनमें कुछ दोष अवश्य हैं किन्तु इनकी कठोर आलोचना में राय कुछ ज्यादा ही मुखर हुए हैं । गाँधी, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, श्री अरबिंद आदि की शिक्षा के प्रसार का कुछ गलत नतीजा निकल सकता है किन्तु इन्हें विभ्रमग्रस्त कहना, एक तरह से पागल करार करना, उचित नहीं लगता है। मनुष्य केवल भौतिक स्तर पर नहीं जीता है - एक सीमा के बाद भौतिक सुख दु:खदायी होते हैं - स्वयं व्यक्ति के लिए, समाज के लिए और सारी पृथ्वी के लिये, जिसके प्रति आज पर्यावरणविद् अत्यन्त चिंतित हैं। ऐसे में संतोष, अलोभ, धैर्य आदि सद्गुणों का मूल्य अपने आप निर्धारित होता है। राय इनकी आलोचना में इतने आगे बढ़ जाते हैं कि *मनुस्मृति* के धर्म के दस लक्षण धृति, क्षमा, आदि को सद्गुणों की भयंकर सूची-पत्र कह बैठते हैं - इन्हें वे संभ्रान्त लोगों के लिये बिना श्रम के पालन करने लायक तथा फायदेमंद बताते हैं जबकि सर्वहारा वर्ग के लिये हानिकारक बताते हैं। किन्तु वर्ग के दायरे से उठकर संपूर्ण मानव जाति के हित के प्रसंग में देखें तो इनके महत्व को क्या किसी प्रकार खारिज किया जा सकता है ?

इस संदर्भ में मेरा विचार है कि अध्यात्मवाद को पूरी तरह खारिज किये बिना भी हम मानववादी बने रह सकते हैं। ऐसे आदर्शों पर चल सकते हैं जिन्हें राय मनुष्य के लिए, संपूर्ण मानव-समाज के लिए, कल्याणकारी बतलाते हैं।

सन्दर्भ-ग्रंथ और टिप्पणियाँ

१. *डी.पी. वर्मा, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन, पृ. ७९४ ।*
२. *एम.एन. राय, मैटेरियलिज्म, पृ. ५ ।*
३. *वही, अध्याय २,३ और ४ ।*
४. *वही, पृ. ९४ ।*
५. *जे.एल. नेहरु, भारत की खोज, पृ. ८६ ।*
६. *एम.एन. राय, फ्रैग्मेन्ट्स ऑफ ए प्रिजनर्स डायरी, खण्ड १, पृ. ६५ ।*
७. *वही, पृ. ६६ ।*
८. *वही, पृ. ६९ ।*
९. *एम.एन. राय, मैटेरियलिज्म, पृ. २३४ ।*

१०. डी.पी. चट्टोपाध्याय, दर्शनशास्त्र और भविष्य, पृ. ९५-९६ ।
११. डी.पी. वर्मा, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन, पृ. ५.५ ।
१२. एम.एन. राय, मैटेरियलिज्म, पृ. ५ ।
१३. एम.एन. राय, साइन्टिफिक पॉलिटिक्स, पृ. ३५ ।
१४. डी.डी. बंदिष्टे, नवमानववाद, पृ. ३२ ।
१५. वही, ३५ ।
१६. स्प्रैट फिलिप, एम.एन. राय; साम्यवाद के पार, पृ. ४८ ।
१७. वही, पृ. ५. ।
१८. एम.एन. राय, साइन्स एंड फिलॉसोफी, ११४ ।
१९. एम.एन. राय, मैटेरियलिज्म, पृ. २८ ।
२०. एम.एन. राय, हमारा सांस्कृतिक दर्प, पृ. ३४-३५ ।
२१. एम.एन. राय, फ्रेग्मेन्ट्स ऑफ ए प्रिजनर्स डायरी, भाग २, पृ. ६ ।
२२. वही, पृ. ५२ ।
२३. वही, पृ. १११ ।
२४. एम.एन. राय, हमारा सांस्कृतिक दर्प, पृ. १२४-१४२ ।
२५. एम.एन. राय, मैटेरियलिज्म, पृ. २४ ।
२६. एम.एन. राय, रीजन, रोमांटीसिज्म एंड रिवोल्यूशनिज्म, खंड २, पृ. २९. ।

लेखकों का परिचय

प्रो. समदोंग रिनपोछे – पूर्व निदेशक, केन्द्रीय तिब्बती उच्च शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी, वर्तमान : प्रधानमंत्री (कलेन ट्रीपा) केन्द्रीय तिब्बत सरकार, धर्मशाला, हिमाचल प्रदेश, १७६२१५, फोन : ०१८९२-२२२२१८ ।

प्रो.दया कृष्ण – अवकाश प्राप्त, अध्यक्ष, दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, वर्तमान : सं. *जर्नल ऑफ इण्डियन कौंसिल ऑफ फिलॉसोफिकल रिसर्च,* पता : ओ.-११९, चौथी मंजिल, एच.डी.एफ.सी. इन्क्लेव, अशोक मार्ग, सी. स्कीम, जयपुर - ३०२००१, फोन : ०१४१-२७०७८५७ ।

प्रो.अरविन्द कुमार राय – दर्शन और धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

प्रो.मोरेश्वर प्रसाद मराठे – अवकाश प्राप्त, अध्यक्ष, दर्शन विभाग, पूना विश्वविद्यालय, पूना, पता : ३०१ शतायु भवन, ४४ विद्यानगरी, पूना - ४११००९, फोन : ०२०-४२२४२७५, आलेख प्रस्तुति : राजगृह, १९९२ ।

प्रो.अशोक कुमार वर्मा – अवकाश प्राप्त, अध्यक्ष, दर्शन विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना, पता : १/सी. राजेन्द्र नगर, पटना - ८०००१६, फोन : ०६१२-२६५२८०३।

श्री यशदेव शल्य – संस्थापक, अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, वर्तमान : सं. उन्मीलन, जयपुर, पता : पी-५१, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयुपर - ३०२०१५, फोन : ०१४१-२७०७४९३, आलेख प्रस्तुति : अहमदाबाद, १९८० (फरवरी) ।

स्व.प्रो.रेवतीरमण पाण्डेय – पूर्व कुलपति, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर, आलेख प्रस्तुति : बड़ौदा, १९८८।

डॉ.अंबिकादत्त शर्मा – रीडर, दर्शन विभाग, डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, मध्य प्रदेश, पता : बी.डी.एस.-२, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर - ४७०००३, फोन : ०७५८२-२६४५८७, आलेख प्रस्तुति : धर्मशाला, २००२ ।

डॉ.रजनीश कुमार शुक्ल – रीडर, तुलनात्मक दर्शन, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, पता : हाल, प्राचीन अध्यापकावास, सम्पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी - २२१००२, फोन : ०५४२-२२०७६२२, आलेख प्रस्तुति : लोनावाला, २००३ ।

प्रो.सजीवन प्रसाद – अवकाश प्राप्त, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया, एवं प्रधानाचार्य, किसान कॉलेज सोहसराम, नालंदा, पता : संजीव-कमल कुंज, आर.पी.एस. मोड़, रंजन यादव पथ, दानापुर, पटना – ८०१५०३, फोन : ०६११५-२३५०६७, आलेख प्रस्तुति: पचमढ़ी, १९९४ ।

प्रो.धर्मेन्द्र गोयल – अवकाश प्राप्त, अध्यक्ष, दर्शन विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ, पता : ३८-ए, स्वास्तिक विहार, पंचकूला-१३४१०९, हरियाणा, फोन : ०१७२- २५५६९६५, २५५७१२६, आलेख प्रस्तुति : जम्मू, १९८१ ।

स्व.प्रो.रामचन्द्र दत्तात्रेय राणाडे – पूर्व अध्यक्ष, दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

प्रो.विमलेन्दु नारायण सिंह – अवकाश प्राप्त, अध्यक्ष, दर्शन विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया, बिहार, पता : क्यू/१३३, विकासपुरी, पुलिस लाइन रोड, गया, बिहार, फोन : ०६३१-२२२२८५४, आलेख प्रस्तुति : वाराणसी, १९९० ।

प्रो.नित्यानन्द मिश्र – अवकाश प्राप्त, अध्यक्ष, दर्शन विभाग, टी. एम. भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर, बिहार, पता : मु. तिलका मांझी, भागलपुर, बिहार, फोन : ०६४१-२६१०३४८, आलेख प्रस्तुति : हरिद्वार, १९८५ ।

डॉ भगवन्त सिंह – रीडर, दर्शन अध्ययनशाला, पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय, रायपुर, पता : रघुकुल-२७१-बी., पं. दीनदयाल उपाध्याय नगर, डगनिया, पो. पं. रवि शंकर विश्वविद्यालय, रायपुर – ४९२०१०, फोन : ०७७१-२२६२३३६, आलेख प्रस्तुति : हरिद्वार, १९९८ ।

डॉ.विजयकान्त दुबे – रीडर, दर्शन विभाग, शासकीय काशीनरेश महाविद्यालय, ज्ञानपुर, संत रविदास नगर, उ.प्र., पता : १, न्यु प्रोफेसर्स कॉलोनी, हॉस्टेल कैम्पस, ज्ञानपुर, संत रविदास नगर, भदोही – २२१३०४, फोन : ०५४१४-२५०५०५, आलेख प्रस्तुति : सागर, २००१ ।

डॉ.गोरखनाथ मिश्र – अवकाश प्राप्त, अध्यक्ष, दर्शन विभाग, चेम्पे महाविद्यालय, गोवा विश्वविद्यालय, पणजी, गोवा, पता : २२ अभिनव हाऊसिंग कॉम्प्लेक्स, अल्वोपखारिम, गोवा – ४०३५२१, फोन : ०८३२-२४१५३२७, आलेख प्रस्तुति : जोधपुर, १९८६ ।

प्रो.रघुनाथ गिरि – अवकाश प्राप्त, अध्यक्ष, दर्शन विभाग, काशीविद्यापीठ, वाराणसी, पता : बी-३७/१६५-ए, गिरिनगर, विरदोपुर, वाराणसी – २२१०१०, फोन : ०५४२- २३६०१३२, आलेख प्रस्तुति : बरेली, १९९१ ।

प्रो.हृदय नारायण मिश्र – अवकाश प्राप्त, अध्यक्ष, दर्शन विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर, म.प्र., पता : डी/६२, सेक्टर : जी, अलीगंज, लखनऊ, फोन : ०५२२-२३७११४३, आलेख प्रस्तुति : शांतिनिकेतन, १९९६ ।

प्रो.सागरमल जैन – निदेशक, प्राच्य विद्यापीठ, दुपाडा रोड, शाजापुर, म.प्र. - ४६५००१, आलेख प्रस्तुति : मुरादाबाद, १९८७ ।

डॉ.गीता मेहता – अध्यक्ष, दर्शन विभाग, महर्षि दयानन्द महाविद्यालय, मुम्बई, पता : १०१-ए, आनन्द भुवन, विट्ठलभाई पटेल मार्ग, मुम्बई - ४००००४, फोन : ०२२-२३८२१६९३, आलेख प्रस्तुति : हजारीबाग, २००० ।

डॉ.शोभा निगम – अध्यक्ष, दर्शन विभाग, शासकीय छत्तीसगढ़ महाविद्यालय, रायपुर, आलेख प्रस्तुति : नान्देड़, १९९९ ।